ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–सप्तम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

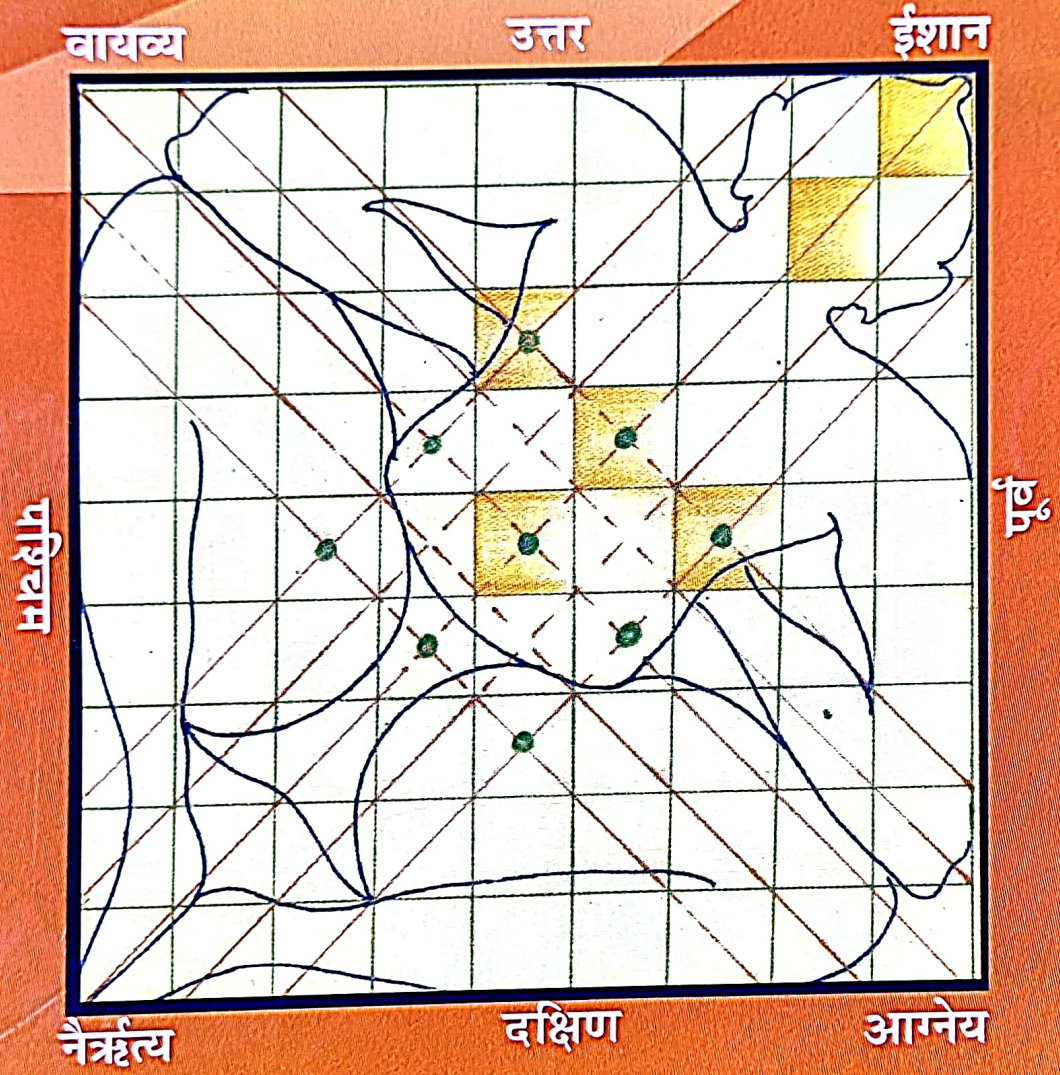

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली–110016

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–सप्तम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

प्रधान सम्पादक

श्री सुखवीर सिंह सन्धू (आई. ए. एस.)

कुलपति

सम्पादक

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी

आचार्य एवं अध्यक्ष

M.Katyayana

वास्तुशास्त्र विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

(मानित विश्वविद्यालय)

नव देहली-११००१६

प्रकाशक-
वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
वुफतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-११००१६

ISSN :- 0976-4321

© प्रकाशक

संस्करण - २०१४

मूल्य २००/-

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है।

मुद्रक:
अमर प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली-११०००९
९८७१६९९५६५, ८८०२४५१२०८

पुरोवाक्

भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन एवं पूर्णतः बैज्ञानिक है। इसका एक मात्र उद्देश्य मानव कल्याण एवं दीन दुःखियों का उपकार करना है। इस संस्कृति ने आदि काल से ही मानव ही नहीं अपितु प्राणी मात्र के उत्थान के लिए सदा प्रयत्न किया है। किसी भी संस्कृति के दो पक्ष कहे जा सकते हैं अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। भारतीय मनीषा ने संस्कृति के अन्तर्मुखी पक्ष का चुनाव कर समस्त सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष का चिन्तन किया है। अन्तर्मुखी पक्ष ही भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है, इसी से यह संस्कृति अत्यधिक प्राणवान् बनती है। यह वैशिष्ट्य ही भारतीय संस्कृति की आत्मा है। भारतीय संस्कृति का यह अन्तर्मुखी पक्ष ही दो मानवों के बीच के अन्तर को समाप्त करता है। भारतीय दर्शन के अनुसार सभी प्राणियों में एक ही चैतन्य निवास करता है। अतः हम सभी एक ही परिवार के सदस्य हैं- **वसुधैव कुटुम्बकम्**। भारतीय आचार्यों का एक मात्र उद्देश्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के उद्घोष के साथ जगत् कल्याण रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति में उदात्त भावना से परिपूर्ण आचार्यों ने सदा एक ही कामना की है कि सभी सुखी एवं निरोग रहैं, सभी शुभ दृष्टिपूर्वक सबको देखैं, किसी को भी किसी प्रकार का कोई दुःख न हो। यथा-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

इसी धेय के अनुरूप वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम अथर्ववेद के उपवेद स्थापत्य वेद की स्थापना की है। संसार की कोई भी स्थापना आदिदैविक भावना से नहीं की जाती है जबकि भारतीय चिन्तन की दृष्टि से यहाँ कोई स्थापना मात्र भौतिक नहीं हो सकती है। कोई भी भौतिक स्थापना विना आदिदैविक एवं आध्यात्मिक भावना के भारतीय परिपेक्ष में उपयोगी नहीं हो सकती है। भारतीय स्थापना सदा भारतीय दर्शन से अनुप्राणित रही है। भारतीय चिन्तकों एवं ऋषियों का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि विना दर्शन के अनुप्राणित

विद्या, कला एवं विज्ञान अधिक समय तक प्राणियों के उपकार के लिए नहीं रह पायेगा अपितु स्वतः ही अपनी भस्मासुरी प्रवृति के कारण नष्ट हो जायेगा। ऋग्वेद के एक वर्णन में वास्तोष्पति से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे वास्तोष्पते! तुम हमको समझों, हमारे घर को निरोग करने वाले होवो, जो धन हम तुमसे मांगे, हमें दे दो, हमारे द्विपद् एवं चतुष्पदों के लिए कल्याण कारी होवो। यथा-

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

-ऋग्वेद 7/54/01

भारतीय वास्तु भौतिकदृढ़ता, आध्यात्मिकता, आदिदैविकता, वास्तुपुरुष परिकल्पना से अनुप्राणित दर्शन, जीवनमूल्य परक शिक्षा, मनोरंजनपरकव्याख्यान, आलंकरिक सुशोभित निर्माण, मनुष्य,पशु एवं पक्षियों के आरामदेय आवास विन्यास, धार्मिकवास्तु की भव्यता, सुदृढ़निर्माण परिकल्पना आदि से परिपुष्ट है। भारतीय वास्तु में गृह, ग्राम, खेट, कर्वट, नगर, पुर, राजप्रासाद, देवप्रासाद, दुर्ग, राजधानी, उद्यान, राजमार्ग, मार्ग, रथ्या, विथि, सेतु, गोपुर, परकोटा, नाली, बॉध एवं प्रकाश के विन्यास की एक अच्छी विधि एवं योजना मिलती है। निर्माण के पूर्व स्थल चयन, मृत्तिका परीक्षण, प्रयोजना परिकल्पना एवं देशानुरूप दिक् एवं काल की व्यवस्था भी उपलब्ध होती है। किसी भी निर्माण की बाह्य सुन्दरता को ध्यान में रखते हुए उसके शिल्प विधान की सुदृढ़ व्यवस्था दी गयी है। उसी प्रकार अन्तःसज्जा में चित्र परिकल्पना एवं काष्ठकर्म विन्यास का सम्यक् विचार किया गया है। भारतीय वास्तु स्थापत्य के सम्बन्ध में सर्वांगीण चिन्तन करता है जबकि पाश्चात्य वास्तुशास्त्र एकांगी चिन्तन करता है। जैसे यूनान ने सुन्दर संरचना (Refined Perfection), रोम ने वैज्ञानिक निर्माण (Scientific construction), इटली ने विद्वता की छाप (Scholarship of theAge), फ्रांस ने अभिव्यक्ति की ललक (Passionate energy) पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। इन सभी के मिश्रण के साथ वास्तु पुरुष जैसी आदिदैविक भावना ने भारतीय वास्तु को जीवन्त रूप दिया है।

भारतीय वास्तुशास्त्र की एक सुदृढ़ एवं वैज्ञानिक परम्परा है। आज समाज में इस शास्त्र की सर्वाधिक चर्चा होती है परन्तु सम्यक् शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में समाज कुछ दिग्भ्रमित सा लगता है। यदि आज इस शास्त्र के शास्त्रीय ज्ञान एवं परम्परा से लोगों को

अवगत किया जाय तो इस शास्त्र के जिज्ञासुओं एवं अनुरागियों को सर्वाधिक लाभ होगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति तथा इस शास्त्र के जनोपयोगी एवं व्यवहारिक होने के कारण विद्यापीठ इस शास्त्र के अध्ययन एवं अध्यापन में संलग्न है। इसी के प्रतिफल के रूप में इस **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'सप्तम पुष्प' को वास्तुशास्त्र के विभागाध्यक्ष प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी ने विभिन्न शोध लेखों से सुसज्जित किया है। यह इनके निरन्तर कार्य करने का ही परिणाम है अत: मैं इन्हैं हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

यह विषय जितना लोकप्रिय है उतना ही शास्त्रीय भी है। इस शास्त्र के गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को जन-जन तक पहूँचाने और प्रचलित भ्रान्त धारणाओं के निराकरण में किया जाने वाला यह कार्य एक स्वच्छ एवं सुदृढ़ भूमिका का निर्वहन कर रहा है। मैं विभागीय सभी विद्वज्जनों को धन्यवाद देते हुए इस **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'सप्तम पुष्प' को वास्तुशास्त्र के अध्ययनशील जिज्ञासुओं एवं प्रेमियों के अध्ययनार्थ समर्पित करते हुए हर्ष एवं गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा,वि.सं.2071 श्री सुखवीर सिंह सन्धू (आई. ए. एस.)
दिनांक 06.12.2014 कुलपति

सम्पादकीय

वास्तुशास्त्र मानव जीवन का सर्वाधिक उपयोगी और व्यवहारिक शास्त्र है। वास्तु शब्द उपयुक्त निवास स्थान, भूखण्ड एवं नैसर्गिक व कृत्रिम गृह का द्योतक है। जहाँ प्राणियों का निवास होता है उसे ही वास्तु कहा जाता है। यह शब्द 'वस्' निवासे धातु में'तुण्' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। वेदों में सुवास्तु[1] शब्द शोभन गृह के अर्थ में तथा अवास्तु[2] शब्द गृह के अभाव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ मिलता है। यजुर्वेदीय संहिताओं में वास्तुपद का अर्थ यज्ञ वास्तु है।[3] सूत्रग्रन्थों में वास्तु पद का अर्थ आवास है।[4] इस प्रकार वैदिक साहित्य में वास्तु पद के विविध अर्थ प्राप्त होते हैं। वैदिकोत्तर काल में रचित वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों में भी वास्तु के अनेक भेद उपलब्ध होते हैं। यथा - गृह, देवालय, ग्राम, पुर, नगर आदि। वाल्मीकि रामायण[5] एवं महाभारत[6] में वास्तु शब्द भवन निर्माण का बोधक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गृह, क्षेत्र, आराम, सेतुबन्ध, तड़ाग एवं समस्त निर्माण की आधार भूमि का द्योतक है।[7] मय ने कहा है कि जहाँ देव और मनुष्य निवास करते हैं उसे ही वास्तु कहा जाता है।[8]

मय ने वास्तु के चार भेद कहे हैं। वे चार भेद है- भूमि, प्रासाद, यान एवं शयन।[9] मय ने इन चार भेदों में से सर्वाधिक विचार भवन- प्रासाद आदि निर्माण के लिये भूमि का परीक्षण वर्ण (रंग), गन्ध, रस (स्वाद), आकृति, दिशा, शब्द एवं स्पर्श से करने की

---

1. ऋग्वेद 8/19/36
2. अथर्ववेद 12/7/7
3. मैत्रयणी संहिता 1/5/113, तैत्तिरीय संहिता 3/1/10/3, वाजसनेयी. 16/39
4. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 6/28/6, पारस्कर गृहसूत्र 3/48
5. वाल्मीकि रामायण 1,23,33,56
6. महाभारत 2.18
7. अर्थशास्त्र 3.8.2
8. अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि। तद् वस्त्विति मतं तंज्ञैस्तद्भेदं च वदाम्यहम् ।।-मयमतम् 2/1
9. भूमि प्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम् ।
   भूरेव मुख्यवस्तु स्यात्तत्र जातानि यानि हि ।।-मयमतम् 2/2

आवश्यकता पर बल दिया है। मय ने ब्राह्मणादि वर्ण के द्वारा भूमि का वर्णन करते हुए भूमि को गौण एवं अंगी (प्रधान) कह कर दो भागों में विभक्त किया है।[1] ग्राम आदि की भूमि गौण और सभागार, शाला, प्रपा (प्याउ), रंगमण्डप एवं मन्दिर की भूमि अंगी (प्रधान) कही गयी है।[2] शिबिका (पालिका, डोली), गिल्लिका, रथ, स्यन्दन (जल्दी ले जाने वाला रथ), आनीक को यान कहा गया है। शयन के अन्तर्गत मंच (सिंहासन), मंचिलिका (दीवान), काष्ठ (लकड़ी की वस्तुए), पंजर (पिंजड़ा), फलकासन (बेंच), पर्यंक (पलंग), बालपर्यंक आदि ग्रहण किये जाते हैं।[3] मानसार के अनुसार पृथिवी, भवन, यान एवं पर्यंक को वास्तु कहा गया है।।[4] समरांगणसूत्रधार के अनुसार देश, पुर, निवास, सभा तथा वेश्मासन सभी वास्तु के अन्तर्गत ही परिगणित होते हैं।[5]

विश्वकर्मा के अनुसार देवों, मनुष्यों एवं गज आदि पशुओं की निवास भूमि व भवन निर्माण में प्रयुक्त होने वाली इष्टिका शीला आदि सभी वस्तुओं को वास्तु ही संज्ञा दी जाती है।[6]

---

1. या सा भूमिरिति ख्याता वर्णानां व विशेषतः ।
   द्विविधं तत् समुद्दिष्टं गौणमंगीत्यनुक्रमात्।। –मयमतम् 2/5
2. ग्रामादीन्येव गौणानि भवन्त्यंगी मही मता ।
   सभा शाला प्रपा रंगमण्डपं मन्दिरं तथा।।–मयमतम् 2/6
3. प्रासाद इति विख्यातं शिबिका गिल्लिका रथम्।
   स्यन्दनं चैवमानीकं यानमित्युच्यते बुधैः ।।
   मंचं मंचिलिकां काष्ठं पंजरं फलकासनम् ।
   पर्यंकं बालपर्यंकं शयनं चैवमादिकम् ।। –मयमतम् 2/6
4. धराहर्म्यादि यानं च पर्यंकादि चतुविधम् ।
   धरा प्रधानवस्तु स्यात्तत्तज्जातिषु सर्वशः ।। –मानसार 3/2
   तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते ।। –समरांगणसूत्रधार 1/4-5
5. देशः पुरं निवासश्च सभा वेश्मासनानि च ।
   यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम् ।।
   वास्तुशास्त्रदृते तस्य न स्याल्लक्षणनि
6. देवतानां नराणां च गजगोवाजिनामपि ।
   निवास- भूमिश्शिल्पज्ञैर्वास्तु- संज्ञमितीर्यते ।।
   वास्तुभूर्विविधा ख्याता स्थलभेदात्क्वचित्क्वचित्।
   इष्टिका च शिला दारुरयः कीलादयोऽप्यमी।
   वास्तुकर्मणि चान्यत्र वास्तुसंज्ञमुदीरितम् ।। –विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् 7/1-61

विश्वकर्मा ने वास्तुशास्त्र के अनेक भेद कहे हैं। शिल्पशास्त्र की प्रशंसा करते हुये वास्तु के शिल्पगत भेदों में ग्राम, पुरी, खेट, कर्वट, दुर्ग, प्रासाद, हर्म्य, न्यायशाला, सभा, कोशागार, अन्तःपुर, शस्त्रागार, क्रीडागृह, क्रीडास्थल, तोरण, मंजिक, अधिष्ठान, उपपीठ, गोपुर, संकीर्णभवन, पताका, पारिपद्रक, चतुवर्णगृह, वेदिका, स्तम्भ, मण्डप, विमान एवं प्राकार आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

मय के अनुसार इन चार भेदों में से भूमि ही मुख्य रूप में वास्तु है और प्रासादादि भेद तो भूमि में निर्मित होने के कारण ही वास्तु कहे जाते हैं। इसी लिए आचार्यों ने इन सभी भेदों को वास्तु की संज्ञा दी है।।[1]

मानसार ने भी **'धरा प्रधानवस्तु स्यात्'**[2] कह कर भूमि को ही प्रधानता दी है। अन्य वास्तुशास्त्र के प्रधान आचार्यो ने भी अपने मानक ग्रन्थों में भूमि के गुणदोषों की ही विवेचना सर्वप्रथम की है। वास्तु के सभी भेदों में से सर्वाधिक विचार भूमि का ही करना चाहिए क्यों कि भूमि के ही आश्रित समग्र निर्माण सम्पन्न होते हैं। निर्माण के स्थायित्व को बनाये रखने के लिये सर्वाधिक परीक्षा भूमि की ही करनी चाहिए। प्राचीन आचार्यों ने भूपरीक्षण के कई प्रकार कहे है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश के सन्तुलन को बनाये रखने के लिए आचार्यों ने इन्हीं की तन्मात्रओं शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के द्वारा भूमि के शुभाशुभत्व के परीक्षण का सर्वाधिक सरल और सटीक प्रयास किया है।।[3] आधुनिक वैज्ञानिक भी निर्माण के पूर्व भूमि का ही परीक्षण करके निर्माण योजना को अन्तिम रूप देते हैं परन्तु आज के भौतिकवादि अर्थ लोलुप वास्तुशास्त्री सर्वाधिक विचार दिशा का करते हैं। मात्र दिशा का विचार करने के कारण आज आपणीय वास्तुशास्त्र दिग्भ्रमित हो रहा है। आज वास्तुशास्त्र को भ्रमात्मक स्थिति से बाहर लाने के लिए वास्तुशास्त्र के शास्त्रीय पक्ष के अध्ययन की सर्वाधिक आवश्यकता है।

वास्तुशास्त्र की एक विस्तृत शास्त्रीय परम्परा एवं वर्तमान में इसके स्वरूप व लोगों की इस शास्त्र के प्रति रुचि को देखते हुए हमारे यशस्वी पूर्वकुलपति स्वर्गीय प्रो.

---

1. प्रासादादीनि वास्तूनि वस्तुत्वाद् वस्तुसंश्रयात् ।
   वस्तून्येव हि तान्येव प्रोक्तान्यस्मिन् पुरातनैः ।। - मयमतम् 2/2
2. मानसार 3/2
3. वर्णगन्धरसाकारदिक्शब्दस्पर्शनैरपि।
   परीक्ष्यैव यथा योग्यं गृहीतावधिनिश्चिता ।।-मयमतम् 2/4

वाचस्पति उपाध्याय जी ने जुलाई 2004 में पूर्व संकाय प्रमुख एवं ज्योतिष विभागाध्यक्ष स्वर्गीय प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के सहयोग से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत इन्नोवेटिव प्रोग्राम के अन्तर्गत विद्यापीठ ने इस विषय का पठन पाठन प्रारम्भ किया। जो सम्प्रति सफलता पूर्वक चल रहा है।

एतदर्थ सर्वप्रथम मैं संस्कृत जगत के उन्नायक परमश्रद्धेय पूर्वकुलपति स्वर्गीय प्रो0 वाचस्पति उपाध्याय जी को प्रणाम करते हुए श्रद्धांजली अर्पित करता हूँ। जिनकी सतत प्रेरणा से यह योजना अपने उद्देश्य में सफल रही। इस योजना को कार्य रूप में परिणित करने एवं सम्यक् दिशा निर्देशन के लिए स्वर्गीय प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए श्रद्धांजली अर्पित करता हूँ। आज वास्तुशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन निर्वाध गति से चल रहा है यह एक मात्र इन्हीं दोनों महामनीषियों की देन है।

इस प्रकाशन कार्य में उत्साह वर्धन करने वाले विद्यापीठ के कुशल प्रशासक, यशस्वी कुलसचिव डॉ. विजय कुमार महापात्र जी तथा शोध एवं प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी का सराहनीय योगदान रहा है। अतः मैं इन्हैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए धन्यवाद प्रदान करता हूँ। इस सन्दर्भ में ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष व वेद वेदांग संकाय-प्रमुख प्रो. प्रेमकुमार शर्मा जी व अन्य वास्तु-ज्योतिष विभागीय विद्वान् सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। जिनके सत्परामर्श से **वास्तुशास्त्रविमर्श** 'सप्तम पुष्प' का प्रकाशन हो सका। मुद्रण कार्य के लिए अमर प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगियों को हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ। **शमिति**।

प्रो0 देवीप्रसाद त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष
वास्तुशास्त्रा विभाग

शोध एवं प्रकाशन समिति

1.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
2.	प्रो. प्रेमकुमार शर्मा, ज्योतिषविभागाध्यक्ष	सदस्य
3.	प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी	सदस्य
4.	प्रो. रामदेव झा	सदस्य
5.	डॉ. सुशील कुमार	सदस्य
6.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य

विषयानुक्रमणिका

१.	वैदिकवास्तुस्वरूपम्	**विद्यावाचस्पति डॉ. सुन्दरनारायण झा** सहायकाचार्य, वेद विभाग श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16	१
२.	वास्तुपदविन्यास-एक जीवन्त संकल्पना	**प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र** ज्योतिष विभाग, सं.वि.ध.वि.संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२	१२
३.	स्तम्भन्यास विमर्श	**डॉ. सुधीर कुमार** निदेशक-हरियाणा संस्कृत अकादमी पंचकुला, हरियाणा	३२
४.	वास्तुशास्त्र का एक अद्भुत उदाहरण	**प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी** विभागाध्यक्ष वास्तुशास्त्र, श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली - 16 **श्री प्रवेश व्यास** सहायकाचार्य (अतिथि प्राध्यापक) ज्योतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, त्रिवेणी नगर जयपुर परिसर जयपुर (राजस्थान)	४४
५.	आधुनिक सन्दर्भ में वास्तुशास्त्र का सामाजिक महत्व	**प्रो. भारतभूषण मिश्र** राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर बागसेवनिया, भोपाल, म.प्र.	५७
६.	द्वार निर्णय-वास्तुशास्त्रीय विवेचन	**डॉ. रश्मि चतुर्वेदी** सहायकाचार्य-ज्योतिषविभाग श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16	७०
७.	दक्षिणदिग् द्वार	**डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी** ज्योतिष विभाग, सं.वि.ध.वि.संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२ उ.प्र.	७८

८.	गृह आयु विचार	**डॉ. सुभस्मिता मिश्र** राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर त्रिवेणी नगर, जयपुर, राजस्थान	८८
९.	गृह दोष विचार	**डॉ. शिवाकान्त मिश्र** जगद्गरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान	९५
१०.	गृह जीर्णोद्धार विधि-एक अनुशीलन	**डॉ. अशोक थपलियाल** सहायकाचार्य- ज्योतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर बागसेवनिया भोपाल (मध्य प्रदेश)	१०२
११.	वास्तु पुरुष की अवधारणा एवं वैज्ञानिकता	**डॉ. राजीव कुमार मिश्र** प्राचार्य-श्री सन्त नागपाल संस्कृत महाविद्यालय एवं शोध संस्थान, छत्तरपुर, नई दिल्ली	१०९
१२.	मत्स्य पुराण में वास्तुशास्त्र की अवधारणा	**डॉ. रामेश्वरदयाल शर्मा** सहायकाचार्य (अतिथि प्रध्यापक) ज्योतिष विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान जयपुर परिसर, (राजस्थान)	११६
१३.	काशी के प्रमुख मन्दिरों का वास्तुशास्त्रीय विवेचन	**ब्रजेश कुमार पाण्डेय** शोधछात्र, श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली - 16	१२४
१४.	वास्तुशास्त्र सम्मत प्रतिमा-विज्ञान	**डॉ. सर्वेन्द्र कुमार** सहायकायार्य- संस्कृत विभाग देशबन्धुकालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली - 7	१५०
१५.	वास्तुशास्त्र में देव प्रतिष्ठा	**श्री रविन्द्र उनियाल** शोधछात्र, श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली - 16	१६६
१६.	प्रतिमा निर्माण कला वास्तुशास्त्रीय विवेचन	**योगेन्द्र कुमार शर्मा** शोधछात्र, श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली - 16	१८५
१७.	यज्ञ में ज्यातिषीय तत्व-वास्तु के परिप्रेक्ष्य में	**डॉ. रजनी, कुसुम मौर्या** शोधछात्र- संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली - 07	१९१

M.Katyayana

वैदिकवास्तुस्वरूपम्

विद्यावाचस्पतिः डॉ0 सुन्दरनारायणझाः

भारतीयज्ञानगङ्गोत्त्याः मूलाधारस्वरूपास्सन्ति ऋग्यजुस्सामाथर्वाख्याः वेदाः। वैदिका ऋषयो येषां वैज्ञानिकतत्त्वानां विषये गम्भीरतमं चिन्तनम्मननञ्चाकुर्वस्ते विषया अत्र वैदिकसाहित्ये विस्तृतरूपेण विवेचितास्सन्ति। यथा **वेद** इति पदेन चतसृणां मन्त्रसंहितानां बोधो जायते तथैव वैदिकवाङ्मयमित्येतेन षड्वेदाङ्गब्राह्मणारण्यकोपनिषदितिहासपुराणादीनां समस्तसंस्कृतशास्त्राणामवबोधो जायत एव। वैदिकं वाङ्मयं खलु समुद्रवदपारमगाधञ्चाकाशवत्सर्वव्यापकं कालादिवदविच्छिन्नं सद्राजते। विश्वस्यास्य समस्तमपि वाङ्मयमेतेभ्य एव निःसृतमिति। तेन स्फुटमेतद्यद्वैदिकवाङ्मये विविधज्ञानविज्ञानात्मकाः विषयाः साधु विवेचितास्तेषु वैज्ञानिकविषयेषु प्राणिमात्रेभ्य एकमत्यन्तमुपयुक्तं हितकारकञ्च चिन्तनं वास्तुनिमित्तमिति।

वास्तुशब्दस्य निर्वचनं प्रस्तूयता निर्वचनशास्त्रप्रवक्त्रा वैज्ञानिकान्वेषणशीलवता भगवता यास्काचार्येणोक्तम्- **वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः**[1] इति। पाणिनीयव्याकरणस्य **वस-निवासे**[2] इत्यस्माद्धातोः **वसेस्तुन् वसेर्णिच्च**[3] इत्यनयोः सूत्रयोः **वस्**धातौ तुन्-प्रत्यये कृते सति **वस्तु**शब्दो निष्पद्यते। **वस्**-धातौ णित् प्रत्यये कृते सति णित्वादुपधावृद्धिस्तेन **वास्** शब्दो निष्पन्नो भवति। वास् शब्दे च पुनः तुन्-प्रत्यये कृते सति **'वास्तु'** शब्दो निष्पद्यते। **वस्तु**शब्दे च **णि**त्वात् **वास्तु**रिति शब्दो निष्पद्यते। तस्य च वास्तोः पाता पालयिता वा वास्तोष्पतिरिति वैदिको देवविशेषः। वास्तुशब्दस्यार्थो भवति वासयोग्यं यत्स्थानं तद्वास्त्विति। अस्य वासयोग्यस्य स्थानस्यावश्यकता सर्वेभ्योऽपि देव-दानव-मानव-पशु-पक्षि-कृमि-कीट-पतङ्ग-पिपीलिका-लता-गुल्म-वृक्ष-वनस्पत्यन्नौषध्यादिभ्यो वर्तत एव। यतस्तु यत्र यो वसति तदेव तस्य वास्तुः।

वस्तुतः सर्वेऽपि देवाः प्राणिनश्च कश्मिंश्चिदपि स्थानविशेषे निवसन्ति। यथा वैकुण्ठे विष्णुः, कैलाशे शिवः, स्वर्गे इन्द्रादयो देवाः, पाताले दानवाः, पृथिव्यां गृह-भवन-प्रासाद-आलय-निलय-पुर-वेश्मादिषु च मानवाः, मानवनिर्मितगोष्ठादिषु गवाश्वादयो ग्राम्यपशवः, समुद्रनदीतडागादिषु जलचरजीवाः, वृक्षकोटरेषु नीडेषु वा खगाः, गुहासु गहनवनेषु च सिंहव्याघ्रादयो वनचरा वन्यप्राणिनः, बिलेषु मूषकमण्डूकसर्पपिपीलिकादयो जीवाः, धरणीमाश्रित्य वृक्षवनस्पत्यन्नौषध्यादयो निवसन्ति।

---

1. निरुक्ते-10/2/16
2. भ्वादिगणे- परस्मैपदी, सिद्धान्तकौमुद्याम्
3. उणादिप्रकरणे- सू.-75 तथा 657

वेदेषु वैदिकवाङ्मयेषु च क्वचिदपि कस्यचिदेकस्यैव जातेः व्यक्तेश्च कल्याणार्थं न किमप्युक्तमपितु समस्तसंसारस्य समस्तप्राणिणाञ्च कल्याणाय बहुत्रोक्तमस्ति। यथा- **योगक्षेमो नः कल्पताम्**[1] अत्र **नः** बहुवचनात्मकः शब्दः, यस्यार्थो भवत्यस्माकमिति। एवमेवान्यत्रापि **शं नो देवीः**[2] **स नो वसून्याभर**[3], **शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे**[4], **वयं स्याम पतयो रयीणाम्**[5], इत्यादिषु स्थलेष्वपि बहुवचनस्यैव प्रयोगो वर्तते। तेनेदं स्पष्टं यद्वास्तुप्रयोजनमपि सर्वेभ्य एव प्राणिभ्यो वर्णितम्, तथाप्यधुना सर्वप्राणिषु मानवस्योत्कृष्टत्वं सर्वविधज्ञानविज्ञानशीलत्वं, सुखसमृद्ध्यर्थं सततपरिश्रमशीलत्वमवलोक्य च तेभ्य एव विशेषरूपेण वास्तुप्रयोजनं शास्त्रेषु निर्दिष्टम्। यतः सुखर्द्धि-सन्तति-धनानि च सर्वदा सर्वेषां नृणां प्रियाणि भवन्ति। तैत्तिरीयसंहितायामुक्तं यत्- **बहिः प्राणो वै मनुष्य**[6] इति। अर्थान्मानवाः बाह्यसुखमवलोक्य तत्प्राप्तुं सततं यत्नशीला भवन्ति। बाह्यसुखेषु भोजनं वस्त्रमावासश्च मुख्यरूपेण मनुष्येभ्यः कल्पिताः। मनुष्याणां कृते यावन्त्योऽप्यावश्यकताः सन्ति निर्दिष्टास्तास्वावश्यकतासु एतास्तिस्रो मुख्याः। आसु तिसृष्वावश्यकतास्वपि आद्ये द्वे आवश्यकते भोजनवस्त्ररूपे तदैव सम्पूर्णे भवतः यदाऽन्तिमा आवासजन्याऽऽवश्यकता पूर्णा भवति। यत आवासस्थानं विना भोज्यवस्तूनां परिधानानाञ्च रक्षणमसम्भवम्। तस्मात्तयोरभिवृद्ध्यर्थमन्तिमाऽऽवश्यकता खल्वावासरूपाऽत्यन्तमहत्त्वपूर्णाऽस्ति। अत एव श्रौताचार्यास्तेषामनुयायिनोऽन्येप्याचार्याः सर्वास्वावश्यकतासु देश-पुर-निवास-वेश्मादीन् श्रेयस्करत्वेन स्वीकृतवन्तः, तदनुसृत्यैवात्र किञ्चिद्विचार्यते। तदुक्तं निरुक्तशास्त्रे- **गृहनामानि द्वाविंशतिः**[7] यथा- **1.**गयः, **2.**कृदरः, **3.**गर्त्तः, **4.**हर्म्यम्, **5.**अस्तम्, **6.**पस्त्यम्, **7.**दुरोणे, **8.**नीळम्, **9.**दुर्याः, **10.**स्वसराणि, **11.**अमा, **12.**दमे, **13.**कृत्तिः, **14.**योनिः, **15.**सद्म, **16.**शरणम्, **17.**वरूथम्, **18.**छर्दिः, **19.**छदिः, **20.**छाया, **21.**शर्म, **22.**अज्मेति द्वाविंशतिर्गृहनामानि निघण्टौ पठितानि। अन्यत्र च सदनम्, गृहम्, शालेत्यादयोऽप्यनेके शब्दाः प्रयुक्ताः सन्ति। निघण्टौ प्रोक्तानां **गृहनाम्नां निर्वचनानि यथा-**

1. गयः- गम्यते वासाय, गच्छत्यनेन सुखम्। गीयते स्तूयते स्वास्थ्यातिशयेन, स्तुवन्त्यस्मिन् स्थिता देवान् इति च देवराजयज्वना। गम्यते सुखार्थिभिरिति गय इति च यास्कः।

2. कृदरः- कृती छेदने (तु.,रु.प.-144,10) **कृदरादयश्च** (उ. 5.41) इति अरन् प्रत्ययो गुणाभावश्च तकारस्य दकारश्च निपात्यते। कृत्यते छिद्यते क्लेशः, परिच्छिन्नं वा सुशास्त्रमर्यादया।

---

1. शु.य.संहिता -2/22
2. ऋग्वेदसंहितायाम्- 10/9/4 , साम-33, अथर्व सं.-1/6/1 , शु.य.संहिता-36/12 , तै.ब्रा-1/2/1/1, तै.आ.-4/42/4
3. ऋ.संहिता-10/191/1, शु.य.संहिता-15/30
4. ऋ.संहिता-10/165/1
5. शु.य.संहिता-19/44 , 'अथा नो वर्धया रयिम्'-शु.य.सं.-15/56, 3/14
6. तै.संहिता- 6/1/1/4
7. निघण्टौ-3/4

कृतदरः **दृङ् आदरे** (तु.आ.-120) कृतो दर आदरोऽत्रेति कृतदरः। पृषोदरादित्वात् (अ. 6.3.9) तशब्दलोपः।

3. **गर्त्तः- गृ शब्दे** (क्र्या. प.-29) धातोः शब्द्यतेऽस्मिन्स्तूयते वा इति।

4. **हर्म्यम्- हृञ् हरणे** (भ्वा.उभ. 640) धातोः हरति अनुह्रियते आह्रियतेऽत्र धान्यादि इति देवराजयज्वा। ह्रियतेऽत्र धान्यादीति हर्म्यम् इति यास्कः। हर्म्यं हरणमिति दुर्गः।

5. **अस्तम्- अस् भुवि** (अदा.प. 58) धातोः **असु क्षेपणे** (दि.प. 99) धातोश्च अस्तमिति शब्दो निष्पद्यते। आदीयते स्वीक्रियते वा तदर्थिभिः, क्षिप्यन्तेऽस्मिन् पदार्था इति वेति देवराजयज्वा। आत्मीयमावासमित्याह यास्कः।

6. **पस्त्यम्- पत्लृ-गतौ** (भ्वा.प. 584) धातोः निपातनात् सकार उपजनः। पस्त्या **पसेः सङ्घत्यर्थे वा** इति माधवः। पस्त्यमिति गृहनाम। **अजादित्वात्** (अ. 4.1.4) **टाप्** इति स्कन्दस्वामिभाष्ये (ऋग्वेद-1.25.10)।

7. **दुरोणे**- दुरोण इति गृहनाम, दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः। दुरवा दुःखेनावितुं शक्या भवन्ति। इत्याह यास्कः।

8. **नीळम्- व्याडनीडक्रोडकुहोडादयः** (स.क.-2.2.119)इति उडच्प्रत्ययः, प्रत्ययादेर्लोपो गुणाभावश्च निपात्यते। नीयन्तेऽत्र पदार्थाः, नयति मुखनिःश्वसनमिति वा।

9. **दुर्याः- दुर्वी हिंसार्थः** (भ्वा.प. 382)। हिंसन्ति मीनन्ति हि ते दुःखम्। **दुरो गृहद्वाराण्यर्हन्तीति वा दुर्या गृहा उच्यन्ते।** इत्युवटः **अवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान्** (यजु.सं.-4. 37 मन्त्रभाष्ये, 1.11 मन्त्रभाष्ये च)।

10. **स्वसराणि**- व्याख्यातमहर्नामसु (निघ. 1.9.5)। स्वेन स्वननेन (धनेन) स्रियते प्राप्यते, स्वैर्गृहवतो ज्ञातिभिः श्रियते, सुष्ठु अस्यन्ते वास्मिन् पदार्थाः।

11. **अमा- अम गतिभक्षशब्देषु** (भ्वा.प. 314) गम्यन्तेऽस्मिन् भक्ष्यन्ते शब्दायन्ते वा। **अमात्यम्** इत्यत्र उवटः- **अमा गृहवचनः सहवचनो वा अव्ययात् त्यप् तत्र भव इत्यर्थे। गृहे सत्याह्वा भवति अमात्यः।**

12. **दमे- दमु उपशमे** (दि.प.93)धातोः। शाम्यतेऽनेन शीतादिः, दान्तः क्लेशः। यास्कोऽपि दम इति गृहनाम।

13. **कृत्तिः- कृती छेदने** (तु.रु.प.-144,10) क्तिन्। कृदरवदर्थः।

14. **योनिः- योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना** (निरु. 2.2.8)। **यज्ञो**

वा ऋतस्य योनिः तथा च **यज्ञो वै विष्णुः**[1] इति। तेन योनिरिति शब्दः स्थानविशेषार्थे प्रयुक्तः।

15. **सद्म- सदेर्मनिन्।** सीदत्यस्मिन्। **सद्म गृहनाम** इति **सद्मेव धीराः** (ऋग्वेद-1.67.5) मन्त्रभाष्ये स्कन्दस्वामिनोक्तम्।

16. **शरणम्- शृणातेः युज् बहुलम्** (उ-2.79) इति युच्। शृणाति शीतादिक्लेशम्, रक्षितवान् वा क्लेशेभ्य इति। शरणम् बिलम्। तद्धि भूप्रदेशस्योपरि विदारितं भवति। (नि.पृ. 229)

17. **वरूथम्- वृञ् वरणे** (स्वा. उभ.-8) वर्मवदर्थः।

18. **छर्दिः- छृदी सन्दीपने** (चु.प. 244)। सन्दीप्यते शालया।

19. **छदिः- छद आवरणे** (चु.उभ. 248)। छाद्यते हि तत्।

20. **छाया- छो छेदने** (दि.प. 37)। छायाकरत्वाद्वा छाया । कृत्तिवदर्थः।

21. **शर्म-** शृणातेः शरेः श्रयतेर्वा मन्। श्रयतेर्बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। श्रीयते हि तत्। अन्यत्र शरणवदर्थः।

22. **अज्म-** अजेः **अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षु०** (उ. 1.140) इत्यादिना बाहुलकाद् मन्। अस्तवदर्थः।

एतानि निर्वचनानि निरुक्तानुसृतानि। इदानीं वैदिकसंहितासु ब्राह्मणादिग्रन्थेषु च यानि निर्वचनानि सन्त्युपलब्धानि तान्यत्र यथोपलब्धविषयानुसारमुपस्थाप्यन्ते। यथा-

(1) **पस्त्या- विशो वै पस्त्याः** (श0 प0 ब्रा0-5/3/5/19) 'विशः' इति पदं प्रजावाचकः। प्रजा एव परमात्मनो गृहमिति। यथा हि पुरुषशब्दनिर्वचने उक्तम्- **इमे वै लोकाः पूः। अयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः।** (श0 प0 ब्रा0-13/6/2/1)

(2) **गृहम्-** 'ऋतवो वै गृहाः' (ऐ0 ब्रा0-5/25) 'गृहा गार्हपत्यः' (मै0 -1/5/10)

'गृहा वै प्रतिष्ठा' (श0 प0 ब्रा0-1/1/1/19)

(3) **अस्तम्-** 'गृहा वा अस्तम्' (श0 प0 ब्रा0-2/5/2/29)

(4) **दुर्याः-** 'गृहा वै दुर्याः (ऐतरेयब्राह्मणे-1/13,श0व0ब्रा0-1/1/2/22)

(5) **सदः-** 'यस्मिन्विश्वेदेवा असीदंस्तस्मात्सदो नाम तऽ उऽ एवास्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्राः सीदन्ति। (श0प0ब्रा0-3/5/3/5) 'तस्य पृथिवी सदः' (तैत्तिरीयब्रा0-2/1/5/1) 'तस्मादुदीचीनवंशं सदो भवति' (श0प0ब्रा0-3/6/1/23) 'उदरमेवास्य (यज्ञस्य) सदः'

---

1. श.प.ब्रा.-1.3.4.16

(श0प0ब्रा0-3/5/3/5, काठ-28/1)

(6) **सधस्थः**- 'स्वर्गो वै लोको सधस्थः (प्रतिष्ठा)(श.प.ब्रा.-9/5/1/46) 'द्यौर्वा उत्तरं सधस्थम्' (श.प.ब्रा.-8/6/3/23)

(7) **आयतनम्**- 'द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् (श.प.ब्रा.-14/3/2/8) 'अन्तरिक्षायतना हि प्रजाः'(ताण्ड्यब्रा.-4/8/13) 'भुव इत्यन्तरिक्षलोकः' (श.प.ब्रा.-8/7/4/5) 'अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्' (श.प.ब्रा.-7/5/2/57) 'अन्तरिक्षं वै सर्वेषां देवानामायतनम्' (श.प.ब्रा.-14/3/2/6)

(8) **सदनम्**- सहस्थानमेकत्र निवासभूमिः। (नि.पृ.380)

(9) **गृहम्**- गृह्णन्तीति सतः। (निरुक्ते-पृ0-130)

अत एतैरुपर्युक्तैर्निर्वचनैर्वास्तुस्वरूपं भृशं वर्णितम्। इदानीं विचार्यते यद्वास्तुसम्बद्धं यच्छास्त्रं कल्पितमासीत्तस्य नाम स्थापत्यमिति। स्थापत्यमिति शब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थोस्ति 'स्थपतेर्भाव इति स्थापत्यम्। स्थपतिः शिल्पकारः प्रभुरीश्वरश्च। तदुक्तं कर्काचार्येण कात्यायनश्रौतसूत्रस्य **'निषाद-स्थपतिर्गावेधुकेऽधिकृतः'**[1] इति सूत्रव्याख्यानावसरे **निषादश्चासौ स्थपतिश्च निषादस्थपतिरिति।** स्थपतिरिति शब्द आधिपत्यवचनः। अर्थाद्यो हि नरः कस्यचिज्जातिविशेषस्याधिपतिः शिल्पकारो वा भवति स स्थपतिरित्युच्यते। वामनशिवराम आप्टे महोदयेन स्वकीये संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोशे 'स्थपति' शब्दस्य (स्था+क,तस्य पतिः) राजा, प्रभुः, वास्तुकारः, रथकारः, सारथिः, अन्तःपुररक्षकः, बृहस्पतिः यज्ञस्य यजमानः, कुबेरश्चेत्यादय अर्थाः निर्दिष्टाः। तेनात्र स्थापत्यशब्देन वास्तुकारः शिल्पकारो वा सम्बद्धो दृश्यते । तस्मात् स्थापत्यमिति निर्माणकलाविशेषस्य शास्त्रम् इति बुध्यते । स्थापत्यविद्यायाः प्रकाशकत्वादिदं शास्त्रं स्थापत्यवेद इति नाम्ना व्यवह्रियते। वेदोऽयमथर्ववेदस्योपवेदत्वेन स्वीकृतः। स्थापत्यवेदस्यैवापरं नाम वास्तुशास्त्रमिति। वास्तुशास्त्रस्याधिष्ठातृत्वेन वास्तोर्निवासस्थानस्य चाधिष्ठातृत्वेन वास्तोष्पतिदेवः वास्तुपुरुषः वेदेषु स्तुतोऽस्ति। वास्तोष्पतिदेवसम्बद्धं ऋग्वेदीयं वास्तोष्पतिसूक्तमत्र प्रस्तूयते -

वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रतितन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व॥

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वयागातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥[2]

---

1. कात्यायनश्रौतसूत्रे- 1/1/12
2. ऋग्वेदसंहिता-7/54/1-3

अस्य सूक्तस्य त्रिभिर्मन्त्रैर्वास्तोष्पतिदेवः स्तुतोऽस्ति। वास्तोष्पतिदेवं स्तुत्वेदानीं कीदृशं वासयोग्यं गृहं भवितव्यमित्यस्मिन् विषये वैदिकानामृषीणां विचारः प्रस्तूयते। तद्यथा-

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥[1]

अर्थादावां पत्नीयजमानौ ता तानि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै निवासाय गन्तुं कामयावहै, यत्र यस्मिन्स्थाने भूरिशृङ्गा बहुदीप्तयः गावः सूर्यरश्मयः अयासः भृशं गन्त्र्यो भवन्तु, अत्राह अत्र खलु वास्त्वाधारभूते द्युलोके, उरुगायस्य बहुभिर्गीयमानस्य वृष्णः कामानां वर्षितुः विष्णोर्महागतेः तत्परमं प्रसिद्धं निरतिशयं स्थानं (विष्णुलोकं , वैकुण्ठं, आदित्यमण्डलं वा) स्वमहिम्ना भूरि प्रभूतं अवभाति स्फुरतीत्यर्थः ।

एतादृशे वैदिकर्षिदृष्टे स्थाने वयं स्थातुं कामयामहे। यतो तल्लोको ध्रुवोऽस्ति, बृहत्तमोऽस्ति, सहस्रद्वारसम्पन्नोऽस्ति, यशोभितोऽस्ति सर्वसुखसम्पन्नश्चास्ति । तदुक्तमृग्वेदे-

बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते।[2]

अर्थात् हे वरुण! यद् वः युष्माकं स्वधा स्वभावानुकूलं गृहमस्ति, ते तव तादृशं बृहन्तं मानं गृहं यत् खलु सहस्रद्वारयुक्तं तत्र वयं जगमा गच्छामः, यतो निवासार्थमुचितं स्थानं तदेवास्ति। तथा च-

मो षु वरुण मृण्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।[3]

अर्थात् हे राजन्! वरुणदेव! वयं मृण्मयं गृहं मा गमम् न गन्तुमिच्छाम इत्यर्थः। तर्हि कीदृशं गृहं वयमिच्छामः? तत्रोच्यते यत्- **ता यंसतो मघवद्भ्यो ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या**[4] **इति।**

अर्थात् यद् गृहं वयमिच्छामः तद्ध्रुवं, यशोभितं छर्दिर्भवेत्। असत्या छर्दिर्न भवेदित्यर्थः। अर्थात् हे परमेश्वर! अस्मभ्यं तादृशं गृहं प्रयच्छतु यन्मृण्मयं तृणादिभिर्विनिर्मितं च न भवेदपितु **'ध्रुवं छर्दिः'** यशोभितं बृहत्तमेन मानेन सम्पन्नं सहस्रद्वारयुतं इष्टकाभिः प्रस्तरैः (पाषाणैः)वा विनिर्मितं स्यात्। तदानीमिष्टकापाषाणादिभिः गृहनिर्माणं भवति स्म इत्यपि स्पष्टमेव। विषयेऽस्मिन् शुल्बसूत्रोक्तेष्टकानिर्माणविधिर्द्रष्टव्या। यथा-

ह्रसते पाकशोषाभ्यां द्वात्रिंशद्भागमिष्टका ।
तस्मादार्द्रप्रमाणन्तु कुर्यान्मानाधिकं बुधः ॥[5]

---

1. ऋग्वेदसंहिता-2/2/24
2 तत्रैव- 7/88/5
3 तत्रैव-7/89/1
4. ऋ.संहिता-7/74/5
5. श्लोकशुल्बे-30 तमः श्लोकः

संहिताब्राह्मणश्रौतसूत्रेषु च येषां श्रुतिप्रतिपादितानां श्रौतयज्ञानां वर्णनानि सन्ति, तेष्वग्निचयनाख्यो यागविशेषः किमप्यधिकेन वैशिष्ट्येन सह प्रस्तुतः। तत्रोत्तरवेद्यां चितिनिर्माणं क्रियते, तस्मिन्नेव प्रसङ्गेऽनेकविधानामिष्टकानां यथा- पद्या, अर्द्धपद्या, पादोनपद्या जङ्घामात्री, अध्यर्द्धा, अर्द्धोत्सेधापद्या, अर्द्धोत्सेधा अर्द्धपद्या, पादभागा, त्रिग्राहिणी, अर्द्धपादभागा, बृहती, वक्रा, अर्द्धबृहती, चतुर्भागाऽऽद्यानामिष्टकानां निर्माणं भवति स्म ।

अत इदं सुस्पष्टमेव यद्वैदिककाले वास्तुशास्त्रं बहून्नतं सूक्ष्मातिसूक्ष्मचिन्तनसम्पन्नमासीत्। नैतदेवालमपितु तदानीन्तनं शिल्पविज्ञानं, रसायनविज्ञानं, भूमितिविज्ञानञ्चाप्यतीवोत्कृष्टमासीत्। भवननिर्माणकाले कीदृशं रसं मिश्रीकृत्य मिश्रणं निर्मातव्यं येन भवनं चिरस्थायि भवेदिति ज्ञानं रसायनविज्ञानेन, कीदृशं स्वरूपमाकारश्चेति शिल्पविज्ञानेन, कुत्र भवनं निर्मातव्यमिति भूमितिविज्ञानेन सम्यग् बुद्ध्वा भवननिर्माणं भवति स्म। तत एवाधुनिकं वास्तुशास्त्रं {Architecture} आर्किटेक्चरेति समुत्पन्नम्। शास्त्रमिदमाङ्गलभाषायामुपनिबद्धं वर्तते परं विषयप्रतिपादनदृष्ट्या वैदिकवास्तुशास्त्रमाश्रित्यैव सम्पादितमस्तीति सुस्पष्टमेव प्रतिभाति। यतो हि वैदिकाधुनिकवास्तुशास्त्रयोर्मध्ये नास्ति काचिद्भिन्नतेति।

साम्प्रतिकं यद्वास्तुशास्त्रमुपलभ्यमानमस्ति तत्षड्वेदाङ्गेषु ज्योतिषशास्त्ररूपं वेदस्य चक्षुःस्वरूप-मङ्गान्तर्गतमस्ति। अङ्गमिदं स्थापत्यवेदेन सह सम्बद्धमस्ति। ज्योतिषशास्त्रे त्रयः स्कन्धाः सन्ति। सिद्धान्तस्कन्धः, होरास्कन्धः, संहितास्कन्धश्चेति। सिद्धान्तस्कन्धे गणितीयसिद्धान्तानां सोपपत्तिकं विवेचनम्, होरास्कन्धे मानवजीवने घटितघटनानां गणितीयसिद्धान्ताधारे व्यष्टिरूपेण चिन्तनम्, संहितास्कन्धे च समष्टिगतरूपेण भूगर्भ-वनस्पति-वृष्टि-मुहुर्त-वास्तुविज्ञानादिविषयाणां विस्तृतं व्याख्यानमुपलभ्यते।

अत एवातिप्राचीनकालादेव विश्वकर्मप्रभृतिभिः वास्तुशास्त्रविद्भिः शीतोष्णवर्षादिभिः रक्षार्थं मनुष्येभ्यः गृहनिर्माणं निर्दिष्टम्। तदुक्तञ्चापि-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदं
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम् ।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः ॥[1]

तथा च कस्मिन् गृहे निवासे सति कति पुण्यफलं लभ्यत इति तदर्थमप्युक्तम्-

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसङ्गुणम् ।
ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे ॥[2]

अर्थादखिलं पुण्यं गेहादेव समुत्पद्यते। तृणनिर्मिते गृहे कोटिघ्नं पुण्यं, मृण्मये दशकोटिघ्नं पुण्यं, ऐष्टिके शतकोटिघ्नं, शैलनिर्मिते च गृहेऽनन्तं पुण्यफलं प्रतिपादितमस्ति। तच्च गृहं कीदृश्यां

1. बृहद्वास्तुमालायाम्-गृहारम्भविधिः-श्लोक-4
2. बृहद्वास्तुमालायाम्-गृहारम्भविधिः-श्लोक-5

भूमौ निर्मातव्यम्? तत्र दिग्ज्ञानपुरःसरं कस्यां दिशि किं गृहं भवेदिति सचित्रमत्र व्याख्यायते-

वास्तुपुरुषस्य स्थित्यनुसारं दिक्साधनं गृहनिर्माणञ्च-

सर्वप्रथमं भूपरीक्षा तदनन्तरं दिक्साधनं क्रियते। दिक्साधनविधौ सर्वेष्वपि शास्त्रेषु प्राचीसाधनमेव प्राथम्येनोक्तम्। प्राची हि देवानां दिग्भवति, प्राच्यामेव सूर्यः समुदेति तस्मात्प्राचीसाधनमेवादौ क्रियते। प्राच्यां हि शिरः कृत्वा वास्तुपुरुषरूपो विष्णुश्शेते पृथिव्यामतो प्राच्यामेव वास्तोश्शिरो भवतीत्यपि सिद्ध्यति। शतपथब्राह्मणे वेदिपरिग्रहप्रसङ्गे एका कथा वर्णिताऽस्ति-

देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यमिवासुः। अथ हासुरा मेनिरे अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति। ते होचुः- हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै, तां विभज्योपजीवामेति। तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः। तद्वै देवा शुश्रुवुः विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीम्, प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते, के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहि। ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः। ते होचुः अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजत, अस्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति। ते हासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते, तावद्वो दद्म इति।

वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति। ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीति दक्षिणतः। त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चात्। जागतेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः।[1]

उपर्युक्तेन ब्राह्मणवचनेनेदं सुस्पष्टं जातं यदादौ देवाः पृथिव्यां यज्ञमनुष्ठातुं, स्वनिवासयोग्यां भूमिं प्राप्तुञ्च वास्तुपुरुषं विष्णुं प्राक्शिरसं निपात्य गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णनिति। तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य पूर्वस्यां दिशि आहवनीयाख्यम् अग्निं प्रज्वाल्य, तेन कर्मानुष्ठानजनितं श्रमं कृत्वा यज्ञात्मकस्य विष्णोराधारभूतेन स्थानेन देवाः सर्वामेवेमां पृथिवीं सम्यगलभन्त। अतो विद्यते लभ्यते अनेनेति यज्ञस्थानस्य **वेदि**रिति नामधेयं प्रख्यातमभवत्। सा च वेदिर्विष्णोर्निवासस्थानमासीत्। यज्ञरूपो विष्णुस्तस्यां वेद्यामुपरि छन्दोभिस्त्रिभिर्दिग्भिरग्निना च पुरस्तात्परिगृहीत आसीत्। स च सर्वतः परिगृहीतो विष्णुश्चलितुमशक्यत्वाद् ग्लानोऽभवत्। स तत्रैवौषधिमूलान्युपेत्य भूम्यन्तर्गतोऽभवत्। अनन्तरञ्च ते देवास्तत्र वितर्कितवन्तः- **ते ह देवा ऊचुः- क्व नु विष्णुरभूत्, क्व नु यज्ञोऽभूदिति?**[2] एवं वितर्क्य तैर्निर्णीतं यच्चतसृष्वपि दिक्षु परिवृतत्वेन गमनासम्भवादत्रैव तस्यान्वेषणं कुरुतेति। इत्थं परस्परं निश्चित्य त्र्यङ्गुलं भूमिं खनित्वा तमन्विष्टवन्तः। अत एव त्र्यङ्गुलखाता वेदिर्भवति। तत्रैव खननं कृत्वा यज्ञात्मकं **विष्णुमन्वविदंस्तस्माद्वेदिर्नाम।**[3] तस्मादद्यापि वेदिः खन्यते। सेयं वेदिः पृथिवीत्युच्यते। यावती वै वेदिस्तावतीयं पृथिवीत्युक्तं शतपथश्रुतौ- **तद्यदेनेनेमाꣳ सर्व्वाꣳसमविन्दन्त**

1. श.प.ब्रा.- 1/2/5/1-6
2. श.प.ब्रा.-1/2/5/9
3. श.प.ब्रा.-1/2/5/10

तस्माद् वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी[1] इति। अत एवोच्यते यद्यज्ञेन देवा दिवं प्राप्ताः, तथा पश्वभिमानी देवः रुद्रस्त्विहैवातिष्ठत् तस्माद्वास्तुरभवत्। तद्यथा- **यज्ञेन वै देवा दिवमुपोदक्रामनथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत। तस्माद्वास्तव्य इत्याहुः। वास्तौ हि तदहीयत।**[2] इह लोके अवस्थितत्वात्स **वास्तु**नाम्ना प्रसिद्धोऽभवत्। तस्मै सोऽध्वर्युरवशिष्टहविषो भागं प्रायच्छत्। अवशिष्टभाक्त्वेन रुद्रस्य वास्तव्यत्वेन प्रसिद्धिर्जाता। यतो यज्ञस्य हुतेषु हविष्षु यदवशिष्यते तद्वास्तुरित्युच्यते। तेनैवावशिष्टेन हविषा स्विष्टकृदग्नये सर्वेषां देवानां होमानन्तरं हूयते। तदुक्तमपि- **सोऽध्वर्युः यथापूर्वं हवींष्यभ्यघारयत्, एकस्मा अवदानाय पुनराप्यायत, अयातयामान्यकरोत्, तत एकैकमवदानमवाद्यत्तस्माद्वास्तव्य इत्याहुः। वास्तु हि तद्यज्ञस्य यद्धुतेषु हविष्षु। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तः। सर्वत्र ह्येवैनं देवा अन्वाभजन्।**[3] एवमुक्तेन श्रौतवचनेनेदं सुस्पष्टं भवति यद्वास्तुरेवाग्निः, स एव विष्णुर्यज्ञो रुद्रादयश्च। विष्णोस्सर्वव्यापकत्वात्तस्य सर्वव्यापकत्वं न केनाप्यविज्ञातमिति। अतोऽत्रेदमपि सिद्धं भवति यद्वास्तुपुरुषस्य शिरः पूर्वस्यां वर्तते नोत्तरस्यामिति। केचनाहुर्यदुत्तरस्यां वास्तोश्शिर इति तेषां कथनं वैदिकाख्यानानुसारं नैतद्युक्तमित्यपि स्पष्टं भवतीति। यद्यपि ऋतु-मास-पक्षानुसारं वास्तोर्मुखपुच्छादिज्ञानाय विधानं ज्योतिषशास्त्रेषु पश्यामस्तत्तु पृथगेव, परं सामान्यतया वास्तोश्शिरः पूर्वस्यामस्ति नोत्तरस्यामिति सिद्ध्यत्येव।

इदानीं गृहनिर्माणविषयस्तावद्विचार्यते। तदुक्तं श्रौतग्रन्थेषु यत्- कृत्वा सार्धपुरुषतस्त्वधः भुवं संशोध्य लोष्ठाश्मास्थिविवर्जिते देशे गृहं निर्मेयम्। पूर्वस्यां दिशि स्नानगृहं कार्यम्। आग्नेये पाकशाला विधेया। दक्षिणस्यां दिशि स्वापशाला, नैर्ऋत्यां दिशि आयुधशाला, पश्चिमे भोजनशाला, वायव्ये पशुशाला, उत्तरस्यां द्रव्यनिक्षेपगृहम्, ऐशान्यां देवमन्दिरञ्च निर्मातव्यम्। तदुक्तं सनत्कुमारीयवास्तुशास्त्रे-

स्नानागारं दिशि प्राच्यामाग्नेय्यां पचनालयम्।
दक्षिणे शयनागारं नैर्ऋत्यां शस्त्रमन्दिरम्॥

पश्चिमे भोजनागारं वायव्ये पशुमन्दिरम्।
भण्डारं चोत्तरस्यां तु ऐशान्यां देवमन्दिरम्॥[4]

मुहुर्त्तचिन्तामणावपि-

स्नानस्य पाकशयनास्त्रभुजेश्च धान्यभाण्डारदैवतगृहाणि च पूर्वतः स्युः।
तन्मध्यतोऽथ मथनाज्यपुरीषविद्याभ्यासाख्यरोदनरतौषधसर्वधाम॥[5]

---

1. श.प.ब्रा.-1/2/5/7
2. श.प.ब्रा.-1/7/3/1
3. श.प.ब्रा.-1/7/3/7
4. सन. वा. शा.-पृ.-61
5. मुहुर्तचिन्तामणौ-12/20

सनत्कुमारवास्तुशास्त्रोक्तदिशा गृहनिर्माणमेवं विधेयम्-

ईशानः पूर्व आग्नेयम्

उत्तर

देवमन्दिरम्	स्नानगृहम्	अतिथिशाला	पाठशाला
द्रव्यनिक्षेपः	प्राङ्गणम्		स्वापशाला
भण्डारगृहम्			शौचालयः
पशुगृहम्	भोजनशाला		शाला

दक्षिण

वायव्यम् पश्चिम नैऋत्यम्

वृद्धवसिष्ठमतानुसारम्-

ऐन्द्राग्न्योर्मथनं मध्ये याम्याग्न्योर्घृतमन्दिरम् ।
यमराक्षसयोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम् ॥
राक्षसोजलयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम्।
तोयेशानिलयोर्मध्ये रोदनस्य गृहं भवेत् ॥
कामोपभोगशयनं वायव्योत्तरयोर्गृहम्।
कौबेरैशानयोर्मध्ये चिकित्सामन्दिरं सदा॥
महेन्द्रेशानयोर्मध्ये सर्ववस्तुषु सङ्ग्रहः।
सदनं कारयेदेवं क्रमादुक्तानि षोडश॥[1]

अर्थान्न्यूनतमं षोडशप्रकोष्ठात्मकं गृहं तु भवेदेव । तस्य स्वरूपं यथा-

ईशानः पूर्व आग्नेयम्

उत्तर

पूजागृहम्	सर्ववस्तु	स्नानमन्दिरम्	दधिमन्थनम्	पाकसदनम्
औषधालयः	**प्राङ्गणम्**			आज्यम्
भण्डारकक्षः				शयनम्
रतिगृहम्				पुरीषत्यागम्
अन्नम् (भण्डारम्)	कोपभवनम्	भोजनम्	अध्ययनम्	शास्त्रागारम्

दक्षिण

वायव्यम् पश्चिम नैऋत्यम्

1. वास्तुरत्नावली, टीकाकार- श्रीमदच्युतानन्द झा, तीसरा संस्करण, 1981

एवमुपर्युक्तविधिना वास्तुशास्त्रसम्मतं गृहं निर्माय यः कश्चिदपि निवसति सोऽपूर्वं फलं प्राप्नोति। तदुक्तमथर्वे-

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥[1]

सर्वसमृद्धिदो वास्तुः वंशवृद्धिकरः पालकः पोषकश्च भवति। इदमेव वास्तुशास्त्रमाधुनिकैराङ्ग्लैरार्किटेक् (Architect) नाम्ना स्मर्यते। ते हि विद्वांसः आर्किटेक्चर (Architecture) इत्युच्यन्ते। परमिदं स्पष्टं भवति यदाङ्गलभाषायामुपनिबद्धं तच्छास्त्रमस्माकं वास्तुशास्त्रानुसृतमेवास्तीति। नास्त्यत्र लेशतोऽपि सन्देहस्यावसरः।

---

1. अथर्ववेदे-3/12/2

वास्तुपदविन्यास – एक जीवन्त संकल्पना

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र

1. पदविन्यास का अर्थ है, वास्तु में क्षेत्र एवं मण्डल के अन्तर्गत देव विन्यास। यह एक जीवन्त एवं भूपृष्ठस्थ दिव्य संकल्पना का मानवीकृत रूप का पार्थिव प्रतिनिधि है। बृहत्संहिता-वास्तुविद्या-अ. 53 में सर्व प्रथम आगम प्रदर्शन के अन्तर्गत ब्रह्मा जी से प्रवर्तित यह वास्तुपदविन्यास का विधि विज्ञान, कैसे ऋषिपरम्पा से वराह के समय तक प्रवर्तित होकर निष्कर्षतः संहिता स्कन्ध के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में अनेक विद्यात्मक समन्विति में प्रकट हुआ, एतदर्थ वराह की बृहत्संहिता प्रमाणरूप है।[1]

2. ब्रह्माण्ड में सभी पिण्ड द्युलोकीय सत्ता के अस्तित्व में आने के बाद तप्त, दिव्य, तैजस युक्त, स्वप्रकाश विरल तथा सरल पिण्ड के रूप में अग्नि, सोम, प्राण तथा वाक् के त्रिगुणात्मक एवं पञ्चभूतात्मक परिप्रेक्ष्य में थे। दृढ़ धरातलीय पिण्ड तथा पर प्रकाश पिण्डों का अस्तित्व नहीं था।[2]

3. वैदिक काल विज्ञान तथा अनन्त महाब्रह्माण्डीय क्रम तथा आधुनिक महाकाशविज्ञान से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[3] मूल संकेत द्युलोक के रोदसि भाग में एक दैत्याकार पुरुषात्मक गोलीय स्वरूप प्रकट हुआ।[4] उसने पृथ्वी से द्युलोक तक को आच्छादित कर दिया। सहसा देवतागण उस पुरुषात्मक दैत्य (द्युलोक के रोदसी भाग में उत्पन्न उस महागोल से विकरित दिव्य तेज गोल) को अधोमुख कर दिया। अधोमुख स्थापना से उसका जो भाग पृथ्वी पर सामने पड़ा, उससे अग्निगर्भा पृथ्वी पर दृढ़ता आयी तथा ऊपरी सतह द्रव्यात्मक लावा के ऊपर स्तरात्मक भूखण्ड के रूप में प्रकट हुआ। द्युलोकीय रोदसी खण्ड में उत्पन्न शक्ति प्रभाव के जिस भाग पर पड़ने से वह पुरुष अधोमख हुआ, वहां भूपृष्ठीय वास्तुपुरुष संकल्पना में वास्तुपुरुष के उस अंग विशेष पर उस देव की संकल्पना की गयी, तथा उस देव शक्तिपुञ्ज को विधाता ने वास्तुपुरुष संज्ञा की।[5] अतः उसे सदेव पूजन क्रम का प्रवर्त्तन प्रथम मानवीय वास्तु के साथ सभी वैदिक एवं पौराणिक वास्तु विधानों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है।[6] रोदसी भाग, क्रन्दसी भाग, इत्यादि सौरमण्डल एवं

---

1. बृ.सं. अ. 53 श्लो. 1
2. विज्ञानविद्युत्–मधुसूदन ओझा
3. ज्योतिर्विज्ञानम्– अर्कसोमयाजि
4. विज्ञानविद्युत्– मधुसूदन ओझा
5. बृ.सं. - दिव्यादि प्रभाव - वराह
6. ब्रह्माण्डादि पुराण द्रष्टव्य

द्युलोक सम्बन्धी क्षेत्रांश विशेष का विधिवत् निरूपण विज्ञानविद्युत्, ब्रह्मसिद्धान्त आदि विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा के समीक्षा से गम्य है।[1] इस तथ्य को वराहादि पौरुषग्रनथकारों ने वैदिकविज्ञान के पौराणिक प्रतीकों को अग्रसारित कर अद्वितीय कार्य किया।[2] **यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डेऽपि** का सिद्धान्त प्रभावशास्त्र मूल विधान का एवं योगशास्त्रीय मानवीय रूप "**यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**"[3] के स्वरूप को भी प्रकट करता है। यथा वराह–

किमपि किल भूतभवद्गुन्धानं रोदसी शरीरेण।
तदमरगणेन सहसा विनिगृह्याधोमुखं न्यस्तम्॥
यत्र च येन गृहीतं विवुधेनाधिष्ठितः स तत्रैव।
तदमरमयं विधाता वास्तुनरं कल्पयामास॥[4]

यह श्लोक अग्निगोलात्मक भूपिण्ड पर कैसे रोदसी द्युलोकीय खण्ड में उत्पन्न महादैत्य के देवसंहित टक्कर से पृथ्वी तथा अन्य पिण्डों के ऊपरी स्तर पर दृढ़ता आयी तथा उस विकट शरीरधारी के जिस अंग को जो जहां पकड़े, उस देव विशेष की पूजा पृथ्वी पर वास्तुपुरुष के उसी अंग में करने का संकेत, ब्रह्मा द्वारा किया गया। देवमय वास्तुपुरुष संज्ञा के रूप में प्रवर्तन का परम्परया अग्रसारण विशिष्टवैज्ञानिक संकेत एवं विशिष्ट वैज्ञानिक प्रक्रिया का भी संकेत है। दिव्यत्व एवं देवत्व के निवेश के आधिदैविक तथा भूसंयोग के आधिभौतिक तथा आत्मत्त्वाधिष्ठित मानव के बोधगम्यता की सम्बद्धता से आध्यात्मिक तथा गृह एवं देवालय के आरम्भ, प्रवेश एवं उत्पाद मात्र में प्रयुक्त वास्तुशान्ति विधान निरूपण से सम्बद्ध होने से याज्ञिक एवं निगमागम सम्मत है। पदविन्यास में मण्डलीय क्रम से युक्त कर देव ऋषि एवं पिरत के संयोग से वास्तु मात्र जीवन्त संकल्पना हो जाती है। इसके महत्व को समझे बिना असंस्कृत वास्तु तथा निर्माण मात्र आत्महीन केन्द्रहीन तथा लक्ष्यहीन, तृणकाष्ठ, प्रस्तर एवं लौह निर्मित बेढंगे कंक्रीट का जंगल मात्र होता है। जिसमें पञ्चमहाभूतों की अनुकूलता तथा पर्यावरण रक्षण का अभाव एवं वातावरण व सार्वभौतिक प्रदूषण की पराकाष्ठा को उत्पन्न होती है। अतः वास्तुपुरुष की धारणा सामान्य कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं है। इसके त्रिगोलीय सापेक्षता में हर काण्ड को समझने की जरूरत को देखते हुए वराह ने इसे संहिता भाग में स्थान प्रदान किया।

4. गृहस्तर के भेद वं आकृति भेद–

राष्ट्रीय सुरक्षा एवं प्रशासनिक व्यवस्था को नियंत्रित करने वाले, विभिन्न स्तरीय नृपों, सेनाध्यक्षों, मन्त्रियों, युवराज, प्रान्तीय राजपुरुष एवं प्रधान राजपुरुष, अधिकारीगण, राज ज्योतिषी, बौद्धिक वर्ग, सुरक्षात्मक वर्ग, धनाढ्य एवं व्यसायिक वर्ग तथा विभिन्न रूपक शिल्पी एवं श्रमिक

---

1. कादम्बिनीतेघमाला – वि.वा. मधुसूदन ओझा, पिण्डप्रभाकर – म.म. सुधाकर द्विवेदी
2. बृहत्संहिता अ. 53तः 60
3. पातं जलयोगप्रदीप – पतंजलि
4. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 2–3

भेद से, स्तर भेद से, गृहों की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, रक्षाव्यवस्था, पञ्चमहाभूतों का समुचित प्रबन्धन, कोषागार के विभिन्न रूप तथा स्तर, राजपुरुषों के गृहप्रमाण, पारशव, सन्यासी तथा पशुगृह आदि का प्रमाण गृह में आलिन्द (बरामदा) का प्रमाण, वर्णभेद से गृहप्रमाण तथा आलिन्द प्रमाण वीथिका (मार्ग) प्रमाण तथा मार्गभेद से वास्तु स्थान का नाम, व संज्ञा, सभी प्रकार के भवनों की ऊँचाई, पत्थर, ईंट तथा लकड़ी के घर में भीत्ति का प्रमाण, प्रधान द्वार की ऊँचाई तथा व्यास, वर्णभेद से द्वारप्रमाण, शाखा उदुम्बर की मोटाई का प्रमाण, स्तम्भ के अग्रमूल का प्रमाण, स्तम्भों के नाम, स्तम्भ के ऊपर तथा नीचे की रचना, भारतुला, तुला और उपतुला का प्रमाण आदि विषय बृहत्संहिता अ. 53 श्लोक 4 से 30 तक विधिवत् प्रदर्शित किये गये हैं। ये नृपादि शब्दों के प्रयोग उपलक्षण मात्र हैं। समर्थ पुरुष से प्रारम्भ कर अतिसामान्य भेद से ये समस्त प्रमाण आज भी प्रयोजनीय हैं।

5. अतिप्रधान वास्तुमण्डल-

क्षेत्रभेद से पदविन्यास से पूर्व क्षेत्रभेद के अतिरिक्त अतिविशिष्ट क्षेत्रभेद के अन्तर्गत सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त्त, वर्धमान, स्वास्तिक तथा रुचक ये पांचभेद अति प्रशस्त होते हैं।

1. सर्वतोभद्र– चारों दिशामें द्वार - आयताकार- राजा एवं राजमन्त्री के लिए शुभ
2. नन्द्यावर्त– तीन दिशाओं में द्वार– पश्चिम में द्वाराभाव सभी के लिए शुभ
3. वर्धमान– तीन दिशाओं में द्वार, दक्षिण में द्वाराभाव -सभी के लिए शुभ
4. स्वस्तिकम्– पूर्वद्वार– केवल एक द्वार सभी के लिए मध्यम
5. रुचक– तीन दिशाओं में द्वार, उत्तर में द्वाराभाव सभी के लिए मध्यम

(क). चारों तरफ बरामदा– राजगृह एवं देव गृहोपयोगी। (ख) चारों तरफ बरामदा - पश्चिम में द्वाराभाव। (ग) पूर्वोत्तर आलिन्द एक साथ - दक्षिण द्वाराभाव, पश्चिम दक्षिण आलिन्द एक साथ। (घ) पश्चिम का बरामदा अन्तर्गत, इससे सटे हुए उत्तर एवं दक्षिण दिशा में बरामदा, उन दोनों के मध्य में पूर्व का बरामदा, - पूर्व द्वार। (ङ) पूर्व तथा पश्चिम का बरामदा अन्तर्गत (दक्षिणोत्तर शाला संलग्न) शेष दो बरामदा दोनों के मध्य में स्थित - उत्तरद्वाराभाव।[1]

इसी प्रकार अन्य वास्तुगृहभेद भी पद भेद के रूप में प्राप्त हैं। यदि चारों तरफ से घर तथा मध्य में प्रांगण हो तो चतुःशाल, तीन तरफ से गृह होने पर हिरण्य आदि त्रिशाल, दो तरफ से घर हो तो द्विशाल, तथा एक तरफ से घर होने पर एक शालगृह के भेद भी प्राप्त होते हैं[2]। इनके विस्तृत प्रमाण Mapping modaling arcitecture science के प्राचीन शिल्प एवं वास्तु ग्रन्थों में मिलते हैं।

6. क्षेत्र एवं प्रमाण मण्डल को वास्तु पद कहते हैं। इसका अद्वितीय महत्त्व है। मानवीय वास के लिए एकाशीति पद वाले क्षेत्र विधान-मानवीय वास्तु में 81 पद विभाग तथा दैवीवास्तु में 64 पद विभाग कर अन्तर्भाग में 13 बाह्यभाग में 32 योग 45 देवताओं का विन्यास करते हैं। यथा–

---

1. द्रष्टव्य बृ.सं. अ. 53 श्लो. 31तः 36 - वराह।
2. द्रष्टव्य बृ.सं. अ. 53, श्लो. 37 से 411।

एकाशीति विभागे दश दश पूर्वोत्तरायता रेखाः।
अन्तस्त्रयोदश सुरा द्वात्रिंशद् बाह्यकोणस्थाः॥[1]

81 पदात्मक चक्र

ईशान — पूर्व — आग्नेय

शिखी 1	पर्जन्य 2	जयन्त 3	इन्द्र 4	सूर्य 5	सत्य 6	भृश 7	अंतरिक्ष 8	अनिल 9
दिति 32	आप 33	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश 34	सावित्र 10	पूषा
अदिति 31	अदिति	आपवत्स 44	अर्यमा	अर्यमा 37	अर्यमा	सविता 38	वितथ	वितथ 11
भुजङ्ग 30	भुजग	पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	बृहत्क्षत	बृहत्क्षत 12
सोम 29	सोम	पृथ्वीधर 43	ब्रह्मा	ब्रह्मा 45	ब्रह्मा	विवस्वान् 39	यम	यम 13
भल्लाट 28	भल्लाट	पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	गन्धर्व	गन्धर्व 14
मुख्य 27	मुख्य 42	राजयक्ष्मा	मित्र	मित्र 41	मित्र	इन्द्र 40	भृंगराज	भृंगराज 15
नाग 26	रुद्र 36	शोष	असुर	वरुण	पुष्पदंत	सुग्रीव	जय 35	मृग 16
रोग 25	पापयक्ष्मा 24	शोष 23	असुर 22	वरुण 21	पुष्पदंत 20	सुग्रीव 19	दौवारिक 18	पितर 17

उत्तर — दक्षिण

वायव्य — पश्चिम — नैर्ऋत्य

10-10 रेखाओं से 81 पदात्मक चक्र वास्तुमण्डल में बनता है। पूर्व में–ईशान कोण से प्रारम्भ अग्नि से अन्तरिक्ष तक क्रम से 8 देवता स्थापित करें। दक्षिण में– अग्नि कोण से प्रारम्भ कर अनिल या अनल से मृग तक आठ देवताओं को स्थापित करें। पश्चिम में– नैऋत्यकोण से प्रारम्भ कर क्रम से पितर से पापयक्ष्मा तक 8 देवता स्थापित करें। उत्तर में– वायव्य कोण से प्रारम्भ कर रोग से दिति तक 8 देवों को स्थापित करें। ये चारों दिशाओं में देवता हैं। ये वृत्त या आयत या चतुष्कोण क्षेत्र के चारों ओर स्थापित 8′4 = देव हैं। इन देवों की उत्पत्ति इतिहास तथा महिमारूप में प्रभाव पुराणों में मिलने हैं। यहां स्थापन क्रम मात्र दर्शाये गये हैं।

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 42

7. अन्तर्गृह में तेरह देवताओं के पदन्यास - गृहित क्षेत्र में तेरह देवता आभ्यन्तर भाग में विराजमान किये जाते हैं। मध्य के नौ कोष्ठकों में ब्रह्मपद विन्यास करना चाहिये। अर्थात् मध्य के नौ कोष्ठक ब्रह्मस्थान के रूप में विन्यास करना चाहिये।

ब्रह्म से पूर्व क्रम से प्रदक्षिणक्रम से अर्यमा से आपवत्स पर्यन्त दिशा एवं कोण दिशा क्रम से तीन 3 एवं दो-2 कोष्ठकों में 8 देवों का पदन्यास करना चाहिये। 16 कोष्ठकों में आठ देव अर्यमा, सविता, विवस्वान्, इन्द्र, मित्र, राजयक्ष्मा, पृथ्वीधर तथा आपवत्स न्यस्त किये जाते हैं। अब एक पंक्ति चारों तरफ बाह्यपंक्ति के भीतर रह गयी। 6×4 = 24 कोष्ठात्मक 24 पद रह गये। इनमें प्रथमतः ईशान कोण से प्रदक्षिण क्रम से चारों कोण में आप, सविता, जय तथा रुद्र स्थापित करें। इस तरह दिति, अग्नि, पर्यन्य, आप, आपवत्स ये 5 देव ब्रह्मा के ईशान कोण में व्यवस्थित हो जाते हैं। ये सभी देव एक-एक पदाधिकारी हैं। इस तरह प्रत्येक कोण में पांच-पांच देवता एक-एक पदाधिपति स्थापित किये जाते हैं। अग्निकोण में अन्तरिक्ष, अनिल वा अनल, पूषा, सवित्र तथा सविता ये पांच देव एक-एक पदाधिपति हैं।

8. कोणस्थ पदों में देव न्यास-

नैऋत्य कोण में मृग, पितर, दौवारिक, जय तथा इन्द्र ये पांच देवता एक-एक पदाधिपति हैं। इस प्रकार वायव्य कोण में पापयक्ष्मा, रोग, सर्प, रुक्ष तथा राजयक्ष्मा ये पांच देवता एक-एक पदाधिपति हैं। यहाँ ध्यातव्य हैं कि वस्तुतः इनमें बाह्यकोणस्थ चार-चार देव एक-एक पद के अधिपति तथा अन्तः कोणस्थ ब्रह्मा के चारों कोण पर सन्निहित सम्पृक्त चारों ओर चारों दिशाओं तथा चारों कोण दिशाओं में अवस्थित अर्यमादि देव पूर्वादि दिशाओं में पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर से अर्यमा, विवस्वान, मित्र तथा पृथ्वीधर त्रिपदाधिपति एवं ईशानादि कोण दिशाओं में प्रदक्षिणाक्रम से आपवत्स, सविता, इन्द्र, राजयक्ष्मा आदि एक-एक पदाधिपति हैं।

बाहर के द्वितीय पंक्तिस्थ पद तथा ब्रह्मस्थान के मध्यकोष्ठक से चतुर्थ पंक्ति पद के पूर्वादि प्रदक्षिणा क्रम से 3, 4, 5, 6, 7 संख्यक देव भी द्विपदिक होते हैं। देखें चक्रन्यास 20 देवता द्विपदिक तथा अर्यमादि चार देवता अर्यमा, विस्वान, मित्र तथा पृथ्वीधर त्रिपदिक तथा ब्रह्मा नवपदिक स्थापित किये जाते हैं। यथा वराह-

8.1. **बाह्यकोणस्थ 32 देवों के पदन्यास-**

शिखि पर्जन्य जयन्तेन्द्र सूर्यसत्याभृशोऽन्तरिक्षश्च।
ऐशान्यादि क्रमशो, दक्षिणपूर्वेऽनिलः कोणे॥
पूषा वितथबृहत्क्षत यमगन्धर्वाख्य भृङ्गराजमृगाः।
पितृदौर्वारिक-सुग्रीव-कुसुमदन्ताम्बुपत्यसुराः॥

शोषोऽथ पापयक्ष्मारोगः कोणे ततोऽहि मुख्यौ च।
भल्लाटसोमभुजगास्तताऽदितिर्दितिरिति क्रमशः॥[1]

यह ईशान से अग्नि, अग्नि से नैऋत्य, नैऋत्य से वायव्य, तथा वायव्य से ईशान तक 8×4=32 देव प्रथमतः एक-एक पद में न्यस्त किये जाते हैं।

8.2 अन्तर्गर्भगृह के पदों में देवों का न्यास-

मध्ये ब्रह्मा नवकोष्ठकाधिपोऽस्यार्यमा स्थितः प्राच्याम्।
एकान्तरात् प्रदक्षिणमस्मात् सविता विवस्वांश्च॥
विवुधाधिपतिस्तस्मान्मित्रोंऽन्यो राजयक्ष्मनामा च।
पृथिवीधरापवत्सावित्येते ब्रह्मणः परिधौ॥[2]

यह नव पदात्मक ब्रह्मा के चारों ओर त्रिपिटक चार देव अर्यमादि तथा कोणस्थित एक पदिक आपवत्सान्त एवं 16 पदात्मक चक्रों से आवृत्त कर व्यवस्थित हैं। इस प्रकार 9 पद + 4×3+4=25 पदों में नौ देवतापद न्यस्त हैं।

8.3 कोणस्थ एक पदिक चार देवों के न्यास-

आपो नामैशाने कोणे हौताशने च सवित्रः।
जय इति च नैर्ऋते रूद्र अनिलेऽभ्यन्तरपदेषु॥[3]

8.4. 81 पद चक्रात्मक देवों में कोणस्थ देव पदन्यास-

आपस्तथापवत्सः पर्जन्योऽग्निर्दितिश्च वर्गोऽयम्।
एवं कोणे कोणे पदिकाः स्युः पञ्च-पञ्च सुराः॥[4]

इससे ईशानादि प्रदक्षिण क्रम से ईशान में आप अग्निकोण में सवित्र, नैर्ऋत्य में जय तथा वायव्य में रुद्र स्थापित करने पर प्रत्येक कोण में एकपदिक चार-चार देवन्यस्त किये जाते हैं। ब्रह्मा के चारों ओर आभ्यन्तरस्थ ईशानादि कोणों के एक-एक देवों के साथ आपवत्सादि प्रदक्षिण क्रम से प्रतिकोणस्थ पाँच-पाँच देव एवं 20 देव = 5×4 व्यवस्थित हैं। इनके पद 4×4=16, 16+4×1=16+4 = 16, 16+4×1 = 16+4=20 पदों को व्याप्त करते हैं।

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 43-45
2. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 46-47
3. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 48
4. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 49

8.5. शेष 20 = 5×4 पदों में न्यास क्रम-

ब्राह्या द्विपदाः शोषास्ते विबुधा विंशति समाख्याताः।
शेषाश्चत्वारोऽन्ये त्रिपदादिक्ष्वर्यमाद्यास्ते॥[1]

अर्थात् बाहर परिधि के 3, 4, 5, 6, 7 संख्यक 5 देव प्रति दिशा पूर्वादि भेद से 5×4 = 20 द्वितीय परिधिस्थ स्व-स्व संमुख पद के अधिपति होते हैं। शेष 16 कोष्ठकों 3×4 में तीन-तीन कोष्ठकात्मक पदों में अर्यमादि चारदेव ब्रह्मा के चारों ओर पूर्वादिक्रम से अवस्थिक होते हैं। इन्हें त्रिपदी कहते हैं। एवं प्रति दिशा में 4×6=24 देव कोणदिशाओं में 5×4=20 देव तथा मध्य में ब्रह्मा सहित 45 मुख्य देवैं पूजित किये जाते हैं। इनमें भी सामान्य पूजन में 33 देव गृहित किये जाते हैं। वराह ने पराशर के आधार पर वास्तु के अन्दर ब्रह्माण्डीय देव क्रम को दिव्यलोक की सापेक्षता से भूमण्डल तक सत्यकेन्द्रस्थ ब्रह्मा से सप्तमलोकस्थ पृथ्वी तक का दैवी वर्गीकरण को वास्तुमण्डल में उतारना **"यद् ब्रह्माण्डे तद् पिण्डेऽपि"** का व्यक्त महाविज्ञान है। काश्यप से द्युलोकीय प्रवर्त्तन से प्रारम्भ कर द्वापरान्तीय पराशर तक के क्रम को वराह ने भले संक्षिप्त में निबद्ध किया लेकिन विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा जी का वैदिक यज्ञविज्ञान के नवीन उद्घाटन तथा म. म. गोपीनाथ कविराज के आगमोक्त विधानों का उद्घाटन तथा म.म. सुधाकर द्विवेदी के ज्योतिषादि तत्त्वोद्घाटन तथा नवीन महाकाशीय विज्ञान तथा भूविज्ञान के आलोक में दैव पदविन्यास इन महाविज्ञानों के योग के बिना जीवन्त संकल्पना की संकल्पना नहीं की जा सकती। अतः सम्बद्ध विशेषज्ञों के लिए वास्तुपुरुष की उत्पत्ति तथा दैवग्रहणाख्यान सम्बद्ध सार्वभौमावास्तु से स्वक्षेत्रवास्तु न्यास तक में प्रयोग अन्वेषण गम्य है।

9. वास्तुपुरुष के अङ्ग विभागों में देवन्यास-

पूर्वोत्तरदिङ्मूर्धा पुरुषोऽयमवाङ्मुखोऽस्यशिरसि शिखी।
आपो मुखेस्तनेऽस्यामर्यमाह्युरस्यापवत्सश्च॥

पर्जन्याद्या बाह्या दृक्श्रवणोरूः स्थलांसगा देवाः।
सत्याद्याः पञ्चभुजे हस्ते सविता च सावित्रः॥

वितथो बृहत्क्षतयुतः पार्श्वे जठरे स्थितो विवस्वांश्च।
ऊरूजानु च जङ्घे स्फिगिति यमाद्यैः परिगृहीताः॥

एते दक्षिण पार्श्वे स्थानेष्वेवं च वामपार्श्वस्थाः।
मेढ्रे शक्रजयन्तौ हृदये ब्रह्मा पिताऽङ्घ्रिगतः॥[2]

इसमें वास्तुपुरुष का नक्षत्रात्मक रूप- संकेतित है। ईशानकोण में मुख (प्रथमारम्भ) शिर करके वास्तुपुरुष स्थित है। इसके शिर पर अग्नि तत्त्वात्मक अग्नि तारा मुख पर अपस् तत्त्वात्मक

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 50
2. तत्रैव श्लो. 51-54

आप, स्तनभाग पर अर्यमा पूर्वफाल्गुनी नक्षत्र का दैवाधिपत्य तथा छाती पर आपवत्स अवस्थित है। बाह्य कोष्ठास्थित पर्जन्यादि देवता एवं दैवताधिपत्य नक्षत्रपुञ्ज नेत्र, कान, छाती में इन्द्र, तथा कन्धे पर सूर्य अवस्थित है। इसके भुजा पर सत्य, भृश, अन्तरिक्ष, अनिल (वायु) तथा पूषा (सूर्य विशेष) दैवत पुञ्जाधिपत्य अवस्थित हैं। इस महाकाशीय वास्तुपुरुष के हाथ में बितथ तथा बृत्क्षत अवस्थित हैं। पेट पर विवस्वान तथा ऊरू भाग पर यम अवस्थित देव हैं। जानु में गन्धर्व हैं। जंघा में भृङ्गराज। कुल्हें में मृग अवस्थित है। यहाँ मृग से मृगमण्डल का भी (Oriyen) बोध होता है। वास्तुपुरुष नीचे सिर ऊपर पैर सिर ईशान में तथा पैर नैऋत्य तथा पश्चिम में इसका अग्रदक्षिण भाग भूपृष्ठ से अग्नि = कृत्तिका वा अग्नि = अग्नितारा से सिर तथा भार्धान्तर दृश्य दक्षिणाङ्ग की तरह उपर्युक्त क्रम से वामाङ्गों के ऊपर भी पृथ्वीधर आदि देवों के निवेश से वास्तुपुरुष की महाकाशीय दिव्य आकृति बनती है।

वास्तुपुरुष के वामाङ्गों पर क्रम से वाम स्तन पर पृथ्वीधर, वाम नेत्र पर दिति, वाम कर्ण पर अदिति, वाम छाती पर भुजंग, वाम कन्धे पर सोम, वाम भुज पर भल्लाट, मुख्य, अहि, रोग और पापयक्ष्मा है। वाम हाथ में रुद्र और राजयक्ष्मा, बगल में वाम कुक्षि पर शोष और असुर, ऊरू में वरुण, जानु में कुसुमदन्त, वाम जंघा पर सुग्रीव तथा कुल्हेपर दौवारिक स्थित है। लिङ्ग में शक्र तथा जयन्त एवं हृदय में ब्रह्मा स्थित है। पांव में पिता (पितर) स्थित है। यह वास्तुपुरुष का द्युलोकीय एवं नभ व्याप्त महाकाशीय रूप भूपृष्ठीय प्रमाण से एक्काशी पद में गृह, ग्राम, नगर, आदि के सम्बन्ध में वास्तुपुरुष के अङ्गों के प्रमाण से पद विन्यास पूर्वक पूजन एवं शान्ति में प्रयुक्त होता है।

टि.- कालनर पुरुष निरयण अश्विन्यादि से रेवत्यन्त अर्थात् निरयण मेषादि से मीनान्त राशिपुञ्ज के प्रमाण से विचारित होते हैं। समग्र मानवीय तथा भूगोलीय प्रमाण निर्धारण में जातक होरा एवं संहिता में यह कालपर विशेष प्रयोजनीय है। वास्तुपुरुष विन्यास में अग्नि से पितर तक का देवप्रमाण नक्षत्राधिपत्य दैवत से सम्बद्ध है। अतः "नक्षत्राणि वै देवगृहाणीति तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण से देवमय वास्तु पुरुष के गृहादि में पद विन्यास से जीवन्तता की संकल्पना पूर्ण वैज्ञानिक है। मानवीय वास्तु में एकाशीतिपदचक्र विमर्शणीय है, वहाँ देव प्रासाद एवं देव मन्दिर में चौंसठ पद के क्षेत्र और उनमें देवताओं का चतुरस्त्र की तरह वृत्त तथा त्रिभुज में भी एकाशीति पद चक्र मानव के लिए तथा चौसठ पद वाले वास्तु नर स्थापना देव मन्दिरादि के लिए वास्तु ग्रन्थों में प्रमाण मिलते हैं।

इनके प्रयोग से मर्म विभाग, कोण से कोण तक सूत्र नियम, पीड़ित मर्म का निर्धारण एवं प्रभाव, पदविन्यास में सूत्राङ्कन काल में शल्यज्ञान, शल्यों के विभाग एवं प्रभाव, विकल वास्तु के दोष एवं अविकल वास्तु में सुख, ग्राम एवं नगर में वास्तु नर विभाग, वर्ण भेद से वास्तु योग्य स्थान निर्धारण, पद विन्यास से गृहमण्डल के 8×4=32 द्वार भेद एवं इनके प्रभाव, द्वारवेध, मार्गवेध,

कोणवास आदि समस्त विधान तथा इनके शुभाशुभ प्रभाव निर्धारण में यह चक्र विन्यास महत्त्वपूर्ण है।

10. पराशर के अनुसार चक्रव्यास-

तत्र बहिर्देवताः प्राक्पर्जन्यकरग्रहमहेन्द्ररविसत्यभृशान्तरिक्षपवनाः।
दक्षिणतः पूषावितथबृहक्षतयमभृङ्गगन्धर्वमृगपितरश्चेति॥
पश्चिमतो दौवारिकसुग्रीवपुष्पदन्तासुरवारुणयक्षरोगशेषाश्चेति।
उदङ्नागराजमुख्यभल्लाटसोमादितिकुबेरनागहुतवहाः॥
तन्मध्ये ब्रह्मा तत्पुरतोऽर्यमा दक्षिणतो विवस्वान्मित्रः।
प्रत्युदक् पृथ्वीधर इति ब्राह्मपदानुषङ्गिनोऽष्टावन्ये॥
आपापवत्सावैश्यान्यां सवित्रसवितारावेवाग्नेय्यां जयेन्द्रौ।
नैऋत्यां रुद्रवायू वायव्यामिति सर्वदेवताः पञ्चत्वारिंशदिति॥[1]

तथान्यैः सहैतेषां पदानामसादृश्यम्।

इसमें देवक्रम में थोड़ा अन्त है। दिति के स्थान पर कुबेर का भी ग्रहण है।

तथा च–

रुद्रा हुताशनश्चैव पिता चानल एव च।
एते कोणगता देवा एकाशीतिपदे स्थिताः॥
चतुःषष्टिपदेऽप्येवं पापयक्ष्माऽत्र न स्थितः।
एभ्योऽन्ये सदृशा ज्ञेयाः सुराः सर्वपदाश्रिताः॥[2]

11. चौसठ पदात्मक क्षेत्र में देवन्यास-

चौंसठ पद का क्षेत्र बनावे (नौ पूर्वापरा और नौ दक्षिणोत्तरा रेखा खींचकर चौंसठ पद का क्षेत्र बनावे) फिर इसके चारों कोनों में कर्णाकार दो-दो रेखायें खींचने से यह क्षेत्र बन जायगा। इस क्षेत्र में मध्यस्थ चार पदों का स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के चारों कोनों में आठ देवता (आप, आपवत्स, सविता, सवित्र, इन्द्र, जयन्त, राजयक्ष्मा और रुद्र) और बाहर के चारों कणों में आठ देवता (शिखी, अन्तरिक्ष, अनिल वा अनल, मृग, पिता, पापयक्ष्मा, रोग और दिति) अर्धपदीय हैं। इनके दोनों तरफ पर्जन्य, भृश, पूषा, भृङ्गराज, दौवारिक, शोष, नाग और अदिति सार्धपदीय (डेढ़ पद के स्वामी) हैं। शेष बीस पद के देवता (जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, वितय, बृहत्क्षत, यम, गन्धर्व, सुग्रीव, कुसुमदन्त, वरुण, असुर, मुख्य, भल्लाट, सोम, भुजग, अर्यमा, विवस्वान्, मित्र, पृथ्वीधर ये बीस देवता) द्विपदीय हैं। यथा-

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 49-50, भटोत्पलटीका।
2. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 49-50 भट्टोत्पलटीका।

अष्टाष्टकपदमथवा कृत्वा रेखाश्च कोणगास्तिर्यक्।
ब्रह्मा चतुष्पदोऽस्मिन्नर्धपदा ब्रह्मकोणस्थाः॥
अष्टौ च बहिष्कोणेष्वर्धपदास्तदुभयस्थिताः सार्धाः।
उक्तेभ्यो ये शेषास्ते द्विपदा विंशतिस्ते हि॥[1]

विशेष–यहाँ पर केवल चतुरस्त्र क्षेत्र में वास्तु नर का प्रदर्शन किया है, किन्तु वृत्त, त्रिकोण, षट्कोण आदि आकृति वाले भी गृह, ग्राम नगर देखे जाते हैं। अतः वृत्त, त्रिभुज आदि में किस तरह वास्तु नर का स्थापन करना चाहिये, उन्हें ग्रन्थान्तर प्रमाण से यहाँ लिख रहा हूँ।

12. वृत्त में इक्यासी पद वाले वास्तु नर का स्थापन क्रम–

इक्यासी पद वाले वृत्त में पाँच वृत्त बनावे, उनमें बाहर के दो वृत्तों में बत्तीस-बत्तीस पद, तीसरे में बारह पद, चौथे में चार पद और पाँचवें में केवल एक पद बनावे। यहाँ मध्य के पाँच पद में ब्रह्मा बाहर के दोनों वृत्तों में दो-दो पद वाले शिखी आदि बत्तीस देवता और अर्यमा आदि चार देवता तीन-तीन पदों में लिखे। इस तरह वृत्त क्षेत्र में इक्यासी पद के वास्तु नर का स्थापन हो जायगा। यथा–

एकाशीतिपदे क्षेत्रे कर्त्तव्यं वृत्तपञ्चकम्।
बाह्ये वृत्तद्वयं यत्तत्पदद्वात्रिंशता युतम्॥
तृतीयं द्वादशपदं चतुर्थं तु चतुष्पदम्।
केवलं पञ्चमं कार्यं ब्रह्मा पञ्चस्ववस्थितः॥[2]

शिख्यादयस्तु द्विपदा बहिविष्कम्भसंस्थिताः।

13. त्रिभुज में इक्यासी पद वाले वास्तु नर का स्थापन क्रम–

इक्यासी पद वाले त्रिभुजाकार वास्तु नर क्षेत्र में पाँच त्रिभुज बावे। उसके प्रथम भाग में दोनों कोनों को छोड़कर पूर्व दिशा के भुजा के आठ भाग करे और अन्य दो भुजाओं के बारह-बारह भाग करे। तीनों कोणों में दिति, वायु और वरुण का स्थापन करे। फिर प्रथम भाग के शेष पदों में शिखी आदि देवताओं का स्थापन करे। इसी तरह द्वितीय भाग के शेष पदों में शिखी आदि देवताओं का स्थापन करे, तथा इस भाग के तीनों कोनों पर भी प्रथम कोणस्थित देवताओं का स्थापन करे और शेष पदों में वास्तु कोष्ठ स्थित शेष देवताओं का स्थापन करे। तृतीय भाग में तीनों दिशाओं में चार-चार पद बनाकर उनमें प्रदक्षिण क्रम से अर्यमा, सवित्र, सविता, विवस्वान्, इन्द्र, जय, हर, राजयक्ष्मा, भूमिधर, आप और आपवत्स का स्थापन करे। चतुर्थ (मध्य) भाग के पाँच पदों में ब्रह्मा का स्थापन करे। इस तरह त्रिभुज क्षेत्र में इक्यासी पद के वास्तु नर का स्थापन हो जायगा। यथा–

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 55-56
2. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 55-56 भट्टोत्पलटीका

त्र्यस्त्राणि पञ्चक्षेत्राणि त्रिकोणे परिकल्पयेत्।
प्राची दिगष्टाधा कार्या कोणवर्ज्या ततः परे॥
रविभागविभक्ते ते वास्तुद्वाराणि तानि तु। दितिं
वायुं जलपतिं कोणेषु त्रिषु विन्यसेत्॥
ततः शिख्यादिकान् सर्वान् शेषेषु विनिवेशयेत्।
द्वितीये पूर्वद्भागाः षोडशाद्विगुणास्ततः॥
तत्रापि कोणत्रितये पूर्वोक्तान् विबुधान् न्यसेत्।
शेषेषु वास्तुकोष्टस्थान् सुरांश्च विनिवेशयेत्॥
क्षेत्रे तृतीये चत्वारि सर्वशाखासु कारयेत्।
प्राग्गतिर्यमसवित्रौ सविता च ततः परम्॥
विवस्वानिन्द्रमित्रौ च जयश्चैव हरस्तथा।
राजयक्ष्मा भूमिधर आपो वत्सयुतः स च॥
चतुर्थे पञ्चभिर्भागैः कृत्वा तन्मध्यगस्तथा।
पितामहो विनिर्दिष्टरत्र्यस्त्रक्षेत्रेऽप्ययं विधिः॥[1]

त्रिभुज में इक्यासी पद वाले वास्तु नर का स्थापन क्रम–

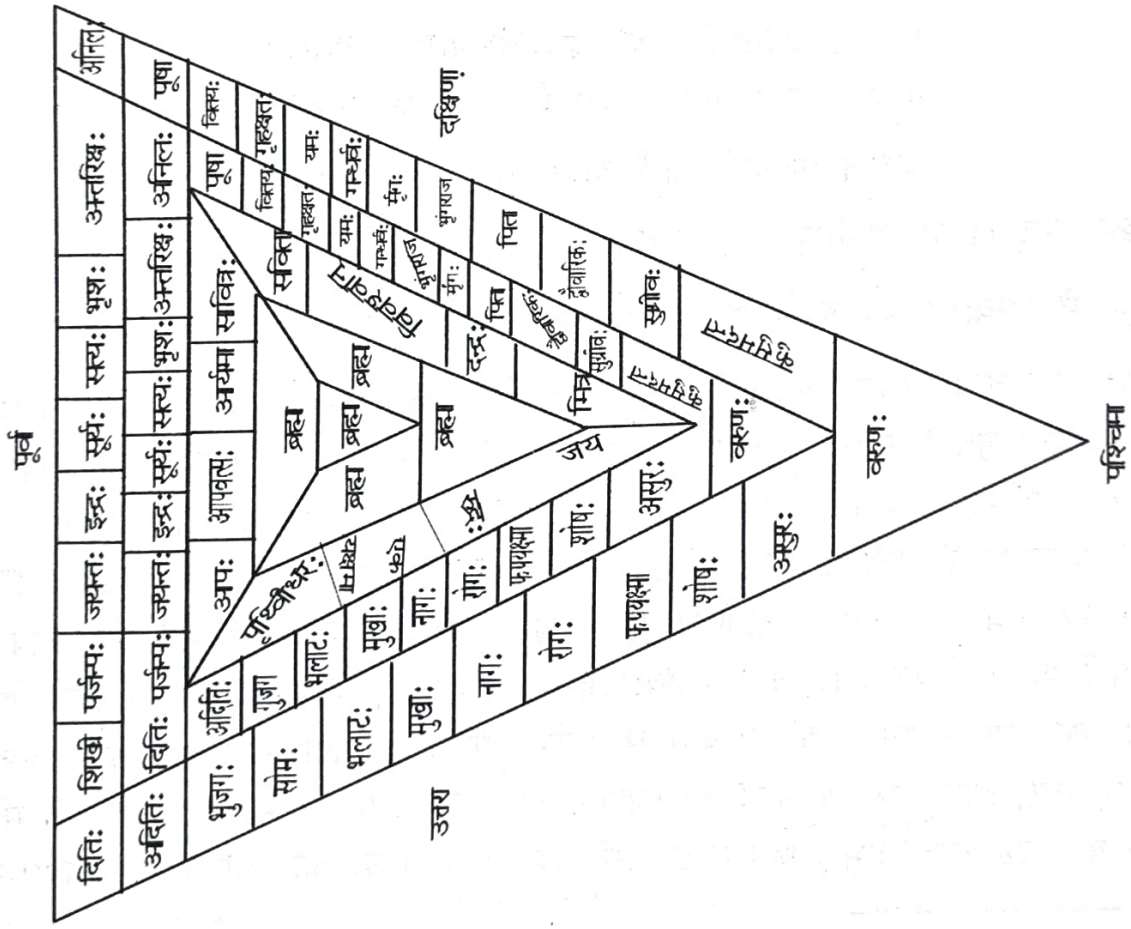

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 55-56 भट्टोत्पलटीका।

14. वृत्त में चौसठ पद वाले वास्तु नर का स्थापन क्रम–

चौंसठ पद वाले वृत्ताकार वास्तु नर क्षेत्र में समानान्तर चार वृत्त बनकर प्रथम वृत्त के बत्तीस, द्वितीय के सोलह, तृतीय के बारह और चतुर्थ के चार भाग बनावे। इसके बाद प्रथम वृत्त में शिखी आदि बत्तीस देवता एकपदीय, द्वितीयवृत्त में अर्यमा आदि आठ देवता द्विपदीय, तृतीय वृत्त में आप आदि चार देवता त्रिपदीय और चतुर्थ वृत्त में ब्रह्मा चतुष्पदीय स्थापित करे। यथा–

वृत्तानि चत्वारि कृत्वा वास्तोश्चतुःषष्टिपदस्य सम्यक्।
अधस्तदर्धेन च सूर्यवेदैर्विभज्यते वृत्तचतुष्टयं च॥
शिख्यादयश्चैकपदे निविष्टाः पदद्वये चार्यमकादयश्च।
आपादयश्च त्रिपदाः प्रतिष्ठाश्चतुष्पदश्चात्र पितामहः स्यात्॥[1]

वृत्त में इक्यासी पद वाले वास्तु नर का स्थापन क्रम–

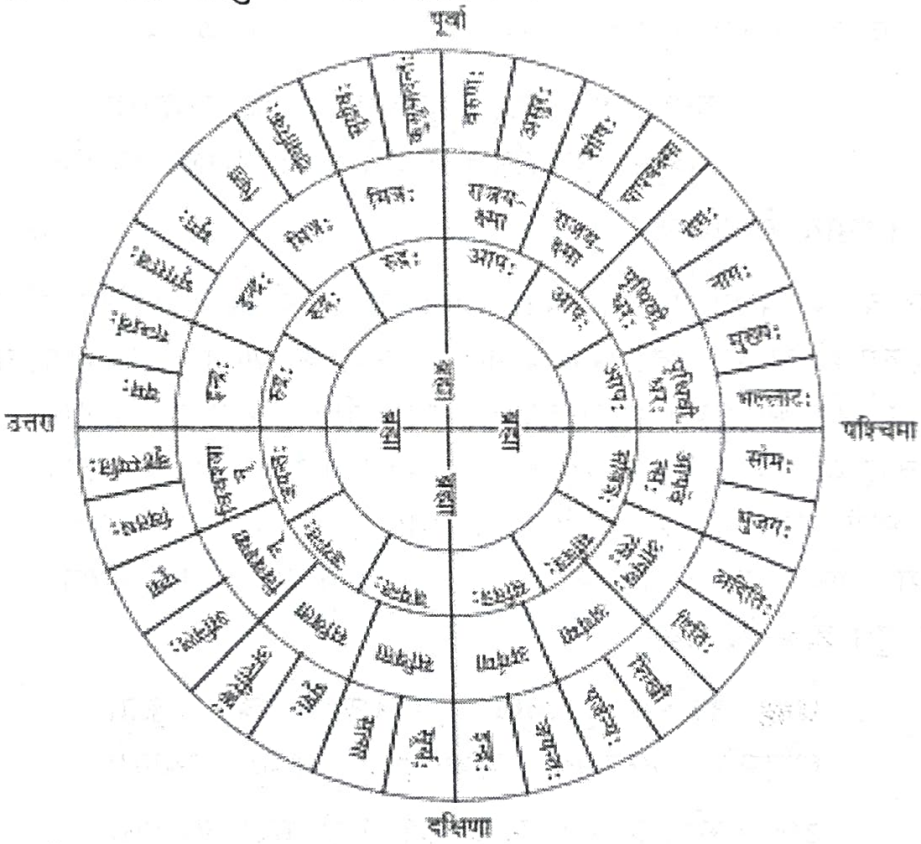

15. मर्म विभाग एवं शुभाशुभ ज्ञान–

पदों के ठीक-ठीक मध्य स्थान में वंशों (कोण से कोण गत सूत्रों) का परस्पर जो सम्पात हो उसको मध्यस्थ मर्म स्थान कहते हैं। बुद्धिमान् पुरुष उन मर्म स्थानों को पीड़ित न करें। यथा–

सम्पाता वंशानां मध्यानि समानि यानि च पदानाम्।
मर्माणि तानि विन्द्यान्न तानि परिपीडयेत्प्राज्ञः॥[2]

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 55-56 भट्टोत्पलटीका।
2. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 57 भट्टोत्पलटीका।

पीड़ित मर्म स्थान का कुप्रभाव-

ये मर्म स्थान अपवित्र भाण्ड आदि वस्तु, कील, खम्भा, आदि (पाषाण आदि) और शस्त्रों से पीड़ित होने पर तत्तुल्य अङ्ग में गृह स्वामी को पीड़ा होती है। अर्थात् पीड़ित मर्म स्थान वास्तु नर के जिस अङ्ग में पड़े तत्तुल्य अङ्ग में गृहस्वामी की पीड़ा होती है। यथा-

तान्यशुचिभाण्डकीलस्तम्भाद्यै पीडितानि शल्यैश्च।
गृहभर्त्तुस्तत्तुल्ये पीडामङ्गे प्रयच्छन्ति॥[1]

शल्यज्ञान प्रकार-

हवन काल या प्रश्न काल में गृह का स्वामी जिस अङ्ग को खुजलावे, वास्तु नर के उस अङ्ग स्थान में शल्य कहना चाहिये। अथवा जिस देवता की आहुति देने के समय अशुभ निमित्त (छीक, रोना, चिल्लाना, पादना, या अशुभ शब्द श्रवण) हो या अग्नि में विकार (विस्फुलिङ्ग, शब्द के साथ दुर्गन्ध) उत्पन्न हो तो उस देवता के स्थान में शल्य कहना चाहिये। यथा-

कण्डूयते यदङ्गं गृहभर्त्तुर्यत्र वाऽमराहुत्याम्।
अशुभं भवेन्निमित्तं विकृतेर्वाग्नेः सशल्यं तत्॥[2]

शल्यों के विभाग से प्रभाव-

काष्ठ का शल्य हो तो धन हानि, हड्डी का शल्य हो तो पशुओं को पीड़ा, और रोगभय, लोहे का शल्य हो तो शस्त्र का भय, कपाल या केश का शल्य हो तो मृत्यु, कोयले का शल्य हो तो चोर भय और भस्म का शल्य हो तो सदा अग्नि भय होता है। तथा सोना और चाँदी के अतिरिक्त कोई अन्य शल्य वास्तुपुरुष के मर्म स्थान में स्थित हो तो अत्यन्त अशुभ होता है। यदि धान्यों की भूसी मर्म स्थान या किसी अन्य स्थान में हो तो धन के आगमन को रोकता है। तथा नागदन्त मर्म स्थान में हो तो दोष पैदा करने वाला होता है। पर मर्म स्थान के अतिरिक्त स्थान में हो तो यह शुभ होता है। यथा-

धनहानिर्दारुमये पशुपीडा रुग्भयानि चास्थिकृते।
लोहमये शस्त्रभयं कपालेशेषु मृत्युः स्यात्॥

अङ्गारे स्तेनभयं भस्मनि च विनिर्दिशोत्सदाग्निभयम्।
शल्यं हि मर्मसंस्थं सुवर्णरजतादृतेऽत्यशुभम्॥

मर्मण्यमर्मगो वा निरुणध्द्यर्थागमं तुषसमूहः।
अपि नागदन्तो मर्मसंस्थितो दोषकृद्भवति॥[3]

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 58
2. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 59
3. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 60-62 (यहाँ पाठ भेद भी प्रतीत होता है।)

कोणसूत्र नियम-

रोग से वायु तक, पिता से शिखी तक, वितथ से शोष तक, मुख्य से भृश तक, जयन्त से भृङ्ग तक और अदिति से सुग्रीव तक पद क्रम से सूत्र बांधे। इन सूत्रों के परस्पर (नौ) नव सम्पात स्थान वास्तुपुरुष के अतिमर्म स्थान हैं। तथा एक पद में अष्टमांश तुल्य मर्म स्थान का परिमाण होता है। यथा-

रोगाद्वायुं पितृतो हुताशनं शोषसूत्रमपि वितथात्।
मुख्याद्भृशं जयन्ताच्च भृङ्गमदितेश्च सुग्रीवम्॥
तत्सम्पाता नव ये तान्यतिमर्माणि सम्प्रदिष्टानि।
यश्च पदस्याष्टांशस्तत् प्रोक्तं मर्मपरिमाणम्॥[1]

वंश और शिरा का प्रमाण-

पूर्व कथित 6 सूत्रों की वंश संज्ञा है तथा वास्तु विभाग के लिये जो पूर्वापरा तथा दक्षिणोत्तरा दश-दश रेखा किये गये हैं उनकी शिरा संज्ञा होती है। वास्तु में एक पाद का विस्तार जितने हाथ हो, उतने अङ्ग.ल एक वंश का विस्तार और विस्तार से ड्योढा शिरा का विस्तार होता है। यथा-

पदहस्तसंख्यया सम्मितानि वंशोऽङ्ग.लानि विस्तीर्णः।
वंशव्यासोऽध्यर्धः शिराप्रमाणं विनिर्दिष्टम्॥[2]

वास्तु संयम से दुःखनाश-

सुख को चाहने वाले स्वामी घर के मध्य में स्थित ब्रह्मा जी की यत्नपूर्वक रक्षा करे। उनके ऊपर उच्छिष्ट (जूठ) आदि (अपवित्र वस्तु) को रखने से गृह स्वामी को पीड़ा होती है। यथा-

सुखमिच्छन् ब्रह्माणं यत्नाद्रक्षेद् गृहान्तःस्थम्।
उच्छिष्टाद्युपघाताद्गृहपतिरुपतप्यते तस्मिन्॥[3]

विकल एवं अविकल वास्तु के प्रभाव-

यदि वास्तुपुरुष के दक्षिण भुजा हीन हो तो धन नाश और स्त्री कृत दोष होता है। वाम भुजा हीन हो तो धन-धान्यों का नाश, शिर हीन हो तो, धन, आरोग्य आदि सब गुणों का नाश तथा चरणहीन हो तो स्त्री दोष, पुत्र की मृत्यु और दासत्व होता है। यदि वास्तुपुरुष के सब अङ्ग पूर्ण हो तो उस स्थान में निवास करने वाले मनुष्य को मान और धन से युत सुख मिलता है। यथा-

दक्षिणभुजेन हीने वास्तुनरेऽर्थक्षयोऽङ्गनादोषाः।
वामेऽर्थधान्यहानिः शिरसि गुणैर्हीयते सर्वैः॥

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 63-64
2. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 65
3. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 66

स्त्रीदोषाः सुतमरणं प्रेष्यत्वं चापि चरणवैकल्ये।
अविकलपुरुषे वसतां मानार्थयुतानि सौख्यानि॥[1]

नगरादि में वास्तुपुरुष विचार-

गृह, नगर, और ग्रामों में इसी प्रकार सभी देवता विराजमान हैं। उन नगर और ग्रामों में ब्राह्मण आदि वर्णों को यथाक्रम निवास करना चाहिये। यथा-

गृहनगरग्रामेषु च सर्वत्रैवं प्रतिष्ठिता देवाः।
तेषु च यथानुरूपं वर्ण विप्रादयो वास्याः॥[2]

वर्ण भेद से नगर एवं ग्रामवास एवं द्वार भेद-

ब्राह्मण आदि वर्ण क्रम से उत्तर आदि दिशा में वासगृह बनावे। जैसे ब्राह्मण उत्तर में, क्षत्रिय पूर्व में, वैश्य दक्षिण में और शूद्र पश्चिमम में निवास स्थान बनावे। गृह इस तरह बनाना चाहिये जिससे कि आङ्गन में प्रवेश करते समय वे गृह दक्षिण तरफ पड़े। जैसे पूर्व मुख वाले गृह के आङ्गन का द्वारा उत्तर में, दक्षिण मुख वाले गृह के आङ्गन का द्वार पूर्व में, पश्चिम मुख वाले गृह के आङ्गन का द्वार दक्षिण में, और उत्तर मुख वाले गृह के आङ्गन का द्वार पश्चिम में बनाना चाहिये। यथा-

वासगृहाणि च विन्द्याद्विप्रादीनामुददिग्दगाद्यानि।
विशतां च यथा भवनं भवनित तान्येव दक्षिणतः॥[3]

कोण से कोण तक सूत्र करने का नियम-

रोगद्वायुं पितृतो हुताशनं शोषसूत्रमपि वितयात्।
मुख्याद्भृशं जयन्ताश्च भृंगमदितेश्च सुग्रीवम्॥[4]

यहाँ आचार्य ने वंश और रज्जु का विभाग नहीं किया है। अतः प्रसङ्गवश वास्तु विद्या में कथित विभाग को यहाँ लिखते हैं। यथा-

रोगाद्वायुं नयेत् पितृतोऽथ हुताशनम्।
एतत् सूत्रद्वयं प्रोक्तं मुनिभिर्वश संज्ञितम्॥
वितथाच्छोषकं चान्यदभृशं मुख्यत्तथा नयेत्।
जयन्ताद्भृङ्गराजाख्यं सुग्रीवमदितेस्तथा॥

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 67-68
2. तत्रैव, श्लोक 69
3. तत्रैव, श्लोक 70
4. तत्रैव, श्लोक 57 भट्टोत्पलटीका।

एतच्चतुष्टयं प्रोक्तं रज्जुसंज्ञां मनीषिभिः।[1]

चारों दिशाओं में बत्तीस द्वार एवं उनके प्रभाव-

एक्यासी पद में नवगुणित सूत्र से और चौंसठ पद से अष्टगुणित सूत्र से विभक्त होकर जो बत्तीस द्वार बने हैं। क्रम से उनके फल का प्रदर्शन कर रहे हैं। यथा–

नवगुणसूत्रविभक्तान्यष्टगुणेनाथवा चतुःषष्टे।
द्वाराणि यानि तेषामनलादीनां फलोपनयः॥[2]

पूर्वद्वार-

शिखी से लेकर अन्तरिक्ष तक आठ देवता पूर्व में हैं। उनमें शिखी के ऊपर द्वार हो तो अग्नि भय, पर्जन्य के ऊपर द्वारा हो तो कन्या जन्म, जयन्त के ऊपर द्वार हो तो धन, इन्द्र के ऊपर द्वार हो तो राजा की प्रसन्नता, सूर्य के ऊपर द्वार हो तो क्रोधी स्वभाव, सत्य के ऊपर हो तो असत्य भाषण, भृश के ऊपर द्वार हो तो क्रूरता और अन्तरिक्ष के ऊपर द्वार हो तो तस्करत्व आता है। यथा–

अनिलभयं स्त्रीजननं प्रभृतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधपरतानृतत्वं क्रौर्य चौर्यं च पूर्वेण॥[3]

दक्षिण द्वार-

अनिल से लेकर मृग तक आठ देवता दक्षिण में हैं। अनिल के ऊपर द्वार हो तो अल्प पुत्र, पौष्ण के ऊपर दासत्व, वितथ के ऊपर नीचता, बृहत्क्षत के ऊपर भोजन, पानवस्तु और पुत्रों की वृद्धि, याम्य के ऊपर अशुभ, गन्धर्व के ऊपर कृतघ्नता, भृङ्गराज के ऊपर निर्धनता और मृग के ऊपर द्वार हो तो पुत्र के बल की हानि होती है। यथा–

अल्पसुत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भभ्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन॥[4]

पश्चिम द्वार–

पिता से लेकर पापयक्ष्मा तक आठ देवता पश्चिम में हैं। पिता के ऊपर द्वार हो तो पुत्रों को पीड़ा, दौवारिक के ऊपर शत्रु की वृद्धि, सुग्रीव के ऊपर पुत्र और धन का लाभ, कुसुमदन्त के ऊपर पुत्र और धन सम्पत्ति की प्राप्ति, वारुण के ऊपर धन सम्पत्ति, असुर के ऊपर राजभय, शोष के ऊपर धननाश तथा पापयक्ष्मा के ऊपर द्वार होने पर रोग होता है। यथा–

सुतपीडा रिपुवृद्धिर्न सुतधनाप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 57 भट्टोत्पलटीका।
2. तत्रैव, श्लोक 71
3. तत्रैव, श्लोक 72
4. तत्रैव, श्लोक 73

धनसम्पन्नृपितिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे॥[1]

उत्तर द्वार–

रोग से लेकर दिति तक आठ देवता उत्तर में हैं। उन में रोग के ऊपर द्वार हो तो मृत्यु और बन्धन, सर्प के ऊपर द्वार हो तो शत्रु की वृद्धि, मुख्य के ऊपर द्वार हो तो पुत्र और धन का लाभ, भल्लाट के ऊपर द्वार हो तो सम्पूर्ण शैर्यादि गुणों की सम्पत्ति, सोम के ऊपर द्वार हो तो पुत्र से द्वेष, अदिति के ऊपर द्वार हो तो स्त्री के द्वारा दोष तथा दिति के ऊपर द्वार हो तो निर्धनता होती है। यथा–

बधबन्धो रिपुवृद्धिः सुतधनलाभः समस्तगुणसम्पत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषाः स्त्रिया नैःस्वम्॥[4]

द्वार वेध का प्रभाव–

यदि मार्ग, वृक्ष, दूसरे घर का कोना, कूप, खम्भा या भ्रम (जल निकलने की मोरी) से गृह द्वार विद्ध होता हो तो अर्थात् ये सब द्वार के सम्मुख हो तो अशुभ हैं। गृह द्वार की जितनी ऊँचाई हो उससे द्विगुणित भूमि को छोड़कर आगे वेध करते हुये भी इन मार्गादि का रहना दोषद नहीं है। यथा–

मार्गतरुकोणकूपतस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
उच्छ्रायाद्द्विगुणमितां त्यक्ता भूमिं न दोषाय॥[3]

विषय भेद से द्वारवेध का प्रभाव–

यदि गृह मार्ग से वेधित हो तो गृह स्वामी की मृत्यु, वृक्ष से वेधित हो तो बालकों में दोष, पङ्क (कीचड़) से वेधित हो ताो शोक, मोड़ी से वेधित हो तो व्यर्थ खर्च, कूप से वेधित हो तो मृगी रोग की उत्पत्ति, देवता की प्रतिमा से वेधित हो तो गृहस्वामी का नाश, स्तम्भ से वेधित हो तो स्त्रियों में दोष और ब्रह्मा के सम्मुख हो तो कुल का नाश होता है। यथा–

रथ्याविद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुणा।
पङ्कद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनिःस्राविणी देवता विद्धे॥
कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवता विद्धे।
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्रह्मणोऽभिमुखे॥[4]

द्वार कपाट एवं प्रमाण से शुभाशुभत्व–

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 74
2. तत्रैव, श्लोक 75
3. तत्रैव, श्लोक 76
4. तत्रैव, श्लोक 77–78

जिस गृह के द्वार का किवाड़ बिना खोले ही खुल जाय तब, उसमें रहने वाले को उन्माद, अपने आप बन्द हो जाय तो कुल का नाश, पूर्व कथित परिमाण से अधिक द्वार का परिमाण हो तो राजभय, और प्रमाण से अल्प हो तो चोर भय और दुःख होता है। यदि एक घर के द्वार पर दूसरे खण्ड का द्वार पड़े तो शुभ नहीं होता है। जिस द्वार की मोटाई अल्प हो, वह भी शुभ नहीं होता है। मृदङ्ग की आकृति वाला अति विपुल द्वार क्षुधा भय करता है और कुबड़ा द्वार कुल का नाश करता है। यदि ऊपरी काष्ठ आदि के भार से दबा हुआ द्वार हो तो गृह स्वामी को पीड़ा करता है। भीतर की ओर झुका हुआ द्वार हो तो गृह स्वामी की मृत्यु होती है, बाहर की ओर झुका हुआ द्वार गृह स्वामी को प्रवासी बनाता है और दिग्भ्रान्त (जिस दिशा का द्वार हो उससे भिन्न दिशा को देखता) हो तो गृह स्वामी को चोरों से पीड़ित करता है। यथा–

उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशः।
मानाधिके नृपभयं दम्युभयं व्यसनमेव नीचे च॥

द्वारं द्वारस्योपरि यत्तन्न शिवाय सङ्कटं यच्च।
आव्यात्तं क्षुद्भयदं कुब्जं कुलनाशकं भवति॥

पीडाकरमतिपीडितमन्तर्विनतं भवेदभावाय।
बाह्यविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभिः पीडा॥[1]

द्वार सौन्दर्य साधन–

जितने सुन्दरता के सामान लेकर मूल द्वार की रचना की गई हो, उसी तरह से अन्य द्वार की रचना नहीं करनी चाहिये। कलश, श्रीफल, पत्र, पुष्प आदि से उस मुख्य द्वार की शोभा बढ़ानी चाहिये। यथा–

मूलद्वारं नान्यैर्द्वारिरभिसन्दधीत रूपर्द्ध्या।
घटफलपत्रप्रमथादिभिश्च तन्मङ्गलैश्चिनुयात्॥[2]

गृह के बाहर कोणवास का प्रभाव–

गृह के बाहर ईशान आदि चारों कोनों में क्रम से चरकी, विदारिका, पूतना और राक्षसी निवास करती है। पुर, भवन और ग्राम के जो कोने हों उनमें निवास करने वाले को दोष होता है। किन्तु श्वपच (चाण्डाल आदि), अन्त्यज आदि की वहाँ (कोने में) निवास करने से उन्नति होती है। यथा–

ऐशान्यादिषु कोणेषु संस्थिता बाह्यतो गृहस्यैताः।
चरकी विदारिनामाऽथ पूतना राक्षसी चेति॥

पुरभवनग्रामाणां कोणास्तेषु निवसतां दोषाः।

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 79-81
2. तत्रैव, श्लोक 82

श्वपचादयोऽन्त्यजात्यास्तेष्वेव विवृद्धिमायान्ति॥[1]

शास्त्रान्तर में कोण स्थित आठ देवता-

स्कन्दोऽर्यमा जम्बुकाख्यः पिलिंपिञ्चस्तथा परः।
प्राच्यादिर्दिक्चतुष्के तु निवसन्ति महाग्रहाः॥[2]

यहाँ पर आचार्य-

ऐशान्यां चरकी प्रोक्ता स्कन्दः प्राग्भागसंस्थितः।
हौताशन्यां विदारी च याम्यां चैववार्यमा स्थितः॥
पूतना नैऋते ज्ञेया जम्बुकः पश्चिमे स्थितः।
राक्षसी चानिले कोणे पिलिंपिञ्चस्तथोत्तरे॥[3]

यहाँ पर गर्ग के प्रमाण से वृक्ष विचार-

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा।
न्यग्रोधं पश्चिमे भागे उत्तरे चाप्युदुम्बरम्॥
अश्वत्थे तु भयं ब्रूयात् पक्षे ब्रूयात्पराभवम्।
न्यग्रोधे राजतः पीडा नेतामयमुदुम्बरे॥
वटः पुरस्ताद्धःस्याद्दक्षिणेचाप्युदुम्बरः।
अश्वत्थः पश्चिमे भागे प्लक्षस्तूत्तरतो भवेत्॥[4]

यथा-

याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते।
उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटोदुम्बराश्वत्थाः॥[5]

गृह समीपस्थ वृक्षों के प्रभाव-

काटेदार वृक्ष के गृह-समीप में रहने से शत्रु भय होता है। दूध वाला वृक्ष गृह समीप में रहने से धन नाश होता है। फल वाले वृक्ष के गृह समीप में रहने से सन्तति का नाश होता है। इनके काष्ठ भी गृह में लगाने से शुभ नहीं होता है। यदि उपर्युक्त काटेदार आदि वृक्षों को काट कर उनकी जगह पुन्नाग, अशोक, अरिष्ट, बकुल, कटहल, शमी या शाल रोप दिये जायँ ततो उपर्युक्त

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 83-84
2. तत्रैव, श्लोक 82
3. तत्रैव, श्लोक 83-84 भट्टोत्पलटीका
4. तत्रैव, श्लोक 83 भट्टोत्पलटीका
5. तत्रैव, श्लोक 85

दोष नहीं होता है। यथा-

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय।
फलिनः प्रजाक्षयकरा दारुण्यपि वर्जयेदेषाम्॥

छिन्द्याद्यदि न तरूस्तान् तदन्तरे पूजितान् वपेदन्यान्।
पुन्नागाशोकारिष्टबकुलपनसान् शमीशालौ॥[1]

प्रशस्त भूमि-

प्रशस्त औषधी वाली, द्रुम (याज्ञिक वृक्ष = पलाश आदि) वाली, लताओं से युत, मधुर मिट्टी वाली, सुगन्धित, निर्मल, समान और छिद्र रहित भूमि मार्ग में गमन से उत्पन्न श्रम को हटाने की इच्छा से वहाँ पर थोड़ी देर के लिये बैठे मनुष्य को भी लक्ष्मी देती है, तो जिनके घर के पास में सदा ही रहती है, उनकी क्या बात! अर्थात् उनको लक्ष्मी अवश्य ही देती है। यथा-

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा
स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम्।

अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां
धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु॥[2]

गृह समीप अन्य गृह का प्रभाव-

गृह के समीप में मंत्री का घर हो तो धन नाश, धूर्त्त का गृह हो तो पुत्र नाश, देवता का गृह हो तो चित्त में खेद, चौराहा हो तो अकीर्ति और चैत्य (प्रधान) वृक्ष हो तो ग्रहों का भय होता है। दीमक (बांबी = दिवाड़) युत हो पोली भूमि गृह के समीप हो तो गृह स्वामी के ऊपर आपत्ति आती है। गृह के समीप गड्ढा हो तो प्यास का रोग और कछुए के समान आकृति वाली भूमि गृह के समीप हो तो धन नाश होता है। यथा-

सचिवालयेऽर्थनाशो धूर्त्तगृहे सुतबधः समीपस्थे।
उद्वेगो देवकुले चतुष्पथे भवति चाकीर्त्तिः॥

चैत्ये भयं ग्रहकृतं वल्मीकश्वभ्रमसङ्क.ले विपदः।
गर्त्तायां तु पिपासा कूर्माकारे धनविनाशः॥[3]

इस प्रकार 81 पद चक्र तथा 64 पद चक्र काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें बृहत्संहिता को प्रमाण मानकर विश्लेषण किया गया। सभी वास्तुग्रन्थ इन प्रमाणों को प्रदर्शित किये हैं।

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 86-87
2. तत्रैव, श्लोक 88
3. तत्रैव, श्लोक 89-90

स्तम्भन्यास विमर्श

डॉ. सुधीर कुमार

भारतीय वास्तुशास्त्र की यह विशिष्टता है कि इसमें दिक् देश और काल को विशेष महत्व दिया गया है। वैदिक विद्याओं में वास्तुशास्त्र ही एक ऐसी विद्या है, जिसमें आवासीय एवं अन्य कार्यों के लिए निर्मित भवनों में पंचमहाभूतों के सन्तुलन को प्राथमिकता दी गई है। साथ ही उस भवन में रहने वाले मनुष्यों के क्रियाकलापों में भी ऊर्जा, स्फूर्ति एवं सन्तुष्टि का संचार होता है।

मनुष्य जीवन को सुखी, समृद्ध, मान-सम्मान युक्त, सुरक्षित एवं शान्तिमय बनाने के लिए जिन-जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है उन सब में महत्वपूर्ण गृह निर्माण है। चारों वर्णों के भरण-पोषण का कार्य गृहस्थ का ही होता है।

अतः गृहस्थ को वास्तु शास्त्र सम्मत गृह या भवन का निर्माण करना आवश्यक है। पुराणों में कहा गया है कि दूसरे के गृह में रह कर की गई सभी श्रौत स्मार्त क्रियाएं निष्फल होती हैं , उन क्रियाओं का फल गृहस्वामी को ही प्राप्त होता है। समर्थता के अनुसार प्रत्येक प्राणी को छोटा या बड़ा अपने लिए एक गृह अवश्य बनाना चाहिए।

परगेह कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तादिकाः क्रिया।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[1]

वहीं गृह के महत्व को बतलाते हुए कहा है कि -

स्त्रीपुत्रादिकेसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्।
जन्तूनां लयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।।

वापीदेवगृहादि पुण्यमखिलं गेहात्समुप्पद्यते।
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।[2]

वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करता है, उसे वास्तु कहते हैं।

संस्कृत वाङ्मय के अर्वाचीन साहित्य से ही भवन निर्माण विद्या का चित्र स्पष्ट हो जाता है। इस धरातल पर मानव का प्रथम निवास स्थान वृक्ष था परन्तु शनैः-शनैः उन्नति के पथ पर

1. भविष्यपुराण उद्धृत् वृहद्वास्तुमाला 1.7
2. भविष्यपुराण उद्धृत् राजवल्लभमण्डनम् 1.5

अग्रसर होते हुए भवन निर्माण कला कुटजों से होती हुई भव्य एवं अलंकृत भवनों तक पहुँच गई। भवन-निर्माण विद्या यद्यपि चरम पर है तथापि इसके अंकुर वैदिक साहित्य में पनपते ही दिखाई देते हैं। वैदिक संहिताओं से जानकारी प्राप्त होती है कि तत्कालीन लोग भवन-निर्माण कला के सभी आधारभूत तत्वों से अच्छी तरह परिचित थे। प्राय: उनके आवास गृह काष्ठ, बांस, घास-फूंस और पश्चात् काल में ईट, छत, स्तम्भ नींव आदि से निर्मित थे।[1]

भवन-निर्माणार्थ दिशा, स्थान एवं भूमि चयन आदि प्रक्रियाएं आवश्यक मानी गई हैं। मनुष्य जीवन इन घटकों के शुभाशुभ फलों से पूर्णत: प्रभावित होता है। मत्स्यपुराण में चारों वर्णों के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न स्वादों वाली भूमि को भवन-निमार्ण के लिए सर्वथा उपयुक्त माना गया है-

विप्राणां मधुरास्वादा कटुका क्षत्रियस्य तु।
तिक्ता कषाया च तथा वैश्यशूद्रेषु शस्यते।।[2]

समरांगण सूत्रधार में भवन-निमार्ण हेतु भूमिचयन विविध परिमापों पर किया गया है[3]

उदाहरणत: - 1. वर्णानुरूप 2. स्वादानुरूप 3. स्पर्शानुकूल 4. शब्दानुरूप आदि।

स्तम्भन्यास:

प्राचीन भारतीय गृहवास्तु के अनुसार भवन-निमार्ण में स्तम्भों का महत्व सर्वोच्च है। अथर्ववेद के दो सूक्तों में भवन निमार्ण की प्रक्रिया का वर्णन बड़े विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।[4] स्तम्भ न्यास का प्रचलन वैदिक कालीन भवन-निर्माण कला से भी प्राप्य है- घर बनाने के लिए लकड़ी के खम्भें (उपमित) गाड़े जाते थे जिन पर सीधी या तिरछी (आड़ी) धरने (प्रतिमित और परिमित) रखी जाती थी। इन धरनों के ऊपर बांस के (बड़े-बड़े/स्थूल) काष्ठ रख कर सर्वोपरि "अक्षु" रखा जाता था। "अक्षु" (सहस्त्र चक्षु) का अभिप्राय - "धूम निर्गमन हेतु छेदों" ऐसा जान पड़ता है। छाजन के लिए पलद और तृण स्थापित कर उन्हें पूर्णत: रज्जु से बांध दिया जाता था। दूसरी प्रकार के भवन या गृह में लकड़ी का विशेष प्रयोग किया जाता था। लकड़ी से निर्मित भवनों में खम्भों (स्कम्भ, स्थाणु, स्थुणा) की बहुलता ही विशेष थी। वैदिक काल में राजमहलों में हजार खम्भों तक भी होते थे।[5]

पुराणों में स्तम्भन्यास की प्रक्रिया प्राथमिकता के आधार पर वर्णित है। तदानुसार भवन-निर्माण करते समय सर्वप्रथम स्तम्भारोपण करना चाहिए। कूप एवं बावलियों के लिए भी इसी

---

1. अथर्ववेद 1.1.2, 3.12, 6.3
2. म.पुराण-253.12(उ.)-13(पू.)
3. समरांगण सूत्रधार 10.48,49,50,51.
4. अथर्व. 3/12, 6/3
5. ऋ0 1/167/3

कार्य का विधान उपलब्ध होता है-

स्तम्भोचछ्रायादि कर्त्तव्यमन्यतुपरिवर्जयेत्।
प्रासादेष्वेवमेवं स्यात्कूपवापीषु चैव हि॥[1]

इसी पुराण में पाँच प्रकार के स्तम्भों का वर्णन उपलब्ध होता है-

1.	रूचक	-	चतुष्कोण स्तम्भ
2.	वज्र	-	अष्टकोण स्तम्भ
3.	द्विवज्र	-	षोडशकोण स्तम्भ
4.	प्रलीनक	-	द्वात्रिंशत कोण स्तम्भ
5.	वृत्त	-	वृत्ताकार स्तम्भ

रुचकश्चतुरः र्स्यातु अष्टास्त्रो वज्र उच्यते।
द्विवज्रः षोडशास्त्रस्तु द्वात्रिंशास्त्रः प्रलीनकः॥

मध्यप्रदेशे यः स्तम्भोवृत्तो वृत्त इति स्मृतः।
एते पञ्च महास्तम्भाः प्रशस्ताः सर्ववास्तुषु॥[2]

उपर्युक्त स्तम्भ आकृति भेद के कारण ही भिन्न दिखाई देते हैं। गृह-निर्माण के सर्वविधाओं में ये सभी पाँच प्रकार के स्तम्भ प्रशस्त कहे गये हैं। अर्थात् जनसाधारण के आवास, राजभवन, जलाशयों आदि के निर्माण तथा देवालय निर्माण में इन्ही पाँच प्रकार के स्तम्भों का प्रयोग करना उचित है। बृहत्संहिता में भी इन पाँच स्तम्भों का वर्णन इस प्रकार है-

समचतुरस्रो रुचको वज्रोऽष्टास्त्रिर्द्विवज्रको द्विगुणः।
द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृतः॥[3]

समराङ्गण सूत्रधार में केवल चार प्रकार के स्तम्भों - पद्मक, घटपल्लवक, कुबेर तथा श्रीधर आदि का ही उल्लेख प्राप्त है।[4] अधिक से अधिक स्तम्भों का प्रयोग भवन के आयाम प्रकर्ष का कारण माना जाता था। उदाहरणतः ब्रह्माण्ड पुराण में मनु का विशाल भवन सहस्र स्तम्भों से युक्त -**"सहस्रस्तम्भशालस्यान्तरमारुतयोजने"**।[5] एवं शिव की नगरी में स्थित भवन रत्न स्तम्भ

1. मत्स्यपुराण 253.10)
2. मत्स्यपुराण 255.2(3)-4(पू0)
3. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक 28
4. सं0 सू0, 28.24-33
5. ब्र0 पु0, 4/35/1 मत्स्यपुराण, 255/10-18,21-22

से निर्मित थे। **रत्नस्तम्भकपाटैः**[1] विष्णु पुराण में भी स्वर्णनिर्मित स्तम्भ एवं दर्पण युक्त स्तम्भों का वर्णन प्राप्त होता है- **आकृष्य च महास्तम्भं जातरूपमयं** --------।[2] **स्तम्भस्थदर्पण स्येव**----------।[3] मत्स्य पुराण में भी बुध के भवन में रत्न स्तम्भों का प्रयोग वर्णित है। -

रत्नस्तम्भसमायुक्तम् ----------।[4]

इन उदाहरणों से विदित होता है कि पौराणिक काल में स्तम्भन्यास विधि भवन निमार्ण के लिए उपयोगी, शोभा-वर्धक एवं भव्य स्वरूप बनाने वाली थी। यद्यपि दर्पण, रत्न, सुवर्ण, मोती आदि रत्नों का प्रयोग स्तम्भों को आकर्षित बनाने के लिए किया जाता था तथापि सुदृढ़ता की दृष्टि से धातु निर्मित स्तम्भ ही निमार्णार्थ उपयुक्त माने जाते थे।

रामायण कालीन भवनों में सुवर्ण के बड़े-बड़े स्तम्भ एवं स्थान-स्थान पर सुन्दर वेदिकाएं बनी हुई थी।

सुवर्ण स्तम्भगहनं वेदिकाभिः समन्ततः।।[5]

महाभारत में यत्र-तत्र रत्नों के यज्ञस्तम्भ और सुवर्ण के मन्दिर केवल भवन शोभार्थ बनाए गए।

यत्र यूपा मणिमयाश्चित्याश्चापि हिरण्मयाः।
शोभार्थ विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कुताः।।[6]

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में रंगमंच एवं नाट्य मंडप के निमार्ण हेतु विभिन्न संख्या एवं वर्ग के स्तम्भों का प्रयोग किया है। यथोल्लिखितः - मंच पर दस स्तम्भों पर छत खड़ी करनी चाहिए। यथा-**दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाशस्ता मण्डपधारणे।**[7]

निपुण वास्तुकार को विभिन्न स्थलों पर छत को सुदृढ़ सहारा देने के लिए छः अन्य स्तम्भ लगाने चाहिए -

---

1. ब्र0 पु0, 3/32/10
2. वि0 पु0, 5/28/25
3. वि0 पु0, 2/11/16
4. मत्स्य पुराण 11/64
5. वा0 रा0, उत्तरकाण्ड, पूर्वाद्र्ध प्रक्षिप्त 1/2
6. महा0 , सभापर्व 3/113
7. नाट्यशास्त्र 2/89

षडन्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान् यथादिशम्।[1]

मंच के दोनों ओर चार-चार स्तम्भों वाली मत्तवारणी होनी चाहिए -

पूर्व प्रमाणनिर्दिष्टा कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतुः स्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः।।[2]

अर्थशास्त्र में भी आवश्यकतानुसार प्रत्येक सम्भावित कक्ष एवं उस की उपयोगिता एवं सुदृढ़ता को वास्तु की दृष्टि से पूर्णतः ध्यान में रखा गया है। यहां पण्य गृह के निर्माण में खुले एवं स्तम्भों से युक्त बरामदों का उल्लेख आया है - **"पक्केष्टकास्तम्भं चतुः शालमेकद्वारमनेकस्थानतलम् विवृतस्तम्भापसारमुभयतः पण्यगृहं कोष्ठागारं च ।**[3] ऐतिहासिक काव्य राजतरङ्गिणी में स्तम्भन्यास के स्वरूप स्तूपों एवं चतुःशाला का उल्लेख प्राप्त होता है -

"अथेन्द्रेवीभवनपिन्द्रदेव्याभिधा व्यधात।
विहारं सचतुःशाला स्तूपं भूपप्रियाऽपरा।।"[4]

इसके अतिरिक्त कथा साहित्य भी स्तम्भन्यास कला से अछूता नहीं रहा है। वहां विशाल तथा माणिक्य सुसज्जित राजभवनों का चित्र वर्णित है। राजभवन में स्थापित मणिक्य स्तम्भ एवं सुवर्ण भित्तियों से चमचमाते भवन का वर्णन "सम्पत्तियों का निवास स्थान" के रूप में किया है-

सोऽपि प्राप्तस्तदद्राक्षीन्माणिक्य स्तम्भभास्वरम्।
सौवर्णभित्तिसङ्केत केतनं सम्पदामिव।।[5]

प्रमुख कवियों की श्रेणी में कालिदास, भास, बाण, हर्ष, त्रिविक्रमभट्ट जैसे महान रचनाकारों ने भी अपनी रचनाओं में वास्तुविद्या के अन्तर्गत स्तम्भन्यास के विषयों को चित्रित किया है। क्रमशः उदाहरणतः -

रघुंवश में यूप बलि - जो पशु बांधने का स्तम्भ था। सरयू नदी के तट पर यज्ञ स्थानों में बलि पशुओं को बांधने के लिए स्तम्भों का प्रयोग - **वेदिप्रतिष्ठान्विततावराणां यूपानपश्यच्छतशो रघुणाम्।**[6] अभिषेक नाटक में भव्य मणियों तथा प्रवालों से सुसज्जित लंका नगरी का वर्णन प्राप्त

---

1. ना0शा0 2/92
2. ना0शा0 2/99
3. कौटिल्य अर्थशास्त्र 2/5/23
4. राज0 त0 3/13
5. कथासरित्सागर 5/3/44
6. रघु0 16/35

होता है - **कनक रचिताचित्रतोरणाढया मणिवरविद्रुशोभितप्रदेशा।**[1] बाण के काव्य हर्ष चरित एवं कादम्बरी में राजकुल भवनों के अन्तर्गत धवलगृह, चतुःशाला एवं स्तम्भों के मध्य खुले मार्गों का वर्णन है जिसे कवि बाण ने **'सुवीथी'** की संज्ञा दी है - **त्रिगुणतिरस्कारिणीतिरोहित सुवीथीपथे।**[2] नैषधमहाकाव्यादि में वास्तुकला का प्रचुर मात्रा में वर्णन प्राप्त नहीं होता। अपितु चित्रकला अपनी चरम सीमा पर थी। चित्रित भित्तियों एवं भवन सज्जा के माध्यम से वास्तुकला पक्ष संकेतित हो जाता है।[3] चम्पूकाव्यों की श्रेणी में नलचम्पू काव्य में विकसित चित्र कला एवं वास्तुशास्त्र में प्रसिद्ध भूषणों से विभूषित पताका चिह्न, उन्नत, शिखर, मणिनिर्मित भवनादि का वर्णन उल्लिखित है। इन भवनों के कलात्मक स्तम्भ स्वर्ण निर्मित होते थे।

क्षणादेवोत्तम्भितशातकुम्भ स्तम्भभवने --------।[4]

ऐतिहासिक काव्य शिवराजविजय में शिल्पकारों ने मन्दिर निमार्ण में अपनी कला को प्रदर्शित किया है। गुजरात में स्थित सोमनाथ मन्दिर का वैभव लोकोत्तर था। इस मन्दिर के किवाड़, खम्भें, दीवारें, छज्जे बहुमूल्य वैदूर्य, पद्मराग, हीरे और मोती से जड़े हुए थे।[5]

उक्त प्रमुख कवियों की रचनाओं में वास्तुकला के अभिन्न अंग 'स्तम्भन्यास' का वर्णन किया गया है। भवन निर्माण चाहे किसी भी रूप या प्रकार का हो, स्तम्भ उस इमारत का आधार होते हैं, जो भवन की सुदृढ़ता बनाए रखते हैं।

स्तम्भ सौन्दर्यकरणः-

किसी भी भवन में निर्मित स्तम्भ जहाँ उस की छतों को सुदृढ़ बनाते हैं वहीं उन स्तम्भों की सुसज्जा भवन के सौन्दर्य में वृद्धि करती है। वास्तुकला के अन्तर्गत स्तम्भ सौन्दर्य के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा- सुवर्ण निर्मित, मणि जड़ित, दर्पण युक्त आदि स्तम्भ। उपर्युक्त कवि एवं काव्यों की परम्परा में यत्र-तत्र इनके उदाहरण बिखरे पड़े हैं।

स्तम्भ को सुसज्जित करने का विधान बताते हुए **"मत्स्यपुराण"** में कहा गया है - स्तम्भ को नौ भागों में विभक्त कर उसके प्रत्येक भाग में क्रमशः पद्म, लतावल्ली, कुम्भ, पत्र एवं दर्पण आदि चित्रित करने चाहिए। प्रत्येक में स्तम्भ की ऊँचाई के नवमांश तुल्य अन्तर रखना चाहिए -

पद्मवल्ली लताकुम्भपत्रदर्पण रूपितः।
स्तम्भस्य नवमांशेन पद्मकुम्भान्तराणि तु।।[6]

1. अभि0 नाटक 2/2
2. हर्षचरित पृ0 155
3. नैषधचरित 10/35, 2/105
4. नलचम्पू पृ0 393
5. शिवराजविजय 1/27
6. मत्स्य पुराण 255.4(उ0)-5(पू0)

दर्पण युक्त स्तम्भ (विष्णुपुराण), रत्नस्तम्भ (मत्स्य पुराण), स्वर्णनिर्मित (विष्णु पुराण) आदि स्तम्भों द्वारा स्तम्भ सौन्दर्यकरण का सजीव चित्रण पूर्वोक्त उदाहरणों में प्राप्त होता है। अतः भवन सौन्दर्य की वृद्धि के लिए स्तम्भों को अंलकृत किया जाता था। तदर्थ विविध प्रकार की सज्जा रूपी कला का प्रयोग किया जाता था। इस माध्यम से वास्तुशास्त्र में शिल्प एवं शिल्पकारों की निपुणता वर्णित होती थी।

स्तम्भ परिमाण–

स्तम्भ निमार्ण के समय ध्यान देने योग्य तथ्यों में स्तम्भ परिमाण एक अनिवार्य अंग है। भवन, मन्दिर या प्रासाद के प्रकार के अनुसार स्तम्भों का रोपण किया जाता है। स्तम्भ की ऊँचाई, मोटाई या आकार कैसा हो , ऐसा परिमाप पुराणों के वास्तुशास्त्र में वर्णित है। यथा-स्तम्भ का परिमाप इस प्रकार होना चाहिए कि अपने गृह की ऊँचाई को सात से गुणा करके, उसके 80 वें भाग जितनी स्तम्भ की मोटाई हो। स्तम्भ के मूल भाग की मोटाई-ऊँचाई को नौ से गुणा करके उसके 80 वें भाग के तुल्य रखनी चाहिए अर्थात् स्तम्भ की मोटाई मूल भाग में अपेक्षाकृत अधिक होनी चाहिए तथा अग्र भाग में क्रमशः कम होनी चाहिए। उदाहरणार्थ यदि भवन की ऊँचाई 11 हाथ है तो उपर्युक्त प्रकिया से स्तम्भ के मूल भाग का मान होगा -11x9èk80=1.20 हाथ।

कृत्वास्वभवनोच्छ्रायं सदा सप्तगुणं बुधैः।
अशीत्यंश पृथुत्वं स्यादग्रे नवगुणे सति।।[1]

यह मान स्तम्भ की परिधि का नहीं हो सकता इसलिए इसे व्यास माना जा सकता है। यदि इस मान को व्यास माना जाये तो परिधि का मान गणितीय सूत्र - परिधि = 22/7 x व्यास से प्राप्त करना चाहिए। इस आधार पर परिधि मान होगा - 22/7x1.20=3.77 अर्थात् लगभग पौने चार हाथ मोटाई स्तम्भ के मूल भाग की होगी, अग्रभाग की मोटाई लगभग तीन हाथ या 3.02 हाथ होगी। अग्रभाग का तात्पर्य छत के समीपवर्ती भाग से है। मूल भाग से अग्रभाग पर्यन्त मोटाई क्रमशः कम होनी चाहिए। 'विश्वकर्मा प्रकाश' में स्तम्भ परिमाप के सम्बन्ध में लिखा है - भवन की ऊँचाई को नौ से गुणा कर के उसे 80 से विभाजित करने पर प्राप्त मान के बराबर स्तम्भ के मूल भाग की मोटाई होती है तथा उस में से दस घटाने पर जो मान प्राप्त हो उतनी स्तम्भ के अग्रभाग की मोटाई होनी चाहिए।

भागः पुनर्नवगुणाऽशीत्यंशस्तत एव च।
दशांशहीनस्तस्याग्रः स्तम्भानां परिमाणकम्।।[2]

---

1. मत्स्य पुराण 255.1-2
2. विष्णु पुराण 2.164(उ)-165(प0)

स्तम्भ के ऊपर और नीचे की रचना इस प्रकार होनी चाहिए -

स्तम्भं विभज्य नवधा वहनं भागो घटोऽस्य भागोऽन्यः।
पद्म तथोत्तारोष्ठं कुर्याद्भागेन भागेन॥[1]

स्तम्भ के नव भाग करें उन में नीचे के प्रथम भाग का नाम "वहन" द्वितीय भाग का "घट", तृतीय भग का "पद्म" और चतुर्थ भाग का नाम "उत्तरोष्ठ" है।

स्तम्भसमं बाहुल्यं भारतुलानामुपर्युपर्यासाम्।
भवति तुलोपतुलानामूनं पादेन पादेन॥[2]

स्तम्भ तुल्य मोटाई वाला, पञ्चम भाग का नाम 'भारतुला', इस के ऊपर षष्ठभाग का नाम 'तुला' और इस के ऊपर सप्तम भाग का नाम 'उपतुला' है। राजगृह के अतिरिक्त भारतुला से चतुर्थांश कम करके मान रखना चाहिए। जैसे राजगृह में भारतुला का मान 21 अंगुल है तो राजगृह के अतिरिक्त गृह में 21-21/4= 84-21/4 = 63/4= 15x3/4

इतना भारतुला आदि का मान बनाना चाहिए। सही परिमापों से निर्मित रचना ही आकार एवं रूप में सराहनीय होती है।

वहन- उस भाग द्वारा भूमि को धारण करना।

घट- घड़ा की आकृति होने के कारण।

पद्म- पद्माकृति होने के कारण।

उत्तरोष्ठ- जहां पर शोभा के लिए विशेष रूप बनाते हैं,

तुला-स्तम्भ-के ऊपर रखे जाने वाले काष्ठ स्तम्भ की मोटाई के तुल्य मोटाई वाली।

उपतुला- दूसरा काष्ठ जो तृतीयांश अथवा चतुर्थांश-न्यून मान वाली।

भारतुला/ उपतुला- तुला का ही अन्य माप के अनुसार नाम।

तुलोपतुल- भारतुला तथा उपतुला के नामों से अभिहित।[3]

---

1. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय, श्लोक 29, प्र0 326
2. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय, श्लोक 30, प्र0 326
3. विष्णु प्राण, 2.168

स्तम्भारोपण

पुराणों में वर्णित स्तम्भारोपण की क्रिया को निम्न प्रकार से बताया गया है[1]

- शुभ मुहूर्त्त में सभी वस्तुओं से युक्त शिला को रत्न के ऊपर रखकर चार ब्राह्मणों द्वारा उस स्तम्भ की भली-भांति पूजा करवाएं
- प्रक्षालन कर, अक्षत, वस्तु, अलंकार और सर्वोषधि से पूजा करें।
- वेदवेत्ता स्वयं कारीगरों को साथ लें, श्वेतवस्त्र धारण कर उस पूर्व प्रक्षालित एवं पवित्रीकृत स्तम्भ का बाह्मणों की वेद ध्वनि, विविध प्रकार के वादन, नृत्य एवं मंगल ध्वनि के साथ स्तम्भारोपण करें।
- तत्पश्चात् ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराएं तथा मधु एवं घी से वास्तोष्पते मन्त्रोच्चारण के साथ हवन करें-

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वादेशो अनमीवोभवानः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषश्व शं नोभवाद्विपदे शं चतुष्पदे।।[2]

सूत्रपात, स्तम्भारोपण, द्वाश्वेशोच्छ्रय (चोखट बैठाते समय), गृह-प्रवेश और सूत्रपात करते समय एवं स्तम्भ को उठाते समय भी यही उपरोक्त विधान पुनः करना चाहिए। 'राजवल्लभ मण्डन' में भी सूत्रपात, भूमिशोधन, द्वारस्थापन, स्तम्भन्यास तथा गृह प्रवेश के समय इन्हीं पाँच वास्तु यज्ञो का उल्लेख किया गया है।[3] बृहत्संहिता में स्तम्भारोपण विधि इस प्रकार बताई गई है-

दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत्प्रथमम्।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्याः।।

छत्रस्रगम्बरयुतः कृतधूपविलेपनः समुत्थाप्यः।
स्तम्भस्तथैव कार्यो द्वारोच्छ्रायः प्रयत्नेन।।[4]

---

1. मत्स्य पुराण 256.5-8
2. ऋ0 6.54
3. रा.व.म. 1.27
4. बृहत् संहिता वास्तुविद्याध्यायः श्लोक 110-111, पृ0 350

- पूजन के बाद तथा अग्नि कोण में स्तम्भारोपण करें।
- वास्तु के पदचिह्नों का निमार्ण एवं उनकी प्रदक्षिणा करें।
- वास्तु के पदचिह्न बनाने के लिए दाहिनें हाथ की तर्जनी, मध्यमा और अंगूठे का प्रयोग करें। मूंगा, रत्न, सुवर्ण के चूर्ण से मिश्रित जल ही उपयोगी है।
- अंगार, राख, हड्डी, कपाल आदि वस्तुओं का प्रयोग दुःख शोक और भय उत्पन्न करता है।

इस प्रकार स्तम्भारोपण करते समय इन विशेष संकेतों पर ध्यान देना आवश्यक है। भवन-निमार्ण का मूल कार्य वस्तुतः स्तम्भारोपण से ही आरम्भ हो जाता है।

शकुन-अपशकुनः

मनुष्य की यह प्रवृत्ति रही है कि उसका जीवन सुखमय और मंगलकारी रहे। शुभदायक एवं मंगल कामना के लिए मनुष्य का भाग्य तो निश्चित है ही परन्तु साथ ही वास्तु-शास्त्र का भी समान रूप से प्रभाव पड़ता है। मनुष्य अपने भाग्य को तो परिवर्तित करनें में असमर्थ है किन्तु वास्तु विद्या की सहायता से अपने शुभ-अशुभ कार्यों की वृद्धि-ह्रास को अवश्य ही नियन्त्रित कर सकता है। यदि भाग्यप्रबल है तो वास्तु द्वारा दूषित कार्यों का परिणाम आधा हो जाता है और यदि वास्तु दोष रहित है तो प्रयत्न अवश्य सफल हो जाते हैं। वास्तु दोषों को दूर करने में ज्योतिष शास्त्र भी एक अनिवार्य अंग है। वास्तु-शास्त्र एवं ज्योतिष शास्त्र का सनातन सम्बन्ध है। मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ज्योतिष का भी अपना महत्व है। भवन-निर्माण हेतु भी वास्तु एवं ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस में भूमि, दिशा, जल, समय, नगर, क्षेत्र आदि सब सम्मिलित हैं। शकुन-अपशकुन विभिन्न प्रकार के दृश्य अथवा क्रियाएं हैं जो मंगल-अमंगल का संकेत करती हैं। वास्तव में शकुन रक्षक होते हैं, जो पहले ही अमंगल की सूचना देकर रक्षा का अवसर प्रदान करते हैं। ये शकुन मानो मनुष्यों के लिए मार्गदर्शक हैं। पुराणों एवं बृहत्संहिता में वर्णित **'स्तम्भ न्यास-दोष एवं उनका निवारण'** का वर्णन कुछ ऐसा बताया गया है-

1. स्तम्भ एवं सूत्रादि के निर्माण (सूत्रपात) अथवा गृहप्रवेश के समय शिल्पी को गृह के सभी अंगो का निरीक्षण करते रहना चाहिए। ऐसे सभी अवसरों पर होने वाले शकुन एवं अपशकुन क्रमशः शुभ-अशुभ फल देने वाले होते हैं-[1]

---

1. यदा गृहप्रवेशः स्याच्छिलपी तत्रापिलक्ष्येत्।
स्तम्भसूत्रादिकं तदच्शुभाशुभफलप्रदम।। म0 पु0 256.15(30)-16(पू0)

2. सूत्र फैलाने के समय गर्दभ का शब्द सुनाई दे, या श्वान व सियार उस सूत्र को लांघ जाए तो गृह के नीचे शल्य(हड्डी) मानना चाहिए।[1]

3. उसी समय शान्त दिशा की ओर मुख करके पक्षी गण मधुर शब्द करें अथवा वास्तु पुरुष के जिस अंग पर बैठा हो उस अंग के नीचे धन जानना चाहिए।[2]

4. यदि सूत्र टूट जाए तो गृहपति की मृत्यु होती है- **'सूत्रच्छेदे मृत्युः'**। कील के मुख नीचे हो जाने से गृहपति को महान रोग-**'कीले चावङ्मुखे महान् रोगः।'** गृहपति और कारीगर दोंनों की स्मृति विभ्रम हो तो दोनों की मृत्यु - **'गृहनाथस्थपतीनां स्मृतिलोपे मृत्युरादेश्चः।'** जलपूर्ण कलश गिरने से गृहपति को शिर का रोग - **'स्कन्धाच्च्युते शिरोरुक।'** कलश का गिर कर उलट जाने से कुल में उपद्रव-**'कुलोपसर्गोऽपवर्जिते कुम्भे'**। कलश फूट जाए तो कारीगर की मृत्यु - **'भग्नेऽपि च कर्मिवधश्च्युते'** और हाथ से छूट जाए तो गृह स्वामी की मृत्यु होती है । **'कराद्गृहपतेर्मृत्युः।'**[3]

5. यदि गृह द्वार स्तम्भ से वेधित हो तो स्त्रियों में दोष और ब्हमा के सम्मुख हो तो वह कुल का नाश करता है- **'स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशा ब्रह्मणोऽभिमुखे।'**[4]

स्तम्भन्यास सम्बन्धी दोषों से बचने के लिए स्तम्भ स्थापित कर उसके ऊपर छत्र डाल देना चाहिए तथा स्थापित स्तम्भ की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए -

प्राग्दक्षिणेन विन्यस्य स्तम्भे छत्रं निवेशयेत्।
रक्षां कुर्वीत यत्नेन स्तम्भेपद्रवनाशिनीम।।[5]

स्तम्भ को उत्तर अथवा पूर्व की ओर ढाल नहीं करना चाहिए। क्योंकि दिशा की अस्पष्टता से कुल का नाश होता है।

इसी सन्दर्भ में शकुनों को स्तम्भन्यास , सूत्रपात, गृह-प्रवेश आदि के अवसर पर श्रव्यमान अथवा दृश्यमान पशु-पक्षियों की ध्वनि अथवा व्यवहार से सम्बद्ध किया गया है। पशु-पक्षियों में एक विषेश प्रकार की 'अतीन्द्रिय'[6] नामक शक्ति होती है जिसके द्वारा उन्हें प्राकृतिक आपदा या

---

1. सूत्रे प्रसार्वमाणे गर्दभरावोऽस्थिशल्यमाचस्टे।
   श्वश्रृगाललाछिध्ते वा सूत्रे शल्यं विनिर्देश्यम।। -बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्यायः श्लोक 108
2. दिशि शान्तायां श्कुनिर्मधुरविरावी यदा तदा वाच्यः।
   अर्थस्तस्मिन् स्थाने गृहश्वराधिस्ठितेडङेग् वा।। - बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्यायः श्लोक 109
3. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्यायः श्लोक 108-109
4. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्यायः श्लोक 76
5. मत्स्य पुराण 256.25-28
6. प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रियम्।
   एकतानोऽनन्यवृतिरेकाग्रैकायनावपि।। अमर कोष 3/1/79.

मौसम परिवर्तन के विषय में पूर्वाभास हो जाता है। 'अतीन्द्रिय' का अर्थ है ऐसी शक्ति जो पंचज्ञानेन्द्रियों से परे हो, विशिष्ट ज्ञान या आभास की शक्ति।

पौराणिक साहित्य में शकुनों एवं अपशकुनों का विस्तृत वर्णन है। अतः उन का गहन अध्ययन मानव कल्याणर्थ आवश्यक है। पशु-पक्षियों की ध्वनि एवं क्रियाओं से सूचित होने वाले अपशकुनों के वर्णन का उद्देश्य मनुष्य मात्र को भयभीत करना नहीं अपितु दैवज्ञ के अनुसार उस के निवारण के लिए प्रेरित करना ही है। अपशकुनों को पूजा आदि द्वारा दूर किया जा सकता। भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिए इन शुभाशभ शकुनों को सहायक एवं मार्गदर्शक के रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

निस्सन्देह गृह-निर्माण हो या स्तम्भन्यास ऐसे अत्यावश्यक कार्य प्रमाद रहित ही होने चाहिए। सावधानी पूर्वक सभी शकुनों को मानते हुए किया गया कार्य मन को पूर्ण सन्तुष्टि प्रदान करता हैं। वास्तु में प्रत्येक कर्म करते समय शुभ ध्वनियां, मंगलगीत एवं मन्त्रोच्चारण का जो विशेष उल्लेख एवं प्रयोग प्राप्त होता है, वह सब आकाश तत्त्व में व्याप्त अशुद्धियों की परिशुद्धि का भी कार्य करते हैं। आकाश तत्त्व के शुद्ध होने पर मनुष्य का मन एवं मस्तिष्क शान्त, सुविचारों से युक्त हो जाता है। अतः वास्तु के प्रत्येक कर्म में इन सभी क्रियाओं का विशेष महत्व है।

वास्तुशास्त्र का एक अद्‌भुत उदाहरण

(अंकोर विष्णु मन्दिर)

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी, श्री प्रवेश व्यास

प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र का प्रचार पूरे बृहत् भारत में हुआ। प्राचीन वास्तुशास्त्र की तकनीक द्वारा सुदूर प्रदेशों में भी मन्दिरों का निर्माण किया। आज भी अनेक देशों में भारतीय वास्तु कला के अद्‌भुत उदाहरण उपलब्ध है। उनमें से एक अप्रतिम निर्माण है वर्तमान कम्बोडिया देश में स्थित अंकोर वाट। भारत का वर्तमान कम्बोडिया देश से प्राचीन काल में घनिष्ठ संबंध रहा है। इन्डोचीन देशों से जलमार्ग के द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का आदान प्रदान होता था। वस्तुओं के साथ ज्ञान व संस्कृति का भी विनिमय होता था। जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है–

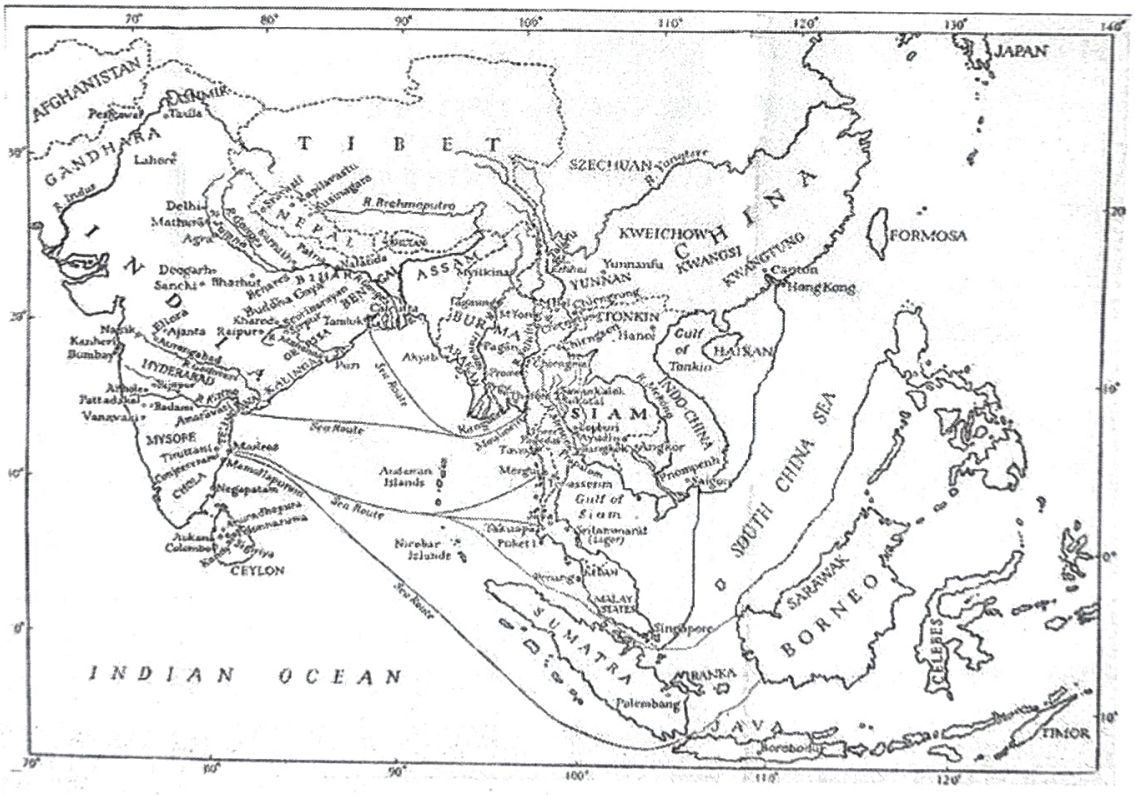

कंबुज या **कंबोज** कंबोडिया का प्राचीन संस्कृत नाम है। कंबोज की प्राचीन दंतकथाओं के अनुसार इस उपनिवेश की नींव 'आर्यदेश' के राजा कंबु स्वयांभुव ने डाली थी। वह भगवान्

शिव की प्रेरणा से कंबोज देश में आए और यहाँ बसी हुई नाग जाति के राजा की सहायता से उन्होंने इस जंगली मरुस्थल में एक नया राज्य बसाया जो नागराज की अद्भुत जादूगरी से हरे भरे, सुंदर प्रदेश में परिणत हो गया। कंबु ने नागराज की कन्या 'मेरा' से विवाह कर लिया और कंबुज राजवंश की नींव डाली। यह भी संभव है कि भारतीय कंबोज (कश्मीर का राजौरी जिला तथा संवर्ती प्रदेश-'कंबोज') से भी इंडोचीन में स्थित इस उपनिवेश का संबंध रहा हो। कंबोज के प्रथम ऐतिहासिक राजवंश का संस्थापक श्रुतवर्मन था। इसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन ने अपने नाम पर श्रेष्ठपुर नामक राजधानी बसाई। कालान्तर में भववर्मन ने एक नया वंश **(खमेर)** चलाया और अपने ही नाम भवपुर नामक राजधानी बसाई। प्रतापी राजा ईशानवर्मन ने कंबोज राज्य की सीमाओं का दूर-दूर तक विस्तार किया। उसने **भारत के साथ राजनयिक संबंध स्थापित किए** और ईशानपुर नाम की एक नई राजधानी का निर्माण किया। ईशानवर्मन के बाद जयवर्मन् द्वितीय (802-854 ई.) ने भारत से **हिरण्यदास** नामक ब्राह्मण को बुलवाकर अपने राज्य की सुरक्षा के लिए तांत्रिक क्रियाएँ करवाई। इस विद्वान् ब्राह्मण ने देवराज नामक संप्रदाय की स्थापना की जो शीघ्र ही कंबोज का राजधर्म बन गया।

तदुपरान्त यशोवर्मन् (889-908 ई.) हिंदू शास्त्रों और संस्कृत काव्यों का ज्ञाता था और उसने अनेक विद्वानों को राजश्रय दिया। उसके समय के अनेक सुंदर संस्कृत अभिलेख प्राप्त हैं। इस काल में हिंदू धर्म, साहित्य और काल की अभूतपूर्व प्रगति हुई। यशोवर्मन् ने कंबुपुरी या यशोधरपुर नाम की नई राजधानी बसाई। 944 ई. में कंबोज का राजा राजेंद्रवर्मन् था जिसके समय के कई बृहद् अभिलेख सुंदर संस्कृत काव्यशैली में लिखे मिलते हैं। सूर्यवर्मन् प्रथम (मृत्यु 1049 ई.) साहित्य, न्याय और व्याकरण का पंडित था तथा स्वयं बौद्ध होते हुए भी शैव और वैष्णव धर्मों का प्रेमी और संरक्षक था।

कंबोज वास्तविक अर्थ में भारतीय उपनिवेश था। वहाँ के निवासियों का धर्म, उनकी संस्कृति एवं सभ्यता, साहित्यिक परंपराएँ, वास्तुकला और भाषा-सभी पर भारतीयता की अमिट छाप थी जिसके दर्शन आज भी कंबोज के दर्शक को अनायास ही हो जाते हैं। हिंदू धर्म और वैष्णव संप्रदाय और तत्पश्चात् (1000 ई. के बाद) बौद्ध धर्म कंबोज के राजधर्म थे और यहाँ के अनेक संस्कृत अभिलेखों को उनकी धार्मिक तथा पौराणिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण भारतीय अभिलेखों से अलग करना कठिन ही जान पड़ेगा। उदाहरण के लिए राजेंद्रवर्मन् के एक विशाल अभिलेख का केवल एक अंश यहाँ प्रस्तुत है जिसमें शिव की वंदना की गई है –

रूपं यस्य नवेन्दुमंडितशिखं त्रय्यारूप्रतीतं परं
बीजं ब्रह्महरीश्वरोदयकरं भिन्नं कलाभिस्त्रिधा।
साक्षारदक्षरमामनन्ति मुनयो योगोधिगम्यं नमस्
संसिद्ध्यै प्रणवात्मने भगवते तस्मै शिवायास्तु वम्॥

पुराने अरब पर्यटकों ने कंबोज को हिंदू देश के नाम से ठीक ही अभिहित किया। **कंबुज की राजभाषा प्राचीन काल में संस्कृत थी,** उसका स्थान धीरे-धीरे बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण पाली ने ले लिया और आज भी धार्मिक क्षेत्र में यहाँ की मुख्य भाषा बनी हुई है। कंबुज भाषा में संस्कृत के हजारों शब्द अपने कंबुजी या ख्मेर रूप में आज भी पाए जाते हैं (जैसे-तेप्दा = देवता, शात्स = शासन, सुओर = स्वर्ग, फीमेअन = विमान)। खमेर लिपि दक्षिणी भारत की पल्लव और पूर्वी चालुक्य लिपियों के मेल से बनी है। **कंबोज की वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है।** अंग्कोरथोम का बेयोन मंदिर दक्षिण भारत के मंदिरों से बहुत मिलता-जुलता है। इसके शिखर में भी भारतीय मंदिरों के शिखरों की स्पष्ट झलक मिलती है। इस मंदिर और ऐलोरा के कैलास मंदिर के कलातत्व, विशेषत: मूर्तिकारी तथा आलेख्य विषयों और दृश्यों में अद्‌भुत साम्य है। इस प्रकार से कम्बोडिया का भारत से सतत संपर्क रहा है। भारतीय धर्म व संस्कृति ही कम्बोज की संस्कृति हो गई थी।[1]

अंकोरवाट : विश्व का सबसे बड़ा हिन्दू मन्दिर परिसर तथा विश्व का सबसे बड़ा धार्मिक स्मारक है। यह कंबोडिया के अंकोर में है जिसका पुराना नाम 'यशोधरपुर'[1] था। यह शहर प्राचीन ख्मेर साम्राज्य की राजधानी थी। इसका निर्माण सम्राट् सूर्यवर्मन द्वितीय (1112-53 ई.) के शासनकाल में हुआ था। यह विष्णु मन्दिर है जबकि इसके पूर्ववर्ती शासकों ने प्राय: शिवमंदिरों का निर्माण किया था। यह देवालय प्राचीन ख्मेर शैली में बनाया गया है जो कि प्राचीन भारतीय कलिङ्ग वास्तु शैली से पूर्ण रूप से प्रभावित थी। यहाँ की मेंकांग नदी का नामकरण भी कोंग शब्दों को मिलाकर किया गया है। जिसका अर्थ वहाँ की भाषा में गंगा माता होता है। सचमुच वहाँ उस सरिता को मात्र जल- प्रवाह नहीं माना जाता वरन् भारतीयों द्वारा गंगा के प्रति जो श्रद्धा-भाव है, उसी के अनुसार मेंकांग को भी उस देश में सम्मानास्पद माना जाता है। मीकांग नदी के किनारे सिमरिप शहर में बना यह मंदिर आज भी संसार का सबसे बड़ा हिंदू मंदिर है जो सैकड़ों वर्ग मील में फैला हुआ है। राष्ट्र के लिए सम्मान के प्रतीक इस मंदिर को 1983 से कंबोडिया के राष्ट्रध्वज में भी स्थान दिया गया है –

1 कंबुज का इतिहास http://hi.wikipedia.org/wiki/कम्बोडिया

यह मन्दिर मेरु पर्वत का भी प्रतीक है। इसकी दीवारों पर भारतीय धर्म ग्रंथों के प्रसंगों का चित्रण है। इन प्रसंगों में अप्सराएं बहुत सुंदर चित्रित की गई हैं, असुरों और देवताओं के बीच अमृत मन्थन का दृश्य भी दिखाया गया है। विश्व के सबसे लोकप्रिय पर्यटन स्थानों में से एक होने के साथ ही यह मंदिर यूनेस्को के विश्व धरोहर स्थलों में से एक है। पर्यटक यहाँ केवल वास्तुशास्त्र का अनुपम सौंदर्य देखने ही नहीं आते बल्कि यहाँ का सूर्योदय और सूर्यास्त देखने भी आते हैं। सनातनी लोग इसे पवित्र तीर्थस्थान मानते हैं।

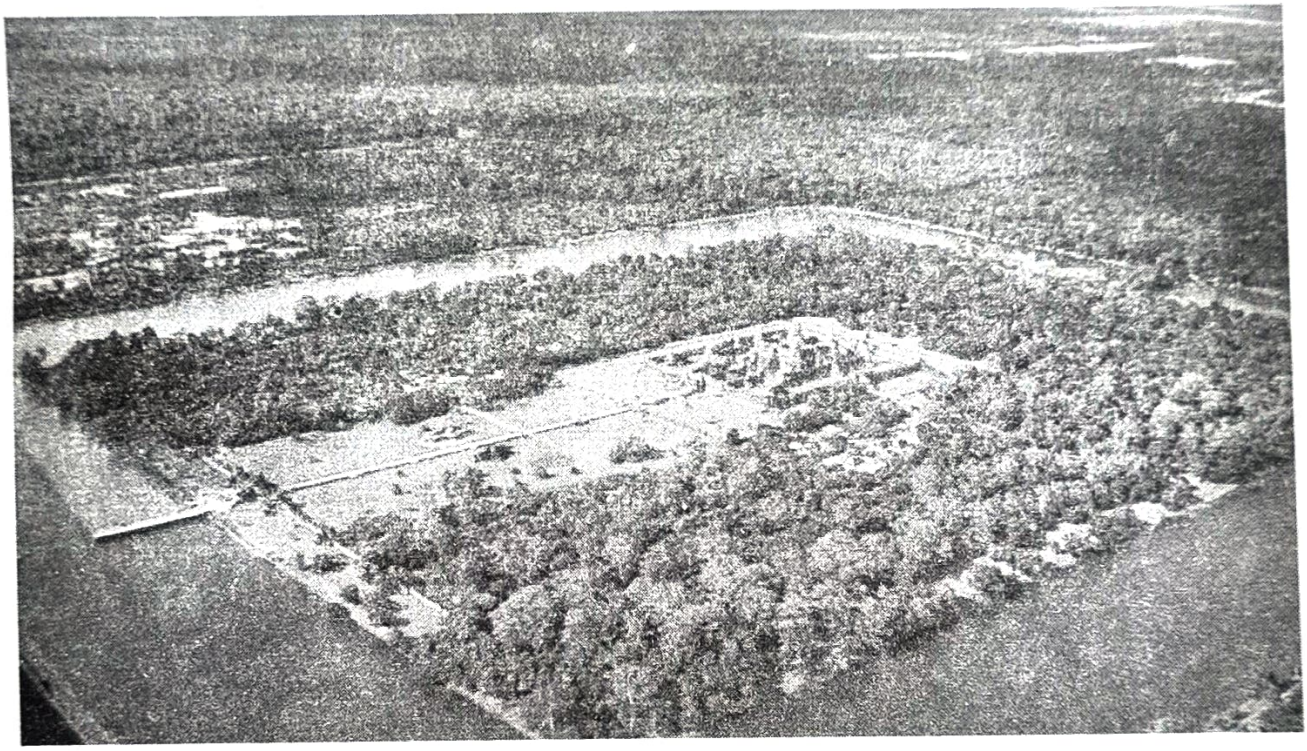

इस मंदिर की रक्षा भी एक चतुर्दिक खाई करती है जिसकी चौड़ाई लगभग 700 फुट है। दूर से यह खाई झील के समान दृष्टिगोचर होती है। मंदिर के पश्चिम की ओर इस खाई को पार करने के लिए एक पुल बना हुआ है। पुल के पार मंदिर में प्रवेश के लिए एक विशाल द्वार निर्मित है जो लगभग 1,000 फुट चौड़ा है। मंदिर बहुत विशाल है। इसकी दीवारों पर समस्त रामायण मूर्तियाँ में अंकित है। इस मंदिर को देखने से ज्ञात होता है कि विदेशों में जाकर भी प्रवासी कलाकारों ने भारतीय कला को जीवित रखा था। इनसे प्रकट है कि अंग्कोरथोम जिस कंबुज देश की राजधानी था उसमें विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश आदि देवताओं की पूजा प्रचलित थी। इन मंदिरों के निर्माण में जिस कला का अनुकरण हुआ है वह भारतीय गुप्त कला से प्रभावित जान पड़ती है। अंग्कोरवात के मंदिरों, तोरणद्वारों और शिखरों के अलंकरण में गुप्त कला प्रतिबिंबित है। इनमें भारतीय सांस्कतिक परंपरा जीवित है। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'यशोधरपुर का पूर्व नाम अंग्कोरथोम था। जिसका संस्थापक नरेश यशोवर्मन अर्जुन और भीम जैसा वीर, सुश्रुत जैसा विद्वान् तथा शिल्प, भाषा, लिपि एवं नृत्य कला में पारंगत था'। उसने अंग्कोरथोम और अंग्कोरवात के अतिरिक्त कंबुज के अनेक राज्य स्थानों में भी आश्रम स्थापित किए जहाँ रामायण, महाभारत, पुराण

तथा अन्य भारतीय ग्रंथों का अध्ययन अध्यापन होता था। अंग्कोरवात के हिंदू मंदिरों पर बाद में बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा और कालांतर में उनमें बौद्ध भिक्षुओं ने निवास भी किया। अंगकोरथोम और अंग्कोरवात में 20वीं सदी के आरंभ में जो पुरातात्विक खुदाइयाँ हुई हैं उनसे ख्मेरो के धार्मिक विश्वासों, कलाकृतियों और भारतीय परंपराओं की प्रवास गत परिस्थितियों पर बहुत प्रकाश पड़ा है। कला की दृष्टि से अंग्कोरथोम और अंग्कोरवात अपने महलों और भवनों तथा मंदिरों और देवालयों के खंडहरों के कारण संसार के उस दिशा के शीर्षस्थ क्षेत्र बन गए हैं। जगत् के विविध भागों से हजारों पर्यटक उस प्राचीन हिंदू[1] अंकोखाट मन्दिर के लिए वहाँ प्रति वर्ष जाते हैं।

खमेर शास्त्रीय शैली से प्रभावित स्थापत्य वाले इस मंदिर का निर्माण कार्य सूर्यवर्मन द्वितीय ने प्रारम्भ किया परन्तु वे इसे पूर्ण नहीं कर सके। मंदिर का कार्य उनके भानजे एवं उत्तराधिकारी धरणीन्द्रवर्मन के शासनकाल में सम्पूर्ण हुआ। मिश्र एवं मेक्सिको के स्टेप पिरामिडों की तरह यह सीढ़ी पर उठता गया है। इसका मूल शिखर लगभग 64 मीटर ऊँचा है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी आठों शिखर 54 मीटर उँचे हैं। मंदिर साढ़े तीन किलोमीटर लम्बी पत्थर की दिवार से घिरा हुआ था, उसके बाहर 30 मीटर खुली भूमि और फिर बाहर 190 मीटर चौड़ी खाई है। विद्वानों के अनुसार यह चोल वंश के मन्दिरों से मिलता जुलता है। दक्षिण पश्चिम में स्थित ग्रन्थालय के साथ ही इस मंदिर में तीन वीथियाँ हैं जिसमें अन्दर वाली अधिक ऊंचाई पर हैं। निर्माण के कुछ ही वर्ष पश्चात् चम्पा राज्य ने इस नगर को लूटा। उसके उपरान्त राजा जयवर्मन-7 ने नगर को कुछ किलोमीटर उत्तर में पुनः स्थापित किया। 14वीं या 15वीं शताब्दी में थेरवाद बौद्ध लोगों ने इसे अपने नियन्त्रण में ले लिया।

मंदिर के गलियारों में तत्कालीन सम्राट, बलि-वामन, स्वर्ग-नरक, समुद्र मंथन, देव-दानव युद्ध, महाभारत, हरिवंश पुराण तथा रामायण से संबद्ध अनेक शिलाचित्र हैं। यहाँ के शिलाचित्रों में रुपायित राम कथा बहुत संक्षिप्त है। इन शिलाचित्रों की शृंखला रावण वध हेतु देवताओं द्वारा की गयी आराधना से आरंभ होती है। उसके बाद सीता स्वयंवर का दृश्य है। बालकांड की इन दो प्रमुख घटनाओं की प्रस्तुति के बाद विराध एवं कबंध वध का चित्रण हुआ है। अगले शिलाचित्र में राम धनुष-बाण लिए स्वर्ण मृग के पीछे दौड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसके उपरांत सुग्रीव से राम की मैत्री का दृश्य है फिर, बाली और सुग्रीव के द्वंद्व युद्ध का चित्रण हुआ है। परवर्ती शिलाचित्रों में अशोक वाटिका में हनुमान की उपस्थिति, राम-रावण युद्ध, सीता की अग्नि परीक्षा और राम की अयोध्या वापसी के दृश्य हैं। अंकोरवाट के शिलाचित्रों में रुपायित राम कथा यद्यपि अत्यधिक विरल और संक्षिप्त है, तथापि यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसकी प्रस्तुति आदिकाव्य की कथा के अनुरुप हुई है।

---

1. http://hi.wikipedia.org/wiki/ अंकोरवाट_मंदिर

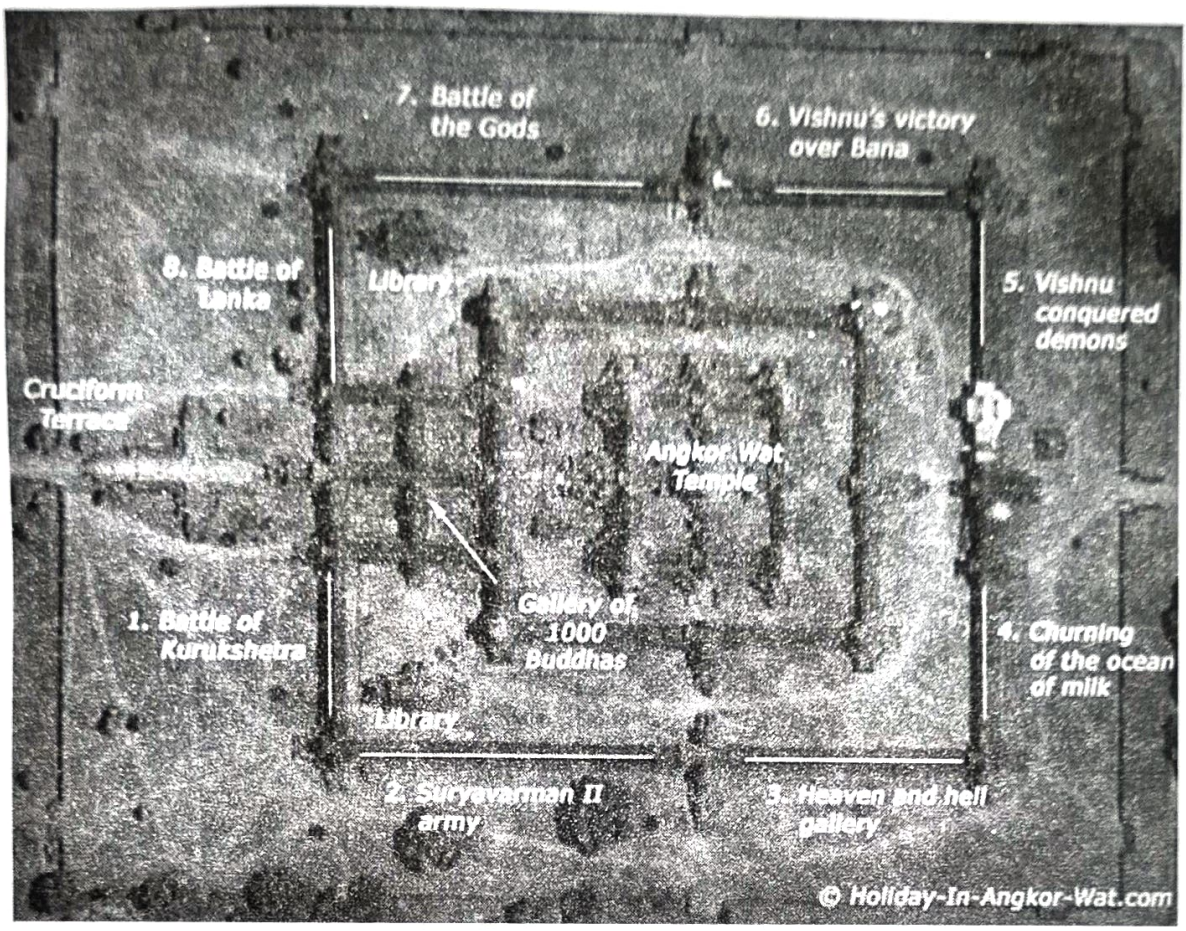

अंकोर वाट का वास्तविक नाम स्थानीय भाषा में प्रेह विष्णुलोक (Preah Pisnulok)जो कि संस्कृत शब्द व्राह विष्णुलोक से बना है जिसका अर्थ है– भगवान विष्णु का प्राचीन गृह (VrahVishnulok - the sacred abode of Lord Vishnu) था। अंकोर शब्द कम्बोडियन भाषा के नोकोर(Nokor) शब्द से बना जो कि संस्कृत शब्द 'नगर' से बना है।[1] वाट शब्द पाली भाषा के वत्त या संस्कृत शब्द वाटिका से बना है। ख्मेर भाषा में वाट का अर्थ मन्दिर या मन्दिर भूमि के रूप में लिया जाता है। इस प्रकार से अंकोर वाट का अर्थ 'देवालयों का नगर' (City of Temples), 'नगर रूपी देवालय' (The city which is a temple) या 'देवालय नगर' (Temple City) किया जाता है।[2]

---

1. Cambodian-English Dictionary by Robert K. Headley, Kylin Chhor, Lam Kheng Lim, Lim Hak Kheang, and Chen Chun (1977, Catholic University Press)
2. "Angkor Vat".APSARA Authority. 2004. Archived from the original on 6 May 2008. Retrieved 27 April 2008

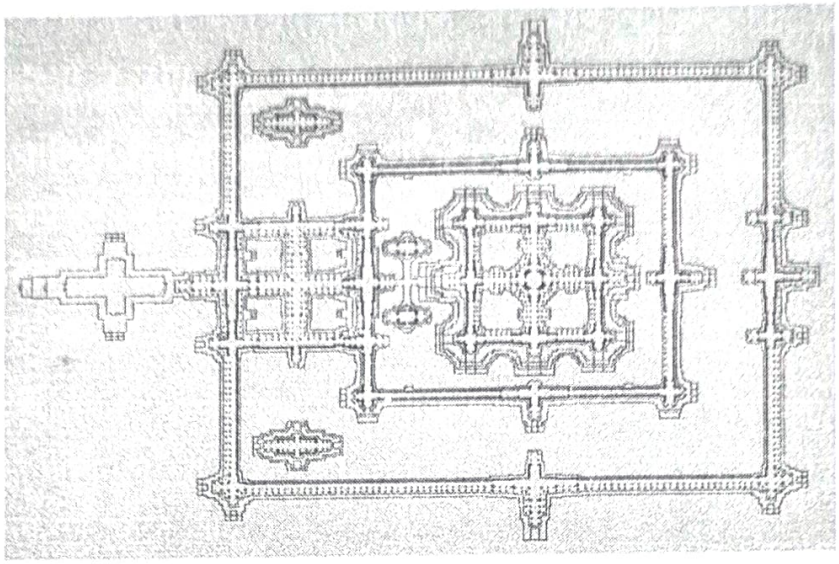

भारतीय वास्तुशास्त्र के ज्ञाता एक विद्वान् पण्डित दिवाकर ने अंकोर वाट के परिकल्पना संरचना व निर्माण का कार्य किया।[1] दिवाकर पण्डित सूर्यवर्मन से पूर्व के दो राजाओं जयवर्मन चतुर्थ और धनीन्द्रवर्मन प्रथम के कार्यकाल में भी राज्य के प्रमुख पण्डित थे। सूर्यवर्मन के शासनकाल में तीस वर्षों तक अंकोर वाट का निर्माणकार्य चला।

अंकोर वाट मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त हैं– एक मुख्य देवालय का मेरु और दूसरा चारों और से विस्तृत संरचना, जो कि प्राचीन द्रविड शैली से प्रेरित है। इस देवालय का वैशिष्ट्य है कि मुख्य गुम्बद मेरु पर्वत को द्योतित करता है, जो कि सभी देवताओं का निवासस्थल माना गया है।

इस देवालय का निर्माण ठीक पश्चिम की ओर मुख करके बनाया गया है। पश्चिम यम की दिशा मानी गई है, जो कि मृत्यु का देवता है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूर्यवर्मन का मत था कि इस देवालय के मुख्य भाग में मृत्यु काल में स्थित होने पर अथवा अस्थियों को गर्भगृह में स्थापित करने से सीधे वैकुण्ठ लोक की ओर गमन होगा। यह विष्णु मन्दिर होने के साथ राजा सूर्यवर्मन द्वितीय का समाधिस्थल भी है।

इसी कारण देवालय की दीवारों में चारों ओर देवों की कलाकृतिओं का निर्माण किया गया है। और लगभग 3000 से अधिक अप्सराओं की आकृतिओं का निर्माण किया गया है, जिसमें सभी अद्वितीय है, किसी की पुनरावृत्ति नहीं हुई है। उनमें 37 प्रकार की केश सज्जा निदर्शित की गई है। इस प्रकार से स्वर्ग का एक स्वरूप धरती पर बनाने का प्रयास किया गया।

जिन पत्थरों द्वारा देवालय का निर्माण किया गया वे उस स्थान से 50 किलोमीटर दूर "नोम

1 Divakarapandita, the Brahmin in Suryavarman's service, contributed to the conception and planning of Angkor wat. (source: The Making of South East Asia & By George Coedes p. 100 – 101)

कुलेन (Phnom Kulen) पर्वत से नावों द्वारा सेम रीप (Siem Reap)नदी से लाये गये थे। एक शिलालेख के अनुसार इतने कम समय में इतने बडे देवालय के निर्माण में 3,00,000 श्रमिक और 6,000 हाथियों को लगाया गया था। फिर भी यह 30 वर्षों में पूर्ण नहीं हो सका।

इस प्रकार से अंकोर वाट के निर्माण का भारतीय वास्तुशास्त्र से साक्षात् संबंध प्रदर्शित होता है। भारतीय वास्तुशास्त्र में देवालयों के निर्माण की एक विशेष शैली का प्रयोग होता है जो इस देवालय में देखने को मिलता है, अपितु अनेक ऐसे देवालय हैं जिनमें ज्योतिष व काल के कई अनुपातों का चमत्कारिक रूप से प्रयोग किया जाता है। जिन्हें ध्यान में रखकर ही देवालय का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार के अनुपात भारत के सुप्रसिद्ध कोणार्क सूर्य मन्दिर, शृंगेरी में विद्याशङ्कर देवालय, गवी गढीश्वर देवालय, केरल में तिरुवंबदि देवालय आदि देवालयों में देखे जाते हैं। इसी प्रकार से अंकोर वाट को भी काल व अन्तरिक्ष के विशेष नियमों के आधार पर बनाया गया है। यह देवालय अपने विस्तार, अप्रतिम वास्तु कला के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ परन्तु इसके विशेष अन्तरिक्षीय व काल संबंधित तथ्यों को कुछ वैज्ञानिकों द्वारा बाद में खोजा गया। विशेष रूप से सुप्रसिद्ध शोधकर्ता एलियेनोर मन्निक्का (Eleanor Mannika) ने गहन शोधकार्य के उपरान्त 1996 में एक पुस्तक लिखी Angkor Wat: Time, Space, and Kingship लिखी जिसमें उन्होने अनेक तथ्यों को उजागर किया। इस देवालय में अनेक ऐसे अनुपात प्राप्त हुए जिनसे यह देवालय और भी विशेष महत्त्व का हो गया। देवालय के उन विशेष तथ्यों को यहां प्रदर्शित किया जा रहा है –

1. ड्राको नक्षत्रसमूह और अंकोर का अर्न्तसंबंध–ड्राको नक्षत्र समूह शिशुमार चक्र का एक भाग है। जिसकी आकृति निम्न प्रकार से दिखाई देती है –

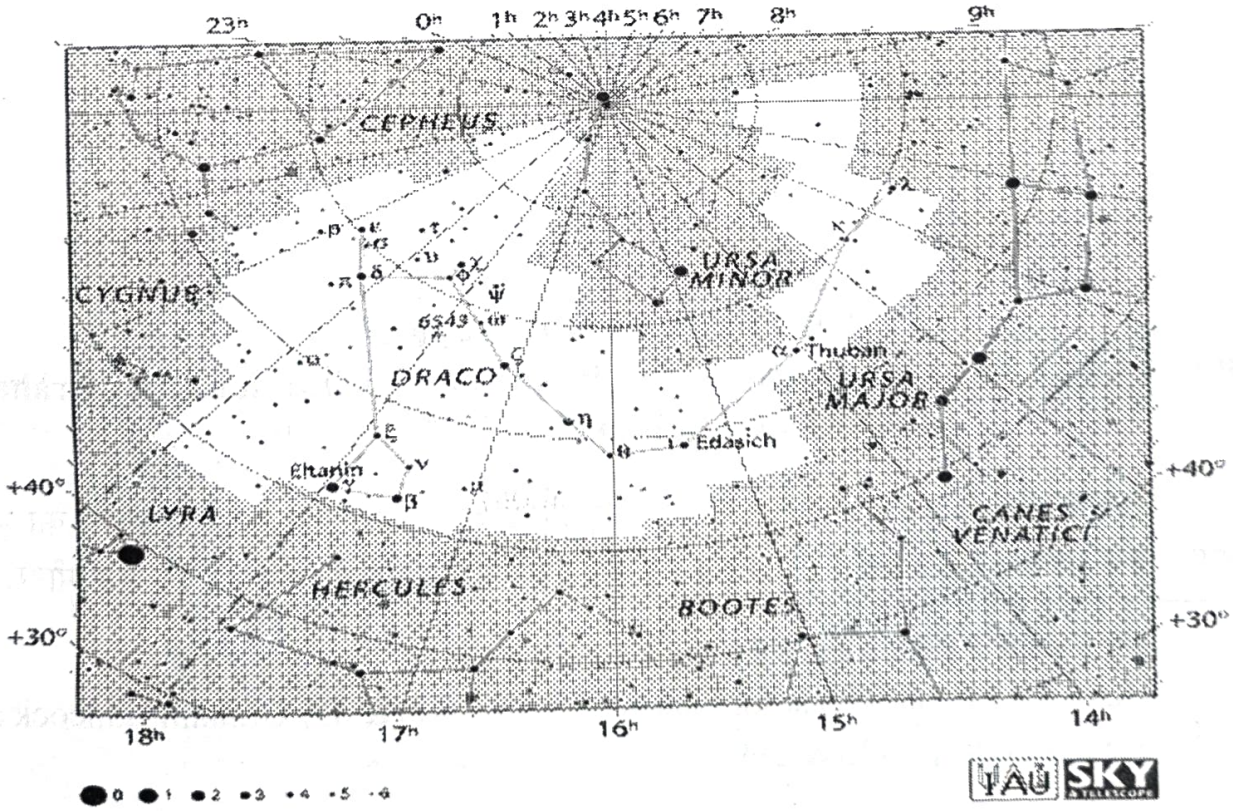

पुराणों में अनेक स्थलों पर इस चक्र का वर्णन मिलता है। ग्रीक और चीनी दन्तकथाओं में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है।[1] प्राचीन वास्तुशास्त्रीयों ने कम्बोडिया के लगभग 50 देवालयों का निर्माण इसी चक्र की आकृति के आधार पर किया। जिससे की यह पवित्र आकाशीय संरचना पृथ्वी पर भी दिखे जिससे इस क्षेत्र व विष्णु लोक में साम्य स्थापित हो। उसी के मूल भाग में अंकोर देवालय का निर्माण किया गया है। इस चक्र का निर्माण धरती पर करने का प्रयास किया गया। शिशुमार चक्र और कम्बोडिया के देवालयों की आकृति का संबंध इस चित्र में देखा जा सकता है।[2]

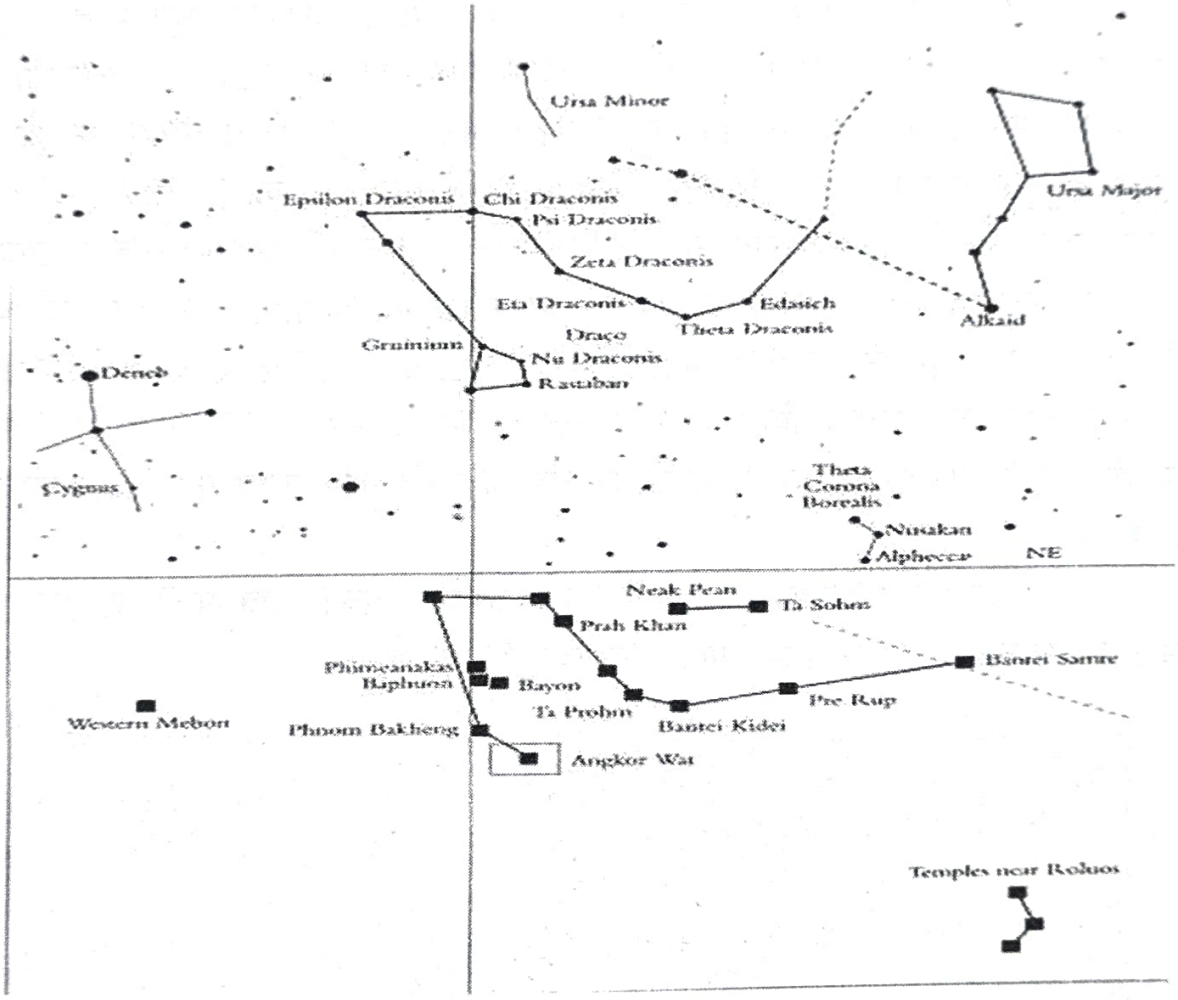

The Angkor&Draco correlation-
(image source: **Heaven's Mirror: Quest for the Lost Civilization & By Graham Hancock and Santha Faiia** p. 115 & 199)

शोधकर्ताओं ने इस देवालय में अनेक अद्‌भुत अनुपात देखे। उस काल में मापन का मुख्य मानक 'हाथ' (hat– "Cambodian cubit-") था। जिसका आधुनिक मान 43.45 सेन्टीमीटर(17.

1. http://en.wikipedia.orgèwiki/Draco_(constellation)
2. Heaven's Mirror: Quest for the Lost Civilization & By Graham Hancock and Santha Faiia p. 115 & 199

1 इन्च) होता है। देवालय में सभी स्थानों पर इसी माप का उपयोग किया गया है। देवालय में ज्योतिषीय काल गणना संबंधित निम्न तथ्य प्राप्त होते है–

– देवालय का मुख्य मन्दिर पूर्व-पश्चिम ओर से 189 हाथ विस्तार वाला है और उत्तर-दक्षिण भाग 176 हाथ विस्तार वाला है, जिनका कुल योग वर्ष के दिनों की संख्या 365 के तुल्य होता है।

– विहार स्थान में एक द्वार से दूसरे द्वार के मध्य 13.41 हाथ की दूरी है जो देवालय के क्षितिज से ध्रुव की उन्नति 13.43 डिग्री को प्रदर्शित करती है।

– मध्यवर्ती गर्भगृह में सीढियों के समूह के मध्य 12 हाथ का अन्तर रखा गया है जो कि 12 महीनों को इंगित करता है।

– वास्तुपुरुष मण्डल में कुल देवों की संख्या 45 होती है। मुख्य द्वार, सीढीयों, मध्य पार्श्ववर्ती प्रवेश मार्ग में यह माप दिखाई पडता है।

– चारों कोनो में स्थित गुम्बदों की परिक्रमा का पथ, तीन अक्षीय प्रवेश द्वारों से मुख्य विष्णु विग्रह का परिक्रमा पथ, मुख्य पूजन स्थान की सीधी दूरी में संख्या 108 का अनुपात प्राप्त होता है।

– वैदिक देवताओं की संख्या 33 का अनुपात देवालय की स्तंभों की संख्या में, गवाक्षों की संख्या व अनेक अन्य स्थलों पर प्राप्त होता है।[1]

– मुख्य मन्दिर की लम्बाई चौडाई का योग 91 हाथ प्राप्त होता है जो कि विषुव संक्रान्ति से परम क्रान्ति तक के औसत दिनों के तुल्य है।

– मध्य में स्थित मुख्य निर्माण में नवग्रहों के संख्या के आधार पर 9 कक्षों का निर्माण किया गया है। इन सभी कक्षों की उत्तर-दक्षिण लम्बाई का योग 27 हाथ होता है जो कि कुल नक्षत्रों की संख्या है, और पूर्व-पश्चिम दिशा की लम्बाई का योग 28 होता है जो कि अभिजित नक्षत्र सहित नक्षत्रों की संख्या है। इस देवालय में पुस्तकालय भी बने हैं, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है –

---

8 "Space and cosmology in Hindu Temple"- Subhash Kak, presented at Vaastu Kaushal : International Symposium on Science and Technology in Ancient Indian Monuments, New Delhi, November16-17, 2002

Angkor Wat

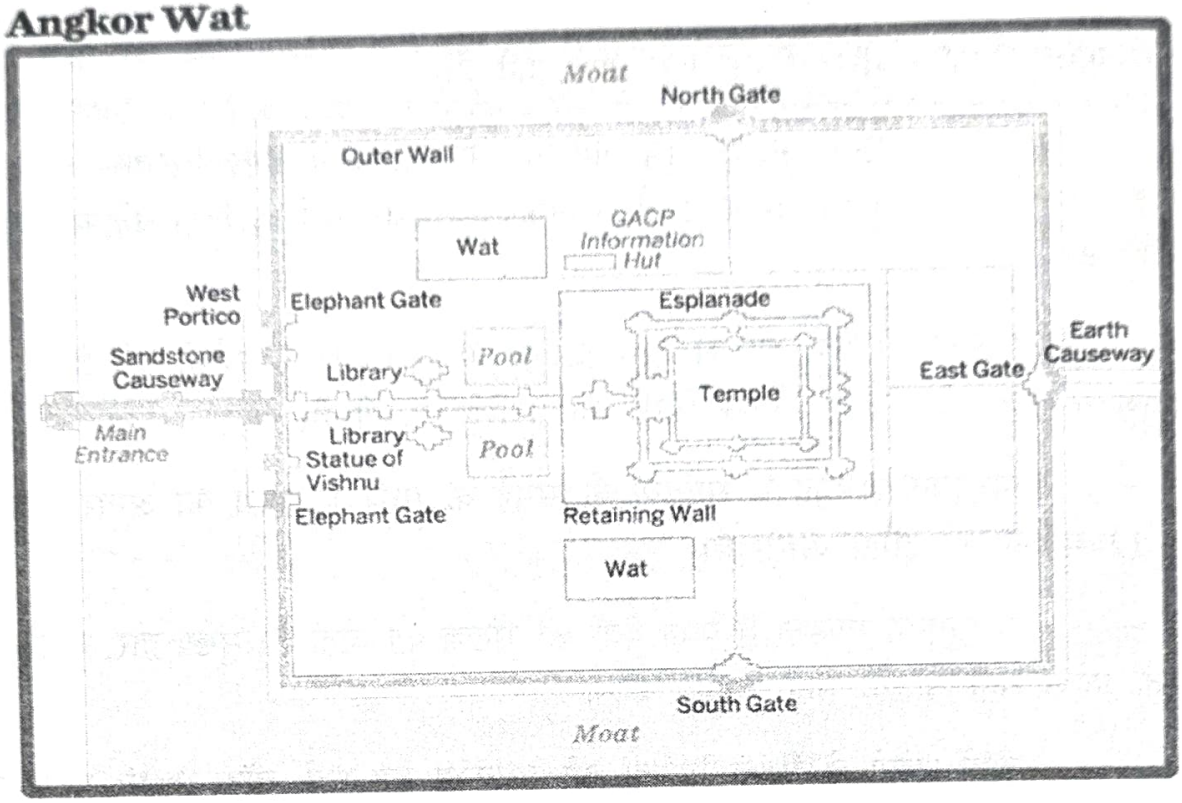

जिनकी पूर्व-पश्चिम में लम्बाई 16 हाथ है तथा दक्षिणोत्तर लम्बाई 11 या 12 हाथ रखी गई है जिनका कि योग पुनः 27 या 28 होता है जो कि नक्षत्रों की संख्या को ही इंगित करता है।

इतिहास में शायद ही कोई इस प्रकार का निर्माण हुआ हो जो अपने में इतने प्रकार के ज्योतिषिय विशेषताओं को समाहित किये हो।[1] ज्योतिष गणित के अनुसार एक महायुग में चार युग होते हैं, जिनके मान इस देवालय में दृष्टिगोचर होते हैं-

– कलियुग का प्रमाण 432000 वर्ष होता है, देवालय के चारों ओर निर्मित जलाशय 432 हाथ प्रमाण का निर्मित किया गया है।

– द्वापर युग का मान 864000 वर्ष होता है, अतः प्रवेश द्वार से आन्तरिक दीवार की दूरी लगभग 867 हाथ है।

– त्रेतायुग का मान 1,296000 वर्ष होता है, अतः प्रवेशद्वार से मध्य मीनार की दूरी का मान बिल्कुल 1,296 हाथ है।

---

1. Rarely in history has any culture given rise to a structure that so elaborately and expansively incorporates its concept of the cosmos. Angkor Wat stands as a striking and majestic monument in honor of the Universe and our place in it.(source : Angkor - The History of Astronomy - planetquest.org)

– कलियुग का मान 1728000 वर्ष होता है, जलाशय के आरम्भ से मध्य देवालय तक 1734 हाथ है।

अंकोर देवालय में दिक् साधन अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मापन करने पर, कहीं .75 से भी कम अंशों का अन्तर प्राप्त हो पाता है।[1] सायन मेष व तुला संक्रान्ति के दिन (विषुवत् संक्रान्ति के दिन) सूर्य ठीक मुख्य मन्दिर के गुम्बद के मध्य भाग में उदित होता है, जिसमें .1 प्रतिशत भी त्रुटी नहीं देखी जाती है।[2] जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है–

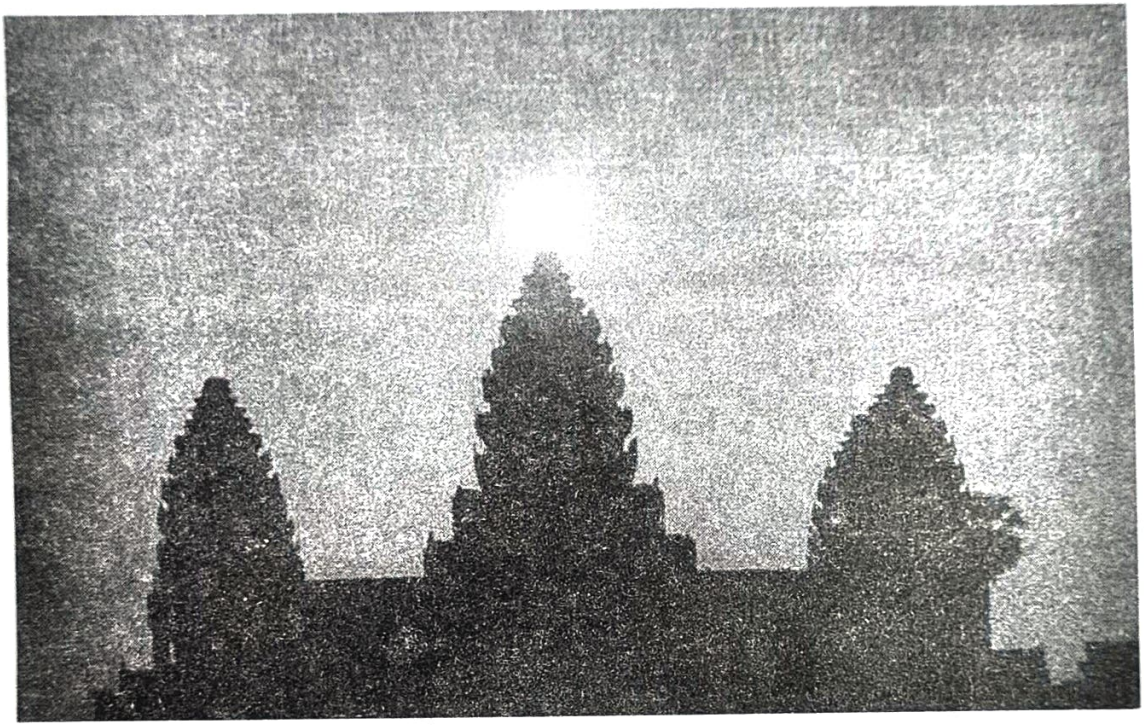

The sun rising over the central tower of Angkor wat at dawn on the Spring equinox

इस प्रकार अंकोर वाट प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र की एक अप्रतिम धरोहर के रूप में आज हमारे सामने विद्यमान है। यह देवालय वास्तु के साथ ज्योतिष व काल गणना के समन्वय का भी अनूठा उदाहरण है।

---

1. The short dimensions are aligned with high precision to true north-south, showing ^no deviation whatever' according to modern surveys. The long dimensions are oriented, equally precisely, to an axis that has been deliberately (diverted 0.75 degrees south of east and north of west(http://www.hinduwisdom.info/Sacred_Angkor 2.htm)
2. According to a study published in the journal Science, these minute differences, 'less than 0.01 percent', demonstrates an 'astounding degree of accuracy' on the part of the ancient builders.(http://www.hinduwisdom.info/Sacred_Angkor2.htm)

Bibliography –

- E.C. Krupp, 1983. Echoes of the Ancient Skies. OÛford: Oxford University Press
- Heaven's Mirror: Quest for the Lost Civilization & By Graham Hancock and Santha Faiia
- "Space and cosmology in Hindu Temple"- Subhash Kak, presented at Vaastu Kaushal: International Symposium on Science and Technology in Ancient Indian Monuments, New Delhi, November16-17, 2002
- Stella Kramrisch, 1946. The Hindu Temple. University of Calcutta. Reprinted Delhi: Motilal Banarsidass, 1991;
- Volwahsen, 2001. Cosmic Architecture in India. Prestel, New York, and Mapin Publishing, Ahmedabad.
- S. Kak, 2005, "Early Indian architecture and art", Migration and Diffusion – An International Journal, vol. 6, Number 23, pp. 6-27.
- E. Mannikka, 1996. Angkor Wat: Time, Space, and Kingship. Honolulu: Univ of Hawaii Press, Honolulu.
- http://en.wikipedia.org/wiki/Draco (constellation)
- Angkor & The History of Astronomy - planetquest.org
- http:èèwww.hinduwisdom.info/Sacred_Angkor.htm
- http://arxiv.org/abs/physics/9811040
- The Making of South East Asia & By George Coedes
- "Angkor Vat". APSARA Authority. 2004. Archived from the original on 6 May 2008. Retrieved 27 April 2008
- http://hi.wikipedia.orgèwiki/अंकोरवाट_मंदिर
- Þdacqtdkbfrgklß http:èèhi.wikipedia.orgèwikièdEcksfM;k

आधुनिक सन्दर्भ में वास्तुशास्त्र का सामाजिक महत्व

प्रो. भारतभूषण मिश्र

प्राय: प्रत्येक मानव स्वयं का घर चाहता है, जो घर उसे सम्पूर्ण सुखों से आह्लादित करे। इसके लिए वह अपने सामर्थ्य के अनुसार जमीन खरीदता है, एवं भवन का निर्माण कराता है, वहीं गृहारम्भ के पूर्व वास्तु दोष निवारण हेतु भूमिशोधन, शल्याशल्य विचार, जागृतादि भूमि विचार एवं आयादि का विचार करने के अनन्तर नवग्रहादि-विविध शान्ति का उपक्रम करता है, एवं अपने कुलाचार के अनुसार भगवदर्चना आदि कराता है। वह यह सब इसलिए करता है, क्योंकि जिस घर में वह रहे, उसमें सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का श्रोत बना रहे, ऐसी अपेक्षा होती है। किसी मानव की दिनचर्या का यदि अनुशीलन किया जाय तो वह प्रात: काल शय्या परित्याग करने एवं शौचादि स्नान क्रिया के बाद भगवान की अर्चना कर, भोजन ग्रहण करके अपनी दिनचर्या के लिए वाह्य जगत् में जाता है, एवं सायंकाल पुन: उसी घर में निवास हेतु लौटता है। घर में आये हुए आगन्तुकों के साथ अतिथि कक्ष में कुछ समय व्यतीत करता है, और सायं कालीन संध्यार्चन के अनन्तर भोजन एवं मनोरंजन के कुछ पल अपने परिवार के साथ बिताकर वह शयन कक्ष में चला जाता है। स्पष्ट है कि मानव की दिनचर्या वास्तु (गृह) में अवस्थित विविधकक्षों, भोजनालय, शयन, शौच, स्नानकक्ष, देवकक्ष, अतिथि कक्ष आदि का महत्वपूर्ण स्थान होता है, जैसे भोजन किस दिशा में मुख करके पकाया जाय? और भोजन की दिशा कौन सी हो? जिससे वास्तु से सम्बद्ध सभी सुख हो, आदि विभिन्न प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते है, ठीक उसी प्रकार किस दिशा में मुख करके स्नान करे? किधर पैर करके सोये? शयनकक्ष की दिशा कौन सी हो? तथा वास्तु का दरवाजा किस दिशा में हो? जलाशय कहाँ हो? आदि प्रश्नों का समाधान वास्तुशास्त्र के माध्यम से किया जा सकता है, अत एव यह कहाँ जा सकता है कि वास्तुशास्त्र का आधुनिक सन्दर्भ में भी महत्वूर्ण स्थान है।

वास्तु का शाब्दिक अर्थ तो निवास करने योग्य भूमि से ही होता है, जैसे कि **''वसन्ति प्राणिनो यत्र''**[1] इति वास्तु, जैसी व्युत्पत्ति से भी स्पष्ट हो जाता है। इस रूप में सम्पूर्ण शुभाशुभ का चिन्तन करने वाले शास्त्र को वास्तु शास्त्र कहा जा सकता है। वास्तुशास्त्र में गृह निर्माणार्थ

---

1. संस्कृतहिन्दी कोश आप्टे पृष्ठ 923 मोतीलाल बनारसीदास-वाराणसी सप्त संस्करण - 1987
   क. वृहद्वास्तुमाला श्लोक 7 पृष्ठ 2 ले. रामनिहोर द्विवेदी- चौखम्भा सुरभारतीय प्रकाशन वाराणसी, संस्करण 6 सन् 1998

विविध नियमोपनियमों का प्रतिपादन किया गया है, जैसे - गृहभूमिचयन, भूमिपरीक्षा, वास्तुब्रह्मस्थापन, शिलान्यास, वातायन, देवादिकक्ष भूखण्ड के किस भाग में बनाया जाय आदि, इसके साथ ही वास्तुदोष निवारण यज्ञ का भी विधान प्राप्त होता है। जिसका अनुसरण करने से मनुष्य अनेक प्रकार के लाभ के साथ-साथ आरोग्य एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। वास्तुशास्त्र का सम्यक् ज्ञान यदि किसी विशेषज्ञ को हो तो वह किसी भी घर को देखकर उसके गुण-दोष अर्थात् उस घर में रहने वालों को किस प्रकार का कष्ट है, उसे उसका आभास करा सकता है। वहीं उसका परिहार भी बता सकता है, इसी कारण गृहनिर्माण सम्बन्धी बातों को जानने के लिए सर्वसाधारण लोग भी उत्कण्ठित होते हैं। वैदिकसाहित्य, पौराणिकसाहित्य तथा ज्योतिषशास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तुविषयक चर्चा प्रचुरमात्रा में देखी जा सकती है। यहाँ सर्वप्रथम प्रश्न उपस्थित होता है कि गृह क्यों आवश्यक है? इसके लिए आचार्य रामनिहोर द्विवेदी द्वारा संकलित ग्रन्थ वृहद्वास्तुमाला का उद्धरण द्रष्टव्य है-

परगेहकृतासर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमिशः फलमश्नुते॥[1]

दूसरे के घर में अवस्थित होकर किये जाने वाले सभी प्रकार के श्रौत-स्मार्त सम्बन्धी धर्मकार्यों के फल स्वयं यज्ञानुष्ठान करने वाले व्यक्ति को पूर्णरूप से नहीं प्राप्त होते हैं, अपितु उसका कुछ अंश भू स्वामी को प्राप्त हो जाता है। वैदिक आख्यानों में घर के अर्थ को सूचित करने वाले शब्द जैसे -गृह, आयतन, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि उपलब्ध होते है, जो गृह की विशिष्टता को लक्ष्य कर प्रतिपादित किये गये हैं। चारों ओर दीवारों से आवृत रहने के कारण घर को आयतन कहा जाता है, तथा दरवाजा होने के कारण वह दुरोण शब्द से व्याख्यायित होता है। निवास स्थान के अर्थ में वास्तु एवं पस्त्या शब्द का प्रयोग मिलता है। गृह के लिए सुवास्तु-वास्तोष्पति आदि शब्द भवनों की विशिष्ट रचना हेतु अनेक निर्देश मन्त्रों में प्राप्त होते हैं, जिनमें वैदिक आर्यो के कुटुम्बीजन रहते थे। रात्रि में उनके पशुओं के लिए भी आश्रय होता था। वैदिक कालीन घरों में बहुत से कमरों का उल्लेख प्राप्त होता है।

गृहनिर्माण प्रयोजन का भविष्यपुराण में उल्लेख मिलता है, कि गृहस्थ की सभी प्रकार की क्रिया में अर्थात् धर्मादि कृत्य गृह के अभाव में सफल नहीं होते हैं, इसलिए गृहारम्भ एवं गृहप्रवेशादि का शुभ मुहूर्त विचार कर घर को सम्पादित करना चाहिए।[2] वास्तुराजबल्लभनामक ग्रन्थ में भी गृह निर्माण के अनेक लाभों की चर्चा प्राप्त होती है, जैसे - धन, पुत्र-पौत्रादि के सुख के लिए, धर्मार्थ-काम की प्राप्ति के लिए, जीव-जन्तु अर्थात् प्राणिमात्र के आश्रय और सुख के लिए, सर्दी, गर्मी एवं बरसात के प्रभाव से निजात पाने के लिए, गृह की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। देवालय, तालाब आदि का निर्माण भी गृहनिर्माण के अनन्तर ही फलदायी होता है,[3] क्योंकि

1. बृहद्वास्तुमाला, 1/7
2. वृहद्दैवज्ञरंजन-पृष्ठ 287-श्लोक-1 खेमराजश्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई सन् 1999
3. तत्रैव, श्लोक 2

यदि किसी व्यक्ति ने तालाब का निर्माण करवा दिया और उसके समीप कोई छाया या आश्रय देने वाला घर नहीं हो तो उस तालाब में पानी पीने वाले पशु-पक्षियों की व्यग्रता पूर्णरूपेण शान्त नहीं हो सकेगी। बृहद्वास्तुमाला के संग्रहकर्ता आचार्य ने भी अभिहित किया है कि -

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्,
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते,
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥
कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्,
ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे॥[1]

आवश्यकता के अनुसार गृहनिर्माण सभी प्राणियों के लिए आवश्यक होता है, और उसी के अनुरूप पुण्यार्जन की संकल्पना भी आचार्यो ने की है, जैसे - तृण अर्थात् घास-फूस की झोपड़ी (घर) यदि कोई बनाता है, तो उसे पुण्य की प्राप्ति होती है, मिट्टी का घर बनायें तो दशगुणित अधिक पुण्य की प्राप्ति होती है, ईट का घर बनाने पर शतगुणित तथा पत्थर का घर बनाने वाले व्यक्ति को अनन्तपुण्यफल की प्राप्ति होती है, किन्तु हर मनुष्य को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, कि जहाँ वह घर बनाना चाहता है, वहाँ उसके लिए अनुकूलता रहेगी या नहीं? इसका विश्लेषण अ क च ट त प य श वर्गो के आधार पर काकिणी का ज्ञान कर गृह का विचार करना चाहिए -

स्ववर्ग द्विगुणं कृत्वा परवर्गेण योजयेत्।
अष्टभिस्तु हरेद्भागं योऽधिकः स ऋणी भवेत्॥[2]

जो व्यक्ति घर बनाना चाहता हो और जिस स्थान पर बनाना हो तो दोनों (स्थान एवं व्यक्ति) के वर्ग को अलग-2 लिखकर एक जगह दो से गुणाकर दूसरे के वर्ग को जोड़े और योगफल में आठ से भाग दे, शेष काकिणी होगी। यही क्रिया दूसरे स्थान पर स्थापित वर्ग के साथ करें, जिसकी काकिणी अधिक होगी, कम वाला उससे लाभान्वित होता रहेगा। वास्तुरत्नावलीकार भी इस कथन की पुष्टि करते हैं।[3] भूमि का विचार इसलिए भी आवश्यक होता है, कि उसी के

---

1. वृहद्वास्तुमाला-श्लोक-4-5 पृष्ठ -2 ले.- रामनिहोर द्विवेदी-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण -6 सन् 1998
2. वृहद्वास्तुमाला श्लोक-18 पृष्ठ-5 रामनिहोर द्विवेदी-चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी संस्करण -6 सन् 1998
3. स्ववर्ग द्विगुणीकृत्य पर वर्गेण योजयेत्। अष्टभिस्तु हरेद्भागं योधिकः स ऋणी भवेत्।। -वृहद्दैवज्ञरंजन पृष्ठ 288 श्लोक 26 खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई - 1999

शुभाशुभ प्रभाव के द्वारा जीव दीर्घायुष्य एवं प्राणवान् बना रहता है,[1] और उसके पुत्रादिकों के लिए सुख की प्राप्ति होती है।[2] अथर्ववेद सुभाषितावलि में वर्णन मिलता है, कि **''भगं वर्चः पृथ्वी नो दधातु''**[3] अर्थात् जिस भूमि से हमारा सम्बन्ध हो वह ऐश्वर्य एवं तेज प्रदान करने वाली हो। ज्योतिषसार नामक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है, कि जिस ग्राम या नगर में निवास करना हो, उसके साथ अनुकूलता का विचार, दिशा का विचार एवं भूतादि का विचार कुछ दिन पहले से ही प्रारम्भ कर शुद्ध पिण्ड में गृह का सम्पादन करना चाहिए।।[4] मुर्हूतचिन्तामणि के लेखक रामदैवज्ञ ने भी लिखा है कि –

गोसिंहनक्रमिथुनं निवसेन्न मध्ये, ग्रामस्य पूर्वककुभोऽलिझषाङ्गनाश्च।
कर्कोधनुस्तुलभमेषघटाश्च तद्वद्, वर्गाः स्वपञ्चमरा बलिनः स्युरैन्द्रयाः।।[5]

वृषराशि, सिंहराशि, मकरराशि एवं मिथुन राशि से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्यों को गाँव के मध्यभाग में घर का निर्माण कराने से बचना चाहिए, क्योंकि सभी आचार्यों ने इन राशिवालों के लिए मध्य भाग में गृह का निषेध किया है। इसी प्रकार वृश्चिकराशि, मीनराशि, कन्याराशि, धनुराशि, तुलाराशि, मेषराशि और कुम्भराशि वाले व्यक्तियों को क्रमशः पूर्वादिदिशाओं में अर्थात्, पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण, नैऋत्यकोण, पश्चिम, वायव्यकोण, उत्तर और ईशानकोण में घर नहीं बनाना चाहिए। वर्ग विवेचन भी इन्हीं दिशाओं के क्रम से होता है। और अपने दिशाओं में ये बली भी होते हैं, किन्तु जिस व्यक्ति के वर्ग से अभीष्ट स्थान जहाँ घर बनाना हो उस दिशा का वर्ग यदि पाचवाँ हो तो उनमें शत्रुता रहेगी, इसलिए गृहनिर्माण नहीं करना चाहिए।[6], जिसे निम्न चक्र द्वारा स्पष्ट देखा जा सकता है।

---

1. अथर्ववेदसुभाषितावली – पृष्ठ – 209-12-1-22 डा. कपिलदेव द्विवेदी – वि. भारती अ.प. ज्ञानपुर वाराणसी -1996
2. अथर्ववेदसुभाषितावली – पृष्ठ – 209-12-3-11 डा. कपिलदेव द्विवेदी – वि. भारती अ.प. ज्ञानपुर वाराणसी -1996
3. अथर्ववेदसुभाषितावली – पृष्ठ – 205-12-1-5 डा. कपिलदेव द्विवेदी – वि. भारती अ.प. ज्ञानपुर वाराणसी -1996
4. वृहददैवज्ञरंजन पृष्ठ – 287 श्लोक -7 खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई 1 सन् 1999
5. मूहूर्तचिन्तामणि -वास्तुप्रकरणम् पृष्ठ-182 श्लोक-2 पं. उमाशंकर शुक्ल ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार वाराणसी -1
6. वृहद्वास्तुमाला-दिग्दिशाज्ञान-पृष्ठ-5 श्लोक 19 ले. रामनिहोर द्विवेदी चौ. सु.भा.प्र.वाराणसी सं.6 सन् 1998

	ईशानकोण	पूर्व	अग्निकोण	
	श वर्ग	अ वर्ग	क वर्ग	
उत्तर	य वर्ग	वृष सिंह मकर मिथुन पिण्ड = ल X चौ.	चवर्ग	दक्षिण
	प वर्ग	त वर्ग	ट वर्ग	
	वायव्यकोण	पश्चिम	नैऋत्यकोण	

वृहद्वास्तुमाला में तो यहाँ तक वर्णन मिलता है कि जो मनुष्य अपना एवं अपने परिवार का शुभेच्छु है, वह अपनी नाम राशि से जहाँ जिस शहर में वसना चाहता है, उसकी राशि यदि दूसरी, पाँचवीं, नवीं, दशवी और ग्यारहवीं हो तो ही निवास करें । यथा –

स्वनामराशेर्यद्राशिर्द्विशराङ्केशदिग्मितः।
स ग्रामः शुभदः प्रोक्तस्त्वशुभः स्यात्ततोऽन्यथा।।[1]

वास्तुशास्त्र में गृहनिर्माण सम्बन्धी विविध नियमों का प्रतिपादन प्रायः ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, जिसका अनुपालन करना मनुष्य के लिए लाभ दायक होने के साथ ही आरोग्य देने वाला भी होता है। इसी कारण वास्तुविद् किसी भवन को देखकर यह अनुमान लगा लेता है कि इसमें रहने वाले किस-किस तरह की परेशानियों से जूझ रहे हैं, तथा उसका समाधान क्या है। इन्हीं समस्याओं को ध्यान में रखकर प्रथमतः भूमि परीक्षा का संकेत आचार्यो ने किया है, जिसका उल्लेख विश्वकर्मप्रकाश नामक ग्रन्थ में भी उपलब्ध होता है यथा –

खातं भूमिपरीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा,
हीने हीनफलं समे समफलं लाभोरजोवर्द्धने।
तत्कृत्वा जलपूर्णमाऽऽशतपदं गत्वा परीक्ष्यं पुनः
पादोनाऽर्द्धविहीनकेऽथनिभृते मध्याधमेष्टाम्बुभिः।।[2]

भूमिपरीक्षण के लिए भूस्वामी या उसकी प्रधानपत्नी के हाथ से पिण्ड के मध्य में एक हाथ लम्बा, एकहाथ चौड़ा और एक हाथ गहरा चौकोर गड्ढ़ा खोदकर उसकी मिट्टी उसी में भरें, यदि मिट्टी बच जाय तो वह भूमि अच्छी होती है, अगर मिट्टी गड्ढ़े के बराबर हो जाय तो

1. नामर्क्षाद्द्विसुताङ्कदिग्भवगतो ग्रामः शुभे नान्यथा। (वृहद्वास्तुमाला पृष्ठ 6-श्लोक-20) ले. रामनिहोर द्विवेदी चौ. सु.भा.प्र.वाराणसी सं.6 सन् 1998
2. वृहद्वास्तुमाला-भूमिसंशोधनम्-पृष्ठ-21-श्लोक-106 ले. रामनिहोर द्विवेदी चौ. सु.भा.प्र.वाराणसी सं.6 सन् 1998

सामान्य भूमि तथा उस मिट्टी से गड्ढ़ा पूरा न भरे तो वह अधम भूमि होती है, उस पर निवास न करें। दूसरी विधि उक्त गड्ढ़े को जल से पूर्ण करें और सामान्य गति से सौ कदम जाकर पुनः उसी गति से वापस आकर निरीक्षण करें यदि गड्ढ़ा जल से पूर्ण है तो उत्तम, आधा सूखा हो तो मध्यम एवं पूरा सूख जाय तो ऐसी भूमि पर निवास नहीं करें, यदि ऐसा जान कर कोई निवास करें तो उक्त पिण्ड से सम्बन्धित मुखिया के साथ ही अन्य भी रोगादि से परेशान रहते हैं एवं वहाँ कितना भी परिश्रम और किया जाय सुख का अभाव दिखाई पड़ता है।

वास्तुशास्त्रविदों का मन्तव्य है कि ऊषर, दीमकयुक्त, फटी, उबड़-खाबड़, गड्ढ़े एवं टीले वाली भूमि दूर से ही त्याग देना चाहिए, जो वास्तुप्रदीप के निम्न वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। यथा-

स्फुटिता च सशल्या च बल्मीकाऽऽरोहिणी तथा।
दूरतः परिहर्तव्या कर्त्तुरायुर्धनापहाः ॥[1]

जिस भूमि में गड्ढ़ा खोदते समय कोयला, भस्म, हड्डी, भूसा आदि निकले तो वह भूमि रोगकारक एवं आयुह्रास कारक होती है। आचार्य वराहमिहिर ने वासयोग्य सुन्दर शुभ का वर्णन वृहत्संहिता में किया है यथा -

शतौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा, स्निग्धा समान सुषिराच मही नराणाम्।
अप्यध्वनिःश्रमविनोदमुपागतानां, धत्तेश्रियं किमुत शाश्वतमन्दिषु॥[2]

अर्थात् यज्ञीय पलाश आदि के वृक्ष, लतावाली, स्निग्ध, सम, छिद्ररहित भूमि, सुगन्धित एवं मार्ग में चलने के कारण हुए थकान को मिटाने वाली भूमि गृहस्वामी के लिए स्थिर सुख एवं लक्ष्मी देने वाली होती है। गृहनिर्माण में एक आवश्यक यह भी है, कि उक्त भूमि जागृत है या नहीं, क्योंकि जागृत भूमि पर ही निर्माण कार्य सुखकर होता है, जो निम्न विवरण से स्पष्ट हो जाता है–

व्योमविस्तारयोरैक्यं ग्रामाक्षरसमन्वितम्।
चतुर्गुणं नामयुक्तं शिवनेत्रेण भाजितम्॥
एकेन भूमेर्जीवः स्याद् द्वाभ्यां च समता भवेत्।
शून्यशेषे तु शून्यं स्यादित्युक्तं रुद्रयामले॥[3]

अर्थात जिस भूखण्ड पर घर बनाना हो उसकी लम्बाई+चौड़ाई का योगकर ग्रामाक्षर जोड़े और चार से गुणाकर तीन से भाग दें, जो शेष बचे उसके अनुसार फल कहें जैसे - एक शेष में जीवित भूमि, दो में समान, और तीन या शून्य शेष वाली भूमि राक्षसी होती है, उस पर अकालमृत्यु का क्रम चलता रहता है, और उसका घर रिक्त दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं भवन विन्यास

---

1. वृहद्वास्तुमाला पृष्ठ -16 श्लोक 79 ले. रामनिहोर द्विवेदी चौ. सु.भा.प्र.वाराणसी सं.6 सन् 1998
2. वृहत्संहिता-वास्तुविद्याध्याय-पृष्ठ 269-श्लोक-88-भारतीय विद्या प्रकाशन-वाराणसी, प्रथम संस्करण-सन् 2006
3. वृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ 19, श्लोक 97-98 ले. रामनिहोर द्विवेदी चौ. सु.भा.प्र.वाराणसी सं.6 सन् 1998

में प्लव का ध्यान भी आवश्य रखना चाहिए, क्योंकि पूरब, ईशानकोण एवं उत्तर की दिशा में ढलानवाली भूमि अच्छी होती है, तथा दक्षिण, नैऋत्यकोण, पश्चिम, वायव्यकोण एवं मध्य में प्लव वाली भूमि रोगकरवास्तु होती है, यथा -

शम्भुकोणे प्लवा भूमिः कर्तुः श्री सुखदायिनी।
पूर्वप्लवा वृद्धिकरी धनदा तूत्तरप्लवा॥

मृत्युशोकप्रदा नित्यमाग्नेयी दक्षिणप्लवा।
गृहक्षयकरी सा च भूमिर्यानिऋतिप्लवा।

धनहानिकरी चैव कीर्तिदा वरूणप्लवा।
वायुप्लवा तथा भूमिर्नित्यमुद्वेदग कारिणी॥[1]

इसके साथ ही शुभ मास में गृहारम्भादि करना चाहिए, जैसे - वैशाख, फाल्गुन, कार्तिक, श्रवण एवं मार्गशीर्ष मास आरोग्य एवं धन-धान्य की दृष्टि से लाभ दायक होते है।[2] इसका विशद् विश्लेषण वृद्धनारद आदि आचार्यों के मत में भी वर्णित मिलता है, कि घर के प्रारम्भ एवं समाप्ति की व्यवस्था विष्णु भगवान् के जागने पर ही होना चाहिए, अर्थात् कार्तिक शुक्ल एकादशी के बाद और आषाढ़ शुक्ल एकादशी के मध्य शुभ मासों में सम्पादित गृह लाभ दायक होता है, क्योंकि चैत्रमास में गृहारम्भ करने से शोक, वैशाख में गृहनिर्माण धनदायक, ज्येष्ठ में निर्माण मृत्युदायक, आषाढ़ में पशुभय (चतुष्पदों की हानि), श्रावण में चतुष्पदवृद्धि, भाद्रपद में शून्य, अश्विनी में कलह, कार्तिक में भृत्यक्षय, मार्गशीर्ष एवं पौषमास में गृहनिर्माण धान्यादिवृद्धि कारक, माघ में अग्निभय तथा फाल्गुनमास में गृहनिर्माण भूस्वामी के लिए लाभदायक होता है।[3] वास्तुप्रदीप में भी इस सम्बन्ध में वर्णन मिलता है कि -

चैत्रे व्याधिमवाप्नोति यो गृहं कारयेन्नरः।
वैशाखे धन रत्नानि ज्येष्ठे मृत्युं तथैव च॥

आषाढ़े भृत्यरत्नं वै पशुवर्जमवाप्नुयात्।
श्रावणे मित्रलाभं तु हानिं भाद्रपदे तथा॥

---

1. वृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ-9 श्लोक-37-39 ले. रामनिहोर द्विवेदी चौ. सु.भा.प्र.वाराणसी सं.6 सन् 1998
2. वृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ-67 श्लोक-50 ले. रामनिहोर द्विवेदी चौ. सु.भा.प्र.वाराणसी सं.6 सन् 1998
   सौम्यफाल्गुने वैशाख माघ श्रावण कार्त्तिकाः, मासास्युः गृहनिर्माणे पुत्राऽऽरोग्यफलप्रदाः॥
3. आरम्भं च समाप्तिं च प्रसादपुरसद्मनाम, उत्थिते केशवे कुर्यान्न प्रसुप्ते कदाचन॥
   चैत्रेशोककरं गृहादिरचितं स्यान्माधवेऽर्थप्रदं, ज्येष्ठे मृत्युकरं शुचौ पशुहरं तद्वृद्धिदं श्रावणे॥
   शून्यं भाद्रपदेत्विषे कलिकरं भृत्यक्षयं कार्तिके, धान्यं मार्गसहस्योर्दहनभीर्माघेश्रियं फाल्गुने॥
   (वृहद्वास्तुमाला पृष्ठ -66श्लोक-48-49 ले. रामनिहोर द्विवेदी)

भार्याहानिर्मिषे मासि कार्तिके धनधान्यकम्।
मार्गशीर्षे तथा वित्तं पौषे तस्करतो भयम्॥

लाभं तु बहुशो विंद्यादग्रिर्माघे विनिर्दिशेत्।
कांचनं फाल्गुने विद्यादिति मासफलं बुधैः॥[1]

आचार्य वसिष्ठ[2], नारद[3], श्रीपति[4], लल्ल[5] आदि विद्वानों ने भी उक्त पक्ष का सम्मान किया है। अपने ग्रन्थों में, जो सर्वथा लोकहित में देखा जाता है। भवन निर्माण में वास्तुपुरुष के मर्म स्थान का भी ध्यान अवश्य रखना चाहिए जैसे - शिर, मुख, हृदय, दोनों स्तन और लिङ्ग ये मर्म स्थान हैं। वास्तु का शिर शिखी में, मुख आप में, हृदय ब्रह्मा में, दोनों स्तन पृथ्वीधर व अर्यमा में और लिङ्ग इन्द्र तथा जय में होता है, जिसको निम्नलिखित वास्तुचक्र के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

ईशान् पूर्व आग्नेय

शिखि/शिर	पर्जन्य/नेत्र	जयन्त/कान	इन्द्र/कन्धा	सूर्य/भुजा	सत्य/भुजा	भृश/भुजा	अन्तरिक्ष/भुजा	अनिल/भुजा
दिति/नेत्र	आप/मुख						सावित्र/हाथ	पूषा
अदिति/कान		आपवत्स		अर्यमा		सविता/हाथ		वितथ/बगल
भुजंग/कन्धा			ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा			वृहत्क्ष/बल
सोम/भुजा		पृथ्वीधर/स्तन	ब्रह्मा	ब्रह्मा/हृदय	ब्रह्मा	विवस्वान्		यम/ऊरू
भल्लाट/भुजा			ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा			गन्धर्व/घुटना
मुख्य/भुजा		राजयक्ष्मा/		मित्र/पेट		इन्द्र/लिङ्ग		भृंगरात/तंघा
नाग/भुजा	रूद्र/हाथ						जय/लिंग	मृग/नितम्ब
रोग/भुजा	पापयक्ष्मा/ मणिबन्ध	शेष/बगल	असुर/बगल	वरूण/ऊरु	पुष्पदन्त/घुटना	सुग्रीव/जंघा	दौवारिक/नितम्ब	पितर/पैर

वायव्य पश्चिम नैर्ऋत्य

1. वृहद्दैवज्ञरंजन पृष्ठ-294 श्लोक-50-53-खेमराजश्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई 1 सन् 1999
2. वृहद्दैवज्ञरंजन पृष्ठ-294 श्लोक-56-खेमराजश्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई 1 सन् 1999
3. वृहद्दैवज्ञरंजन पृष्ठ-294 श्लोक-55-खेमराजश्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई 1 सन् 1999
4. वृहद्दैवज्ञरंजन पृष्ठ-294 श्लोक-54-खेमराजश्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई 1 सन् 1999
5. वृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ-66 श्लोक-46 ले. रामनिहोरद्विवेदी-चौ.सु.भा.प्र.वाराणसी सं-6 सन् 1998

वास्तुपुरुष का हृदय बीच का ब्रह्मस्थानीय भाग अतिमर्मस्थान होता है। यहाँ इस स्थान पर किसी प्रकार से दीवार या खम्भा(स्तम्भ) आदि का निर्माण नहीं होना चाहिए, और इस स्थान पर जूठे वर्तन एवं अपवित्र सामान भी नहीं रखना चाहिए। इसी कारण घर के बीच (आंगन) में तुलसी का पौधा लगाया जाता है। ऐसे स्थान पर यदि शास्त्रोचित व्यवहार का सम्पादन नहीं हो तो अनेक प्रकार की समस्याओं का आगमन होता है। वराहमिहिर द्वारा रचित ग्रन्थ वृहत्संहिता के वास्तुविद्याध्याय में वास्तु के देवता का स्पष्ट वर्णन मिलता है यथा-

पूर्वोत्तरदिङ्मूर्धा पुरुषोऽयमवाङ्मुखोऽस्य शिरसि शिखी।
आपो मुखे स्तनेऽस्यार्यमा हृयुरस्यापवत्सश्च॥

पर्जन्याद्या वाह्या दृक्श्रवणोरः स्थलांशगा देवाः।
सत्याद्याः पञ्च भुजे हस्ते सविता च सावित्रः॥

वितथो वृहत्क्षतयुतः पार्श्वे जठरे स्थितो विवस्वांश्च।
ऊरु जानू च जंङ्घे स्फिगिति यमाद्यैः परिगृहीताः॥

एते दक्षिणपार्श्वे स्थानेष्वेवं च वामपार्श्वस्थाः।
मेढ्रे शक्रजयन्तौ हृदये ब्रह्मा पिताऽङ्घ्रिगतः॥[1]

वास्तुशास्त्र के अनुसार गृह का स्वरूप चौकोर या आयताकार अच्छा होता है[2] किन्तु आयताकार में भी चौड़ाई के दूने से अधिक लम्बाई नहीं होनी चाहिए[3]। यथा -

आयते सिद्धयस्सर्वाश्चतुरस्रे धनागमः।
वृत्ते तु बुद्धिवृद्धिः स्याद्भद्रं भद्रासने भवेत्॥

चक्रे दारिद्रयमित्याहुविषमे शोकलक्षणम्।
राजभीतिस्त्रिकोणे स्याच्छकटे तु धनक्षयः॥

दण्डे पशुक्षयं प्राहुः शूर्पे वासे गवां क्षयः।
गोव्याघ्र बन्धने पीडा धनुःक्षेत्रे भयं महत्॥[4]

---

1. वृहत्संहिता-पृष्ठ-261 श्लोक-51-54-भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण -2006
2. तां वा वास्तुन्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
   अत्राह तदुरुगाहस्य वृषणः परमं पदमव भाति भूरि। (ऋग्वेद-1-154-6) महर्षिदयानन्द सरस्वती सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा रामलीला मैदान नई दिल्ली -2 सन् 2001
3. अग्निपुराण- अध्याय -104-211
4. वृहद्वास्तुमाला पृष्ठ-18 श्लोक 92 ले. रामनिहोरद्विवेदी-चौ.सु.भा.प्र.वाराणसी सं-6 सन् 1998

कछुए के आकार में बना हुआ घर पीड़ा कारक, कुम्भाकृति वाला गृह कुष्ठरोग देने वाला, तीन कोणों वाला आवास आयु नष्ट करने वाला तथा पाँच कोणों से युक्त आवास सन्तति से सम्बन्धित कष्ट देने वाला या उदण्ड संतति वाला होता है।[1]

गृहनिर्माण के सन्दर्भ में समराङ्गणसूत्र में वर्णन मिलता है, कि दूसरे घर में प्रयुक्त ईट-काष्ठादि का उपयोग नवीन घर में नहीं करना चाहिए, यदि अज्ञानता या जैसे भी हो पुरानी चीजों का उपयोग किया जा चुका हो तो उस घर में गृहस्वामी को निवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसका प्रभाव गृहकर्त्ता पर होता है यथा -

अन्यवेश्मस्थितं दारूं नैवान्यस्मिन् प्रयोजयेत्।
न तत्र निवसेत् कर्त्ता वसन्नपि न जीवति॥

इष्टका-लोष्ठ-पाषाण-मृत्तिका-जीर्णमायसम्।
तृणं पत्रं बुधैः प्रोक्तं दारू नूत्नं गृहाय वै ॥[2]

गृह के लिए लकड़ी किस स्थान की नहीं होनी चाहिए, इसको स्पष्ट करते हुए वराहमिहिर ने निर्देशित किया है, कि श्मशान, मार्ग, देवालय, दीमकयुक्त, उद्यान की, तपस्वी के आश्रम की, संगम की, घड़े के जल से सिञ्चित, जंगली लताओं से युक्त, बिजली या आधी से गिरे वृक्ष की लकड़ी सुखेच्छा रखने वाले व्यक्ति को उपयोग में नहीं लगाना चाहिए, ऐसा करने से (अर्थात् लगाने के बाद) कर्ज की अधिकता उस घर में बनी रहेगी। इतना ही नहीं आवास के समीप आग्नेय दिशा में वट, पीपल, पाकड़ तथा गुलर का वृक्ष हो तो अनायास पीड़ा देने वाला और मृत्यु सूचक होता है। घर के दक्षिण में पाकड़ का पेड़ रोगी बनाने वाला, उत्तरदिशा में गुलर का वृक्ष नेत्र विकार पैदा करने वाला होता है। घर के निकट काटेदार एवं दूधवाले वृक्ष सर्वथा हानिकारक होते हैं। किन्तु इन वृक्षों की छाया यदि घर पर पड़ती हो तो ही इनका दुष्प्रभाव देखा जाता है, अगर दूर स्थित हो तो दोष नहीं लगता।

यदि घर के निकट देवमन्दिर हो, धूर्त का घर हो, सचिव का घर हो या चौराहा नजदीक हो तो वहाँ दुःख और शोक बना रहता है। ऋग्वेद में आवास को तीन भागों में विभाजित किया गया है, क्योंकि ऋग्वेद के मन्त्र में त्रिधातु[3] का अर्थ सायण ने त्रिभूमिक के रूप में किया है, जो लम्बे-चौड़े एवं ऊचे घरों को इंगित करता है जो आज के समय में सार्थक प्रतीत होता है। चूंकि

---

1. वृहद्वास्तुमाला "कूर्माकारे धनक्षयः" पृष्ठ-16 श्लोक 81 ले. रामनिहोरद्विवेदी-चौ.सु.भा.प्र.वाराणसी सं-6 सन् 1998
2. वृहद्वास्तुमाला पृष्ठ-26 श्लोक 128-129 ले. रामनिहोरद्विवेदी-चौ.सु.भा.प्र.वाराणसी सं-6 सन् 1998
3. इन्द्रं त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्द्रिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिघुमेभ्यः॥ (ऋग्वेद 6-46-9) महर्षिदयानन्द सरस्वती सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा रामलीला मैदान नई दिल्ली -2 सन् 2001

कठिनाई से गृहनिर्माण होता है, इसलिए वह गृह दीर्घायु एवं आरोग्य युक्त हो इसके लिए 'वाष्तोष्पति' देवता की आराधना करने की व्यवस्था प्राप्त होती है,[1] तथा उनसे निवेदन किया जाता है, कि हमारा आवास शुभकारक, रोगहीन एवं द्विपद-चतुष्पदों की वृद्धि करने वाला तथा पुत्रों के प्रति पिता जैसी आत्मीयता रखने वाला हो।[2]

वैदिककालीन व्यवस्था में ऋषि लोग पिण्ड में दिक्शोधन आदि की प्रक्रिया सूत्र के सहारे सम्पादित करते थे, जो आज-कल कम्पास की सहायता से सम्पन्न होता है। अथर्ववेद में मापन के लिए निमित एवं मित शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] ऋग्वेद में भी वास्तु से सम्बन्धित अनकों उद्धारण प्राप्त होते हैं। वहीं अथर्ववेद का शाला सूक्त तो वास्तु का स्रोत ही माना जा सकता है। शतपथब्राह्मण में भी गृह विभाग-पूर्वार्ध या सदस और उत्तरार्द्ध या पत्नी सदन के रूप में प्राप्त होता है, जिनकी पुरुष-स्त्री अंगों के साथ उपमा दी जाती है, क्योंकि जैसे स्त्री की सुन्दरता का विश्लेषण होता है, उसी प्रकार आकर्षण (सुन्दर) घर बनाने की सलाह शास्त्रों में वर्णित है। भूमिशोधन के लिए जहाँ अनेक प्रकार के सूत्रों[4] की चर्चा मिलती है, वहीं ऋषि लोग मापन की क्रिया पैरों के सहारे भी सम्पादित करते थे। वहीं भवन का मुख-मण्डप उसकी नासिका से आँका जाता था, जो कालान्तर में आलिन्द शब्द से व्याख्यायित होने लगा। भवन में उत्तर-दक्षिण दिशा का सही विन्यास मनुष्य के लिए सुखकर होता है[5] जबकि पूरब-पश्चिम के सही-निर्धारण से वह गृह देवताओं का प्रिय वास्तु हो जाता है। वैदिकसाहित्य में उपलब्ध वास्तुशास्त्रीय तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि उस काल में वास्तु-विन्यास विकसित, स्पष्ट और सरल था। वास्तुशास्त्रीय विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि जिस घर का दरवाजा ठीक नही है, उसमें कभी-भी शान्ति नहीं रहेगी, इसलिए जिस दिशा में द्वार बनाना हो उस मकान की चौड़ाई-लम्बाई के माप को समान नव भागों में विभक्त करे, और पाँच भाग दाहिने एवं चार भाग बाएं के हिस्से बनाकर वाएं से पहले तीन भाग छोड़कर मध्य के चौथेभाग में द्वार का निर्माण करना चाहिए। यहाँ यह भी स्पष्ट करना उचित है, कि घर के आँगन से बाहर आते (निकलते) समय जो व्यक्ति का दाहिना और बायाँ हो उसे स्वीकार करना चाहिए जो वृहद्वास्तुमाला में वर्णित उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है -

---

1. ऋग्वेद-7-54-1 महर्षिदयानन्दसरस्वती सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा रामलीला मैदान नई दिल्ली -2 सन् 2001
2. वास्तोस्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
   अजरासस्ते संख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व।। (ऋग्वेद 7-54-2) महर्षिदयानन्द सरस्वती सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा रामलीला मैदान नई दिल्ली -2 सन् 2001
3. अथर्ववेद -9-3-19 सम्पादक पं. राकेशरानी दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-5
4. विप्रस्य दर्भजं सूत्रं मौञ्जन्तु क्षत्रियस्य च।
   कर्पासं च भवेद्वैश्ये शूद्रस्य स्वर्ण कल्पितम्।। वृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ 31 श्लोक159
5. शतपथब्राह्मण-3-6-3 वैदिकसाहित्य और संस्कृति-बलदेव उपाध्याय

नवभागं गृहं कृत्वा पञ्चभागं तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कार्यं शेषं द्वारं प्रकीर्तितम्।।[1]

आचार्यवराहमिहिर ने भी दीर्घ व विस्तार में द्वारस्थापन का संकेत किया है। कोणों में द्वार बनाने से रोग और अनिष्ट का भय होता है यथा -

द्वारमायामतः कार्यं पुत्रपौत्रधनप्रदम्।
विस्तारकोणद्वारं यद्दुःखशोकभयप्रदम्।।[2]

इतना ही नहीं यदि किसी घर का दरवाजा स्वयं खुल जाता हो या अपने आप बन्द हो तो वह उन्माद एवं विनाशकारक होता है, तथा जिस भवन का दरवाजा प्रमाण (परिमाण) से अधिक बड़ा हो तो राजभय तथा माप से छोटा हो तो तस्कर एवं व्यसनभय तथा निरन्तर उस घर में कष्ट देखा जा सकता है। द्वार के सामने यदि द्वार[3] हो या द्वार के ऊपर द्वार हो तो गृहाधीश को रोग देने वाला घर होता है, तथा द्वार के सामने कूप या जल का स्थान हो तो अपस्माररोग (मिर्गी) एवं अतिसाररोग होता है। खम्भा या चबूतरा अथवा बावली हो तो अतिसाररोग के साथ ही सन्निपातभय देने वाला, दरवाजे के सामने कुम्भार का चक्र हो तो हृदय जनित कष्ट देने वाला, तथा शिला हो तो पत्थरी रोग एवं राँख (भस्म) सामने हो तो रोग की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए इनके दोष से निजात पाने के लिए आवश्यक है, कि ये सब गृह की ऊचाई के द्विगुणित अन्तर पर हो तब इनका दोष घर में नहीं लगेगा। वास्तु में जलाशय का भी ध्यान रखना चाहिए, ईशान कोण, पूरब एवं उत्तर दिशा में जलाशय अच्छा होता है, वहीं दक्षिण एवं नैऋत्य कोण में जलाशय रोग एवं आयुक्षय करने वाला होता है। वायव्य कोण में बना जलाशय कलह कारक होता है।

गृहनिर्माण में यह भी ध्यान रखना चहिए कि शिलान्यास के अनन्तर भित्ति निर्माण दक्षिणावर्त होनी चाहिए, क्योंकि अन्य भाग में निर्माण हो और दक्षिण का भाग बाद में बनाने के लिए खाली हो तो वहाँ रोग के प्रभाव से जीवन कष्टमय हो जाता है। अगर घर में अग्निकोण दूषित हो या वजनीसामानों से युक्त हो तो रक्तजनित व्याधि, ऐक्सीडेन्ट, पुलिसकेस, आपरेशन, हार्ट एवं ब्लडप्रेशर जनित अनेक रोग सम्भव होते है, इसलिए भारी सामान नैऋत्यकोण में रखना चाहिए। समीपस्थ वृक्षों की छाया दूसरे या तीसरे प्रहर में मकान पर पड़ती हो तो रोगकारक स्थिति बनती

---

1. वृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ 95 श्लोक 162 ले. रामनिहोरद्विवेदी-चौ.सु.भा.प्र.वाराणसी सं-6 सन् 1998
2. वृहद्वास्तुमाला-पृष्ठ 93 टीका में उद्धृत श्लोक ले. रामनिहोरद्विवेदी-चौ.सु.भा.प्र.वाराणसी सं-6 सन् 1998
3. तथान्यपीडितं द्वारं बहुदोषकरं भवेत्।
   मूलद्वारो तथान्यन्तु नाधिकं शोभनं मतम्।।
   -मत्स्यपुराण पृष्ठ-1764 श्लोक-18 ले. श्रद्धाशुक्ल-नागप्रकाशन दिल्ली-16

है, तथा आपके मकान की दीवार दूसरे के घर से मिली हो तो वह गृहाधीश के लिए अनिष्टकर होती है। इसलिए शास्त्रविहित वास्तुनिर्देशों के अनुसार आवास का निर्माण कराना चाहिए, जैसे- पूरबदिशा में लक्ष्मी का घर, अग्निकोण में भोजनालय, दक्षिण में शयन गृह, नैऋत्यकोण में शास्त्रागार, पश्चिम में भोजन करने वाला स्थान, वायव्यकोण में धनसंग्रह, उत्तर में द्रव्यस्थान, ईशानकोण में देवालय, पूर्व और अग्निकोण के बीच दही मथने वाला घर, दक्षिण एवं आग्नेयकोण के मध्य घी रखने का स्थान, दक्षिण और नैऋत्यकोण के बीच शौचालय, नैऋत्य एवं पश्चिम के बीच स्वाध्यायगृह, पश्चिम और वायव्य के मध्य कोपभवन, वायव्य एवं उत्तर के बीच रतिगृह, उत्तर और ईशानकोण के मध्य औषधिगृह, ईशानकोण एवं पूरब के मध्य सभी प्रकार के वस्तुओं को रखने वाला घर बनाना चाहिए।

यदि बिना विचार किये गृह का निर्माण हो गया हो और उससे गृहाधीश को परेशानी परिलक्षित हो रही हो, तो मनुष्य यदि वास्तुशास्त्रीय नियमों का पालन कर या वास्तुदोष का निवारण किसी विशेषज्ञ से जाने ? या कुछ सावधानियाँ बरते तो उसके कुछ दोष को अवश्य ही कम किया जा सकता है, जैसे - रसोई को साफ सुथरा रखें, सड़े हुए फल-सब्जी को पिण्ड से दूर रखें, खाली डिब्बे, बेकार की बिजली की चीजें हटाये, कचरापात्र या अनावश्यक सामान, वस्तु भोजनालय से दूर रखना चाहिए। शौचालय से नकारात्मक ऊर्जा निकलती है, इसलिए उसका दरवाजा बन्द रखें। मुख्यगेट के आग (सामने) वृक्ष, पोल, रास्ता आदि नहीं होना चाहिए। नमक के जल से घर की सप्ताह में एक-बार अवश्य सफाई करनी चाहिए। घर में गायत्री का जप करें, धूपदीप जलावें, एवं श्रीगणेश जी की प्रतिमा स्थापित करने से नकारात्मक ऊर्जा का प्रभाव कम होता है। घर में प्रसन्नमुद्रा वाली तस्वीरें लगायें, जोड़े हाथी की मूर्ति रखें, और पानी के नलकों से यदि जल गिरता हो तो उसे ठीक करावें, क्योंकि पानी के निरन्तर गिरने से धन का क्षय होता है। अथर्ववेद भी इसका समर्थन करता है[1] कि भवन में अग्नि और जल की सुन्दर व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे लोग निरोग रह सकें। सन्तों का मन्तव्य भी लोक में यही प्रचलित है यथा-

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख घर में हो माया।
तीजा सुख सुत दारा वश में, चौथा सुख यश सूब कमाया।।

अतः कहा जा सकता है कि वास्तु के नियमों का पालन करते हुए जो घर का निर्माण करवाता है, या वास्तुशास्त्रीय तथ्यों के आधार पर निर्मित भवन में रहता है वह सपरिवार सुखादि से सम्पन्न होते हुए दीर्घजीवी एवं निरोगी काया से सम्पन्न हो सकता है।

---

1. अथर्ववेदभाष्य 9-3-22 सम्पाद पं. राकेशरानी - दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली -5

द्वार निर्णय - एक वास्तुशास्त्रीय विवेचन

डॉ. रश्मि चतुर्वेदी

मनुष्य रहने और काम करने के लिए जिस भवन का निर्माण करते है उसको वैदिक परम्परा में 'वास्तु' कहते हैं। वैदिक ऋषियों ने आवास एवं क्रिया कलापो में सुविधा और सुरक्षा प्राप्त करने के लिए भवन निर्माण के नियमों का प्रतिपादन किया है। वास्तुशास्त्र का मुख्य उद्देश्य यह है कि मनुष्य के रहने और काम करने के लिए इस प्रकार से भवन का निर्माण किया जाय, जिससे पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पंच महाभूतों के साथ उसका तालमेल बना रहे, तथा गुरुत्व शक्ति, चुम्बकीयशक्ति एवं सौर ऊर्जा - इन तीनों प्राकृतिक शक्तियों का प्रबंधन हो सके। वास्तुशास्त्र का यह दृढ़ विश्वास है कि पंचमहाभूतों के तालमेल और प्राकृतिक शक्तियों के प्रबन्धन को ध्यान में रखकर बनाए गए भवन में रहने वाले और काम करने वाले व्यक्ति का तन-मन एवं जीवन स्वतः स्फूर्त रहता है।

वास्तु या भवन का 'द्वार' उसमें प्रवेश करने का ही द्वार नही है अपितु वास्तुशास्त्र के आचार्यो के अनुसार यह मनुष्य के जीवन की सुख शान्ति और समृद्धि का भी द्वार है। उचित दिशा में द्वार निर्माण से भवन में सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह बना रहता है जबकि अनुचित दिशा में द्वार निर्माण से भवन में नकारात्मक ऊर्जा भर जाती है, यह नकारात्मक ऊर्जा भवन में रहने वाले व्यक्तियों में तनाव, खीझ, आलस एवं अन्नुत्साह को पैदा कर उसके आचार, विचार एवं क्रियाकलापों में अनेक प्रकार की बाधाओं को उत्पन्न करती है इसलिए वास्तुशास्त्र के प्रणेता और हमारे ऋषियों ने भवन के द्वार का विचार बड़ी ही धीरता और गम्भीरता से किया हैं।

भवन के द्वार का निर्णय करने के लिए वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में अनेक पद्यतियों का आश्रम लिया गया है जिनमें राशि के अनुसार, वर्ण के अनुसार, मास के अनुसार, गृहारम्भ की तिथि के अनुसार एवं वास्तुपदमण्डन के अनुसार द्वार का निर्णय करने की रीतियाँ प्रमुख है इसके अतिरिक्त प्रधानद्वार एवं अन्य द्वारों का अन्तर, द्वार का मान, द्वार के दोष, द्वार स्थापना का मुहुर्त्तू एवं उसके अन्यान्य नियमों का वास्तुग्रन्थों में सांगोपांग वर्णन एवं विवेचन किया गया है।

(क) राशि के अनुसार द्वार की दिशा-

ब्राह्मण राशि (4/8/12) वालों को पूर्व दिशा में, वैश्यराशि (2/6/10) वालों को दक्षिण दिशा में, शूद्र राशि (3/7/11) वालों को पश्चिम दिशा में, एवं क्षत्रिय राशि (1/5/9) वालों के

लिए उत्तर दिशा में गृह का द्वार बनाना उत्तम होता है।[1]

(ख) वर्ण के अनुसार द्वार की दिशा-

ब्राह्मणों को ध्वज आय वाले भवन में पश्चिम दिशा में, क्षत्रियों को सिंह आय वाले भवन में उत्तर दिशा में, शूद्र को गज आय वाले भवन में दक्षिण दिशा में और वैश्यों को वृष आय वाले भवन में पूर्व दिशा में मुख्य द्वार बनाना चाहिए।[2]

(ग) गृहारम्भ मास के अनुसार द्वार की दिशा-

कुम्भ राशि के सूर्य में गृहारम्भ हो तो पूर्व एवं पश्चिम मुख (द्वार) का मकान बनाना चाहिए। तुला, मेष, वृष एवं वृश्चिक राशि के सूर्य में गृहारम्भ हो तो दक्षिण एवं उत्तर मुख का मकान बनाना चाहिए, इससे विपरित यदि अनमिज्ञ व्यक्ति मकान का द्वार बनवाता है तो वह व्याधि, शोक एवं धननाश का अनुभव करता है। मीन, धनु, मिथुन और कन्या राशियों के सूर्य में कदापि मकान नहीं बनवाना चाहिए।[3]

(घ) गृहारम्भ तिथि के अनुसार द्वार की दिशा-

गृहारम्भ का दिन यदि पूर्णिमा से लेकर कृष्णपक्ष की अष्टमी तक हो तो भवन का मुख्य द्वार पूर्व दिशा में बनाना चाहिए। यदि कृष्ण पक्ष की नवमी से चतुर्दशी के भीतर गृहारम्भ का दिन हो तो भवन का मुख्य द्वार उत्तर दिशा में बनाना चाहिए। अमावस्या से शुक्तपक्ष की अष्टमी तक गृहारम्भ का दिन हो तो भवन का मुख्य द्वार पश्चिम दिशा में बनाना चाहिए और यदि शुक्लपक्ष की नवमी से चतुर्दशी तक, गृहारम्भ का दिन हो तो भवन का मुख्य द्वार दक्षिण दिशा में बनाना चाहिए।[4]

---

1. पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिणे शुभम्।
   शूद्राणां पश्चिमे द्वार नृपाणामुत्तरे मतम्।। बृहद्वास्तुमाला द्वारनिर्णय, श्लो. 149
2. ध्वजे परास्यं विप्राणां राज्ञां सिंहेप्युदङ्मुखम्।
   गजे शूद्रस्य याम्यास्य विशः पूर्वमुखं वृषे।। तत्रैव टिप्पणी श्लोक 150
3. कर्किनक्रहरिकुम्भागतेऽर्के पूर्वपश्चिम मुखानि गृहाणि।
   तौलिमेषवृषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुख्यानि च कुर्यात्।।
   अन्यथा यदि करोति दुर्मतिव्याधिशोकधननाशमश्नुते।
   मीनचापमिथुनाङ्गनागते कारमेन्न गृहमेव भास्करे।। बृहद्वास्तुमाला मा. फा. श्लोक 57
4. पूर्णिमातोऽष्टमीं यावत्पूर्वस्यां वर्जयेद्गृहम्।
   उत्तरस्यां न कुर्वीत नवम्यादिचतुर्दशीम्।।
   अमातश्चाष्टमीं यावत्पश्चिमास्यां विवर्जयेत्।
   नवम्यां दक्षिणस्यां यावच्छुक्लचतुर्दशीम्।। वास्तुरत्नावली वास्तुनिर्णय, श्लोक 80-81

5. वास्तुपदमण्डल के अनुसार द्वार की दिशा–

एकाशीति (इक्यासी) पद वास्तुचक्र[1]

शुभऊर्जा स्थान

अशुभ ऊर्जा स्थान

वायव्य — उत्तर — ईशान

पाप रोग राक्षसी	नाग	मुख्य	भल्लाट	सोम	चरक	अदिति	दिति	ईश चरकी
पाप	रुद्र		पृथ्वीरधर षट्पदिक				आपवन्स	पर्जन्य
शोष		राजयक्ष्म				आप		जयन्त
असुर	मित्र षट्पदिक		ब्रह्मा नवपदिक			अर्यमा षट्पदिक		इन्द्र
वरुण								सूर्य
पुष्पदन्त								सत्य
सुग्रीव		जय	विवस्वान षट्पदिक			सविता		भृश
दौवारिका	इन्द्र						सावित्र	आकाश
पुतना पितर	मृग	भृंगराज	गंधर्व	यम	गृहक्षत	विदथ	पूषा	विदारी अग्नि

पश्चिम — पूर्व

नैऋत्य — दक्षिण — आग्नेय

1. भारतीयवास्तुमाला पृष्ठ 105 प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी

उक्त एकाशीतिवास्तु यक्र में शुभ एवं अशुभ स्थानों को प्रदर्शित किया गया है तथा निम्न चक्र में यह प्रदर्शित किया गया है कि किस पद में द्वार बनाना चाहिए जिससे घर में प्रसन्नता रहे। यथा[1]–

उत्तर

25	26	27	28	29	30	31	32	1
24								2
23								3
22								4
21								5
20								6
19								7
18								8
17	16	15	14	13	12	11	10	9

पश्चिम पूर्व

दक्षिण

पूर्व द्वार का फल–

वास्तु मण्डल में शिखी से लेकर अन्तरिक्ष तक आठ देवता पूर्व में हैं। इनमें शिखी के ऊपर द्वार हो तो अग्निभय, पर्जन्य के ऊपर द्वार हो तो कन्या जन्म, जयन्त के ऊपर द्वार हो तो बहुत धन, इन्द्र के ऊपर द्वार हो तो राजा की प्रसन्नता, सूर्य के ऊपर द्वार हो तो क्रोधीपन, सत्य के ऊपर द्वार हो तो असत्य भाषण, भृश के ऊपर द्वार हो तो क्रूरता और अन्तरिक्ष के ऊपर द्वार हो तो तस्करता आती है।

दक्षिण द्वार का फल–

अनिल से लेकर मृग तक आठ देवता दक्षिण में हैं उन में अनिल के ऊपर द्वार हो तो अल्पपुत्र, पौष्ण के ऊपर दासपन, वितथ के ऊपर नीचपन, बृहत्क्षत के ऊपर भोजनपाद वस्तु तथा पुत्रों की वृद्धि, यम के ऊपर अशुभ, गन्धर्व के ऊपर कृतघ्नता, भृंगराज के ऊपर निर्धनता और मृग के ऊपर द्वार हो तो पुत्र के बल की हानि होती है।

1. भारतीयवास्तुमाला पृष्ठ 105 प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी

पश्चिम द्वार का फल-

पितर से लेकर पापयक्ष्मा तक आठ देवता पश्चिम में हैं। उन में पितर के ऊपर द्वार हो तो पुत्रों की पीड़ा, दौवारिक के ऊपर द्वार तो शत्रुवृद्धि, सुग्रीव के ऊपर द्वार हो तो पुत्र और धन का लाभ, कुसुमदन्त के ऊपर द्वार होतो पुत्र और धन सम्पत्ति की प्राप्ति, वरूण के ऊपर द्वार होतो धनसम्पति, असुर के ऊपर राजभय, शोष के ऊपर द्वार हो तो धननाश तथा पापयक्ष्मा के ऊपर द्वार हो तो रोग होता है।

उत्तर द्वार का फल-

रोग से लेकर आठ देवता उत्तर में हैं। उन में रोग के ऊपर द्वार हो तो मृत्यु एवं बंधन, सर्प के ऊपर द्वार हो तो शत्रुवृद्धि, मुख्य के ऊपर द्वार हो तो पुत्र एवं धन लाभ, भल्लाट के ऊपर द्वार हो तो समस्त गुणों की वृद्धि, सोम के ऊपर द्वार हो तो पुत्र से द्वेष अदिति के ऊपर द्वार हो तो स्त्री दोष, दिति के ऊपर द्वार हो तो निर्धनता होती है।[1]

प्रधानद्वार एवं अन्य द्वारों में अन्तर-

भवन का मुख्य द्वार अन्य द्वारों की अपेक्षा अधिक बड़ा एवं घट पत्र एवं फल इत्यादि मांगलिक चिन्हों के द्वारा आकर्षक बनाना चाहिए। शेष सभी द्वार समान रूप से बनाने चाहिए।[2]

द्वार प्रमाण- गृह की लम्बाई अर्थात् जिस दिशा में द्वार बनाना हो उस ओर की लम्बाई का बराबर-बराबर नौ हिस्से करके पाँच भाग दाहिने और तीन भाग बाएँ तरफ छोड़कर शेष (अर्थात् बायें से चौथै) भाग में द्वार बनाना चाहिए।[3]

---

1. नवगुणसूत्रविभक्तान्यष्टगुणेनाथवा चतु:षष्टे।
   द्वाराणि यानि तेषामनलादीनां फलोपनय:।।
   अनिलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
   क्रोधपरतानृतत्वं क्रौर्य चौर्य च पूर्वेण।।
   अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धि:।
   रौद्रं कृतध्नमधनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन।।
   सुतापीडा रिपूवृद्धिर्न सुतधनाप्ति: सुतार्थफलसम्पत्।
   धनसम्पन्नृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे।।
   वधबन्धो रिपुवृद्धि: सुतधनलाभ: सम्स्तगुणसम्पत्।
   पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषा स्त्रिया नै: स्वम्।। संग्रहशिरोमणि, 176, 178-181
2. मूलद्वारं नान्यैर्द्वारैरभिसन्धीत रुपद्धर्या।
   धटफलपत्रप्रमथादिभिश्च तन्मंगलैश्चिनुयात्।। बृहद्वास्तुमाला द्वारवेध श्लोक 159
3. नवभागं गृहं कुर्यात् पंच भाग तु दक्षिणे।
   त्रिभागमुत्तरे कृत्वा शेषे द्वार प्रकल्पयेत्।। बृहद्वास्तुमाला द्वारवेध श्लोक 162

भवन के हस्तात्मक विस्तार के तुल्य अंगुल में 50 अंगुल और जोड़ देने पर कनिष्ठ द्वार की ऊचाँई, 60 अंगुल और जोड़ देने से मध्यम द्वार की ऊचाँई और 70 जोड़ देने पर उत्तम द्वार की ऊँचाई होती है। लम्बाई के 13वें हिस्से से युक्त लम्बाई के आधे के बराबर उत्तम द्वार की चौड़ाई, लम्बाई से लम्बाई का तृतीयांश 1/3 कम अर्थात् लम्बाई के 2/3 के बराबर मध्यम द्वार की चौड़ाई तथा लम्बाई से आधे के तुल्य निकृष्ट द्वार की चौड़ाई का मान होता है। उतने ही अंगुल द्वार की चौड़ाई और द्वार की चौड़ाई का दुना की ऊचाँई बनानी चाहिए। यथा–

षष्ट्यावाऽथ शतार्धसप्ततियुतैर्व्यासस्य हस्ताङ्गुलै-
र्द्वारस्योदयको भवेच्च भवने कनिष्ठोत्तमौ
दैर्घ्यार्धेन च विस्तरः शशिकलाभागोधिः शस्यते
दैर्घ्यात्र्यंशविहिनमर्धरहितं मध्यं कनिष्ठं क्रमात्।।[1]

द्वार के दोष–

1. दरवाजा यदि स्वंय खुलता हो तो गृहस्वामी को अन्माद रोग होता है, स्वंय बंद होता है तो कुलनाश होता है।

2. प्रमाण से अधिक लम्बा हो तो राजभय, प्रमाण से कम हो तो चोरभय एवं शारीरिक कष्ट होता है।

3. मोटाई में प्रमाण से अधिक हो तो भूख एवं भय कारक होता है।

4. द्वार शाखा में वक्रता हो तो कुलनाश करता है।

गूलर की लकड़ी से यदि द्वार निर्माण किया जाय तो गृहपति को कष्ट होता है।

द्वार में यदि गृह के भीतर की तरफ भुकाव हो तो भूस्वामी के लिए मृत्युतृल्य कष्ट होता है। यदि गृह के बाहर की तरफ द्वार का झुकाव हो तो गृहस्वामी प्रवासी होता है।

दरवाजे के ऊपर या दरवाजे के सामने दरवाजा हो तो गृहस्वामी को अनावश्यक व्यय वृद्धि संकट तथा दरिद्रता देने वाला होता है।[2]

भित्ति के बीचों बीच यदि द्वार स्थापित हो तो द्रव्य एवं धान्य विनाशक, कलह एवं शोकप्रद तथा स्त्रीवर्ग के लिए पीड़ादायक होता है।[3]

---

1. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 5/13
2. द्वारस्योपरि यद्द्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम्।
   न कार्यं व्ययदं यच्च संकटं तद्दरिद्रकृत्।। बृहद्वास्तुमाला द्वारवेद, टि. श्लोक 153
3. भित्तिमध्ये कृतद्वारं द्रव्यधान्यविनाशनम्।
   आवहेत् कलहं शोक नारीवासं प्रदूषयेत्।। तत्रैव

द्वार यदि भवन के कोने में स्थापित हो तो वह गृहस्वामी को दु:ख शोक एवं भय को देने वाला होता है।[1]

द्वार वेध-

गृह के द्वार पर यदि मार्ग, वृक्ष, दूसरे के घर का कोना, कुआँ, खम्भा या भ्रम (जल निकलने की मोरी) हो तो वह अशुम होता है। परन्तु से सब घर की ऊँचाई से दुगनी दुरी पर हो तो अशुभ नही होता।[2]

वेधित द्वार का फल-

यदि गृहद्वार मार्ग से वेधित हो तो गृहस्वामी की मृत्यु, वृक्ष से वेधित हो तो बच्चों में दोष, कीचड़ से वेधित हो तो शोक, मोरी से वेधित हो तो मिरगी रोगदायक, देवता की प्रतिमा से वेधित हो तो गृहस्वामी का नाश, स्तम्भ से वेधित हो तो स्त्रियों में दोष, ब्रह्मा के सम्मुख हो तो कुल का नाश होता है।[3]

द्वार स्थापना का मुहूर्त-

द्वार स्थापना के लिए मुहूर्त्त का विचार करने में वार, नक्षत्र, तिथ्यादि एवं द्वारशाखा चक्र द्वारा निर्णय किया जाता है।

ग्राह्य वार- चन्द्र, बुध, गुरु एवं शुक्र।

ग्राह्य तिथियाँ- पंचमी, सप्तमी, अष्टमी, एवं नवमी तिथियाँ शुभ होती है।

द्वार स्थापना के समय भद्रादि दोषों का विचार भी कर लेना चाहिए। द्वारशाखा चक्र के माध्यम से नक्षत्र शुद्धि का विचार कर लेना चाहिए। द्वारचक्र में सूर्य के नक्षत्र से दिन के नक्षत्र तक गणना करने पर विभिन्न नक्षत्रों में द्वार-स्थापना करने पर मिलने वाला शुभाशुभ फल का क्रमश: विचार किया जाता है। जिसे चक्र में 27 नक्षत्रों के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है।

---

1. द्वारमायामत: कार्यं पुत्रपौत्रधनप्रदम्।
   विस्तारकोणे द्वारं यद् दुख शोकभयप्रदम्।। विश्वकर्मप्रकाश, तत्रैव
2. मार्गतरुकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
   उच्छायाद् द्विगुणामितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय।। बृहद्वास्तुमाला श्लोक 52-74
3. रथ्या विद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरुषा।
   पंकद्वारे शोको व्ययोऽम्बुनि:स्त्राविणि प्रोक्त:।।
   कूपेनापरस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।
   स्तम्भेन स्त्रीदोषा: कुलनाशो ब्रह्मणोऽभिमुखे।। बृहत्संहिता 52.73-76

द्वार शाखा चक्र

द्वारस्थापना	शिर	कोण	शाखा	देहली	मध्य
नक्षत्र	4	8	8	3	4
फल	लक्ष्मी प्राप्ति	उद्वास	सुख प्रवास	गृहस्वामी की मृत्यु	सुख

उपसंहार-

वास्तुशास्त्र में द्वार का महत्व सर्वधिक बतलाया गया है। वस्तुतः सही दिशा में भवन का द्वार होने से निर्मित भवन में सकारात्मक ऊर्जा का तथा निषिद्ध दिशा में द्वार होने से भवन में नकारात्मक ऊजा का प्रवाह बना रहता है। इसलिए वास्तुशास्त्र के सभी आचार्यों ने भवन निर्माण में द्वारनिर्णय बड़ी धीरता एवं गंभीरता से किया गया है। वास्तुशास्त्र में द्वार निर्णय की मुख्यरूप से पाँच रीतियाँ बतलाई गई है–

1. राशि के अनुसार द्वार निर्णय।
2. वर्ण के अनुसार द्वार निर्णय।
3. गृहारम्भ मास के अनुसार द्वार निर्णय।
4. गृहारम्भ की तिथि के अनुसार द्वार निर्णय।
5. वास्तुमण्डल के अनुसार द्वार निर्णय।

इन पाँचों रीतियों के द्वारा भवन में द्वार स्थापना की दिशा का विचार, किया जाता है। इन पाँचों रीतियों से निर्णित द्वार सर्वश्रेष्ठ, तीन चार रीतियों से निर्णित द्वार अच्छामात्र एक दो रीतियों से निर्णत द्वार मध्यय श्रेणी का होता है। आज के युग में महानगरों में विकास प्राधिकरण, अर्बन डेवल्पयेन्ट डिपार्टमेंट या बिल्डरों के द्वारा भवन निर्माण के लिए काटे गए प्लाट बहुदा सड़क पर एक ओर खुलते है इस स्थिति में द्वार निर्णय की अनेक रीतियाँ होने के कारण आवासीय भूखण्ड पर भवन का द्वार बनाने से व्यक्ति को पर्याप्त मात्रा में विकल्प मिल जाते हैं। शास्त्र की विधि और निषेध व्यक्ति के जीवन में सुविधा और सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए प्रतिपादित किए गए हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि शास्त्र का पूर्णशुद्ध या सर्वश्रेष्ठ निर्णय किसी-किसी को मिलता है। अतः विविध रीतियों से द्वार का विचार कर अपने भूखण्ड पर वास्तुसम्मत द्वार का निर्माण किस दिशा में करना चाहिए इसका निर्णय किया जा सकता है।

दक्षिणदिग् द्वार

डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी

मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में गृह का महत्वपूर्ण स्थान है। गृह के विना गृही अथवा गृहस्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है। सभी आश्रमों में महत्वपूर्ण आश्रम गृहस्थाश्रम सभी शेष तीन आश्रमों का पालन करता है।[1] गृहस्थ के मूल गृहनिर्माण की समस्त प्रक्रियाओं का निदर्शन करना हीं वास्तुशास्त्र का प्रधान उद्देश्य है। वास्तुशास्त्र के अनुरूप निर्मित गृह में सभी प्रकार की उपलब्धि तथा सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है। अत एव गृहनिर्माण में वास्तुशास्त्र के महत्व को सर्वतोभावेन महत्वपूर्ण अंगीकृत किया गया है। गृहनिर्माण हेतु भू-चयन से प्रारम्भ कर गृहप्रवेश तक की समस्त विधाओं का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। हमारे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने प्रयोग एवं तपस्या के द्वारा जिन मानदण्डों एवं विविध प्रकार के मापकों का प्रयोग किया है, वस्तुतः वह आज भी उतना हीं प्रासंगिक है जितना वर्षों पूर्व था।

गृह-द्वार का विचार वास्तुशास्त्र का प्रमुख विचारणीय पक्ष है। द्वार के माध्यम से हीं हम गृह के अन्दर प्रवेश करते हैं तथा शुभाशुभ सभी कृत्य वा अनुष्ठान भी सम्पन्न इसी के द्वारा करते हैं। द्वार व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं यश-मान-प्रतिष्ठा का द्योतक भी होता है, जिससे स्वतः बहुत सारे विषयों का ज्ञान देखकर हो जाता है। ऐसी स्थिति में गृहद्वार का विचार विस्तृत रूप से वास्तुशास्त्र में किया गया है परन्तु प्रस्तुत शोधपत्र में दक्षिण दिग्- द्वार के विविध प्रकार एवं विषय तथा प्रासंगिकता एवं आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जा रहा है। यद्यपि शास्त्रों में गृहद्वार की परिकल्पना चतुर्दिक् बताई गई है और प्रायः समस्त ज्योतिषशास्त्रीय एवं वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तृत रूप से इसकी परिचर्चा भी की गई है तथापि दक्षिण दिग्द्वार को लेकर साधारण जनों में एवं लोक में एक विशेष दृष्टि रही है अतः इसका गहन अध्ययन एवं निष्कर्ष से निर्धारण करनें का प्रयास किया जा रहा है।

दक्षिण दिग्- दिक् की उपयोगिता मानव जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दिग्ज्ञान के विना किसी भी कार्य को करना या एक पद भी चलना असंभव सा प्रतीत होता है। **'प्राच्यादि**

---

1. वास्तुरत्नाकर 1/4

व्यवहारहेतोः दिक्' परिभाषा पूर्व आदि दिशाओं की अवबोधिका रूप में विद्यमान हैं। ज्योतिष शास्त्र में दिक् पद पारिभाषिक पद के रूप में पाया जाता है, जिसका संख्यात्मक व्यवहार 10 के बराबर माना जाता है। यजुर्वेद के **'दिशश्च मे'** पद के द्वारा दिशाये कल्याणकारक हों की कामना प्राप्त होती है। आधुनिक विज्ञान की परम्परा के अनुसार खगोल एवं भगोल दोनों हीं दृष्टियों से दिशाओं की भूमिका अतीव महत्वपूर्ण है। इस प्रकार दिग्- पद का प्रयोग समस्त संस्कृत वाङ्मय में विस्तृत रूप से पाया जाता है जिसमें 10 दिशाओं का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से प्राप्त होता है।

1. पूर्व, 2. अग्नि, 3. दक्षिण, 4. नैऋत्य, 5. पश्चिम, 6. वायव्य, 7. उत्तर, 8. ईशान, 9. उर्ध्व, 10. अधः

दिशाओं के 10 भेद या प्रकार होने के कारण हीं दिक् पद से 10 का अर्थबोध ज्योतिष शास्त्र में किया जाता है। त्रिप्रश्नाधिकार का सर्वप्रथम अवयव दिग् हीं स्वीकार कर दैवज्ञों ने सबसे पहले दिग् साधन की सूक्ष्मता का विवेचन सभी सिद्धान्त ग्रन्थों में किया है। समीक्षा की दृष्टि से विचार करें तो पाते हैं कि दिशायें भी एक मापक हैं इस ब्रह्माण्ड का, जिसके विषय में मानव मस्तिष्क सतत् अन्वेषण के लिए तत्पर रहता है। गणितीय आधार पर स्थूल-सूक्ष्म भेद दिग् के होते हैं परन्तु पूर्वादिक्रम में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी दिशायें तद्-तद् कार्य व्यवहार एवं मानक के रूप में निश्चित रूप से ग्राह्य हैं। जितना महत्व शास्त्रकारों ने पूर्व को दिया है उतना हीं महत्व दक्षिण दिग् को भी प्राप्त होता है। ऐसी परिस्थिति में दक्षिण दिग् को दोषप्रद स्वीकारना या दक्षिण के तरफ द्वार निर्माण न करना तथ्यविहीन सा प्रतीत होता है।

(क) ज्योतिष के अनुसार द्वार की अवधारणा- प्रस्तुत सन्दर्भ में ज्योतिषशास्त्रीय व्युत्पत्ति मीमांसा से अर्थमूलक एवं कोशमूलक अर्थग्रहण करते हैं तो पाते हैं कि द्वार पद नपुंसकलिंग है जिसकी व्युत्पत्ति होती है- **''द्वरति निर्गच्छति गृहाभ्यन्तरादनेनेति''** (दृ+घ्)। इसके सन्दर्भ को बताते हुए शब्दकल्पद्रुम[1] में लिखा है कि-

गृहिणां शुभदं द्वारं प्राकारस्य गृहस्य च।
न मध्यदेशे कर्तव्यं किंचियूनाधिकं शुभम्॥[2]

इस व्युत्पत्ति के आधार पर यदि विचार करें तो पाते हैं कि जिसके द्वारा घर से बाहर निकला जाय वह द्वार कहलाता है। ऐसा हीं प्रसंग द्वार के निर्धारण में बाये एवं दाये के ज्ञानार्थ प्राप्त होता है कि

---

1. शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ 763
2. ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्म खण्ड-763

दक्षिणाः स वै प्रोक्तः मन्दिरान्निः सृते सति।
यो भूयाद्दक्षिणे भागे वामे भूयात् स वामगः॥[1]

यहाँ भी बाहर निकलते समय हीं दाँया एवं बाँया का ज्ञान बताया गया है।

परन्तु प्रस्तुत निमित्तमूलक व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ के आधार पर यदि विचार करते हैं तो, यहाँ पाते हैं कि क्या वो सभी द्वार जिससे निकला जाता है द्वार हैं? यहाँ अतिव्याप्ति दोष है। कदाचित् कुछ घरों में आने का अन्य एवं लौटने का अन्य द्वार होता है वैसी स्थिति में लोक व्यवहार में प्रसिद्ध एवं प्रवृत्तिमूलक जिससे गृहाभ्यन्तर प्रविष्ट हुआ जाय, नामक द्वार तिरस्कृत हो रहा है।

कर्मकाण्ड की प्रक्रिया के अन्तर्गत नूतन गृहप्रवेश करते समय द्वार पर पाँच देवताओं का पूजन करना भी प्रवेश की महत्ता हेतु मुख्यद्वार को द्योतित करता है। यह पूजन पिण्ड (गृहाभ्यन्तर) में प्रवेश से पूर्व हीं होता है न कि बाहर निकलते समय। ज्योतिष शास्त्रीय परम्परा के आद्य पौरुषेय ग्रन्थकार आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के वास्तुविद्याध्याय में लिखा है कि-

मूलद्वारं नान्यैर्द्वारैरभिसन्दधीतरूपद्धर्या।
घटफलपत्रप्रमथादिभिश्च तन्मलैश्चिनुयात्॥[2]

आचार्य भटोत्पल कहते हैं कि ''मूलद्वारं नाम प्रधानमिति''। इस प्रकार पूर्वोक्त पद्य से एवं भटोत्पल की व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक गृह में 2 प्रकार के द्वार होते हैं एक तो वह जो प्रधान द्वार है अन्य द्वार गौड या अप्रधान है। इससे यह भी सुनिश्चित होता है कि, प्रधान द्वार एक हीं होता है और उससे अधिक सुन्दर अन्य द्वार को नहीं बनाना चाहिए।

मूलद्वार को ही आचार्य श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी जी ने वास्तुरत्नाकर नामक ग्रन्थ में **''सदर दरवाजा''** कहते हैं[3]। में प्राप्त होता है कि **प्रधानद्वारमपहाय सर्वाणि द्वाराणि तुल्यप्रमाणानि विधेयानि।**[4]

अर्थात् प्रधान द्वार सबसे बड़ा एवं मनोरम बनावें तथा शेष द्वारों को समान प्रमाण का बनावें। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भी सुनिश्चित हो जाता है कि प्रधान द्वार एक ही होता है, जिससे सभी प्रमुख शुभकार्य में प्रवेश एवं निर्गमन किया जा सके।

(ख) प्रधान द्वार का स्थान- प्रधान द्वार के स्थान के निर्धारण के लिए मुख्य रूप से गृहपिण्ड (लम्बाई/चौड़ाई) को हीं सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाएगा। गृहपिण्ड (Covered area) में हीं मुख्यद्वार बनाना चाहिए, जिसके निर्धारण हेतु बहुत प्रकार के मानक बताये गये हैं।

1. वास्तुरत्नाकर 8/30
2. बृहत्संहिता 52/80
3. वास्तुरत्नकर पृष्ठ 78
4. वास्तुराजवल्लभ 5/73-74

आचार्य विश्वकर्मा कहते हैं कि द्वार के विन्यास क्रम में 15 प्रकार के पक्ष बतायें गये हैं। यथा–**द्वाराणां चैव विन्यासाः पक्षाः पंचदशस्मृताः।**[1]

इस प्रकार सर्वतोभावेन सैद्धान्तिक दृष्टया जो सबसे महत्वपूर्ण एवं गणितीय परम्परा से युक्त व्यवहारोपयोगी पक्ष या विधि प्राप्त होती है। वह यह है कि–

नवभागं गृहं कृत्वा पदाभागं तु दक्षिणे।
त्रिभागमुत्तरे कृत्वा शेषं द्वारं प्रकीर्तितम्।।[2]

उपर्युक्त विधि के आधार पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि, इस नव भाग एवं 5, 3 आदि भाग पिण्ड के द्वारा हीं निर्धारित होते हैं और गृहपिण्ड हीं मापक सिद्ध होता है। जिससे विचार कर प्रधान द्वार का स्थान निर्धारित करते हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ को कुछ लोग चाहरदिवारी (Boundary) के साथ जोड़कर मुख्यद्वार के स्थान का निर्धारण करते हैं, यह सर्वथा अनुचित एवं अप्रमाणिक पक्ष है। आखिर किस आधार पर चाहरदिवारी (पिण्ड से बाहर) की द्वार को मुख्यद्वार स्वीकार किया जाय? जो शास्त्रीय परम्परा में कहीं भी नहीं प्राप्त होता है न हि सैद्धान्तिक युक्ति हीं प्रतीत होती है। सामान्य तर्कों के आधार पर तथा अज्ञानता वश लोग चाहरदिवारी को हीं गृहपिण्ड मानकर द्वार का सन्निवेश करने लगते हैं, यह अशास्त्रीय एवं अव्यवहारिक पक्ष है। निष्कर्ष रूप में गृह पिण्ड के अन्तर्गत हीं मुख्यद्वार बनाना चाहिए और चाहरदिवारी से मुख्यद्वार का कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा जानना चाहिए।

(ग) प्रधानद्वार की दिशा– आचार्य विश्वकर्मा ने लिखा है कि द्वार के विन्यास में 15 पक्ष हैं, यथा–

अथातः श्रृणु विप्रेन्द्रद्वारलक्षणमुत्तमम्।
द्वाराणां चैव विन्यासाः पक्षाः पंचदश स्मृताः।।[3]

इस प्रकार सभी 15 प्रकार के विन्यास की समीक्षा करें तो पाते हैं कि चाहें मासादि क्रम से स्थापना हो, राशिपरक हो, सूर्य की राशि स्थिति परक हो, तिथिपरक हो, राशियों के द्वारा निर्मित विप्रादिवर्ण परक हो, चन्द्रराशि स्थिति परक हो, मास परक हो, वार परक हो, द्वारचक्र परक हो या नक्षत्र परक हो, प्रायः समस्त स्थलों पर चारों दिशाओं में प्रधान द्वार बनाने को कहा गया है। यहाँ किसी भी दिग् विशेष का निषेध नहीं है। इस प्रकार विश्वकर्मा जी के मतानुसार पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर (चारों) दिशाओं में मुख्यद्वार निर्माण करना चाहिए। यदि ग्रन्थान्तर का विचार करें

---

1. विश्वकर्माप्रकाश, 7.1
2. वास्तुरत्नाकर, पृ. 86
3. विश्वकर्माप्रकाश, 7.1

तो पाते हैं कि दक्षिणद्वार वैश्यों के लिए शुभ है। यथा–**''वैश्यानां दक्षिणे शुभम्''**[1] बृहद्दैवज्ञरंजन एवं वास्तुप्रदीपकार कहते हैं कि **''वैश्यस्य ज्ञेयं यमदिङ्मुखं हि**[2]**''**। कहते हैं कि–

द्वारं चतुर्विधं प्रोक्तं वास्तुसंक्रान्तिमायजम्।
कृत्वा चान्यतमं मुख्यं गवाक्षाद्यैः पराणि च।।[3]

इस प्रकार चारों दिशाओं में मुख्यद्वार का विधान बताया गया है, जिसमें किसी भी दिशा का निषेध या दुष्फल नहीं प्राप्त होता है। एक स्थान विशेष पर प्राप्त होता है कि,

प्राग्द्वाराष्टकमध्यतोऽपि न शुभं सूर्येशपर्जन्यतो।
याम्यायां च यमाग्नि पौष्णमपरे शेषासुरं पापकम्।

सौम्यामथ रोगनागगिरिजं त्याज्यं तथान्यच्छुभं।
कैश्चिद् दारुणसौम्यकं नहि हितं प्रोक्तं च वातायने।।[4]

अर्थात् पूर्वदिशा में अष्ट (पदों) द्वारों में ईश, पर्जन्य, सूर्य एवं मध्यद्वार प्रशस्त नहीं है। दक्षिण दिशा में अग्नि, पूषा एवं यम द्वार शुभ नहीं है। पश्चिम में शोष, असुर एवं पाप द्वार अशुभ है तथा उत्तर दिशा में रोग, नाग एवं पर्वत का द्वार अशुभ होते हैं। कुछ विद्वान् उत्तर दिशा के द्वार को कष्टप्रद मानते हैं। इस प्रकार वास्तु के एकाशीति पदों में स्थित देवताओं के आधार पर द्वार निषेध बताया गया है परन्तु सभी दिशाओं में द्वार का स्थापन बताया गया है। द्वार संख्या क्रम में प्राप्त होता है कि–

एकं द्वारं प्राङ्मुखं शोभनं स्याच्चतुर्वक्त्रं धातृभूतेशजैने।
युग्मं प्राच्यां पश्चिमेऽथ त्रिकेषु मूलद्वारं दक्षिणे वर्जनीयम्।।[5]

अर्थात् 1 द्वार बनाना हो तो पूर्व में अच्छा होता है। ब्रह्म, शिव एवं जैन मन्दिरों में चारों तरफ तथा 2 द्वार बनाना हो तो पूर्व एवं पश्चिम में एवं 3 द्वार बनाना हो तो दक्षिण दिशा त्याग देनी चाहिए।

इस प्रकार सर्वतोभद्र आदि उत्तम वास्तु में चतुर्दिक द्वार का नियोजन बताया गया है। निष्कर्ष रूप में प्राप्त होता है कि, चाहे विश्वकर्मा का द्वार निर्माण का 15 प्रकार हो या 4 प्रकार सूत्रधार मण्डन के द्वारा बताया गया हो या अन्य किसी भी प्रकार का भेदोपभेद बताया गया हो परन्तु सर्वत्र चारों दिशाओं में द्वार (प्रधान) बनाने का निर्देश है।

---

1. वास्तुराजवल्लभ 1/12
2. बृहद्दैवज्ञरंजन 86/354, वास्तुप्रदीपकार पृ. 46
3. वास्तुरत्नाकरकार पृ. 8/45
4. वास्तुराजवल्लभ 5/27
5. वास्तुरत्नाकर, 8/49

(घ) दक्षिण दिग् द्वार- वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में चतुर्दिक् द्वार को प्राय: समस्त ग्रन्थकारों नें वर्णित किया है। द्वार की संख्या एवं वर्ण द्वारा उद्बोधित राशियों के आधार पर भी चारों दिशाओं में द्वार निर्माण को बताया गया है। प्रस्तुत ईकाई के अन्तर्गत हम दक्षिण दिग् द्वार को विवेचित कर रहे हैं।

प्राय: शास्त्रकारों नें वैश्यों के लिए दक्षिण दिग् द्वार को उत्तम बताया है परन्तु यहाँ कुछ स्थलों पर वर्ण का आधार राशि को स्वीकृत कर बताया गया है। आचार्य विश्वकर्मा ने द्वार निर्माण के 15 प्रकार के विन्यास को बताया है परन्तु वहाँ भी चारों दिशाओं में द्वार बनाने का निर्देश किया गया है।

सर्वप्रामाणिक एवं सभी विद्वानों के द्वारा समादृत विधि **''नवभागं गृहं कृत्वा''** का निर्देश भी चतुर्दिक द्वार के लिए किया गया है। मूलत: यहाँ किसी भी दिग् का निर्धारण न होने के कारण दक्षिण दिग् द्वार भी शुभप्रद माना गया है।

दक्षिण दिग् द्वार निर्माण के पक्ष में कुछ तथ्य-

1. सर्वाधिक प्रामाणिक द्वार निर्माण की विधि ''नवभागं गृहं कृत्वा'' में दिग् का निर्धारण न होने से दक्षिण भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना पूर्व।
2. प्राय: समस्त शास्त्रकारों ने वैश्य वर्ण की राशियों के लिए दक्षिण दिग् द्वार बनाने का स्पष्ट निर्देश दिया है।
3. सर्वतोभद्र आदि गृह में चतुर्दिक द्वार की व्यवस्था उत्तम गृह हेतु प्रामाणिक वचन है।
4. प्रसिद्ध ग्रन्थ मुहूर्तचिन्तामणि में प्रतिपादित द्वार निर्धारण प्रसंग में भी दक्षिण दिग् द्वार ग्राह्य है।[1] -
5. आचार्य श्रीपति ने सूर्य राशि के द्वारा द्वार निर्माण आधार को चतुर्दिक् बनाने का विधान बताया है।[2]
6. आचार्य वराहमिहिर के बृहत्संहिता में भी दक्षिण दिग् द्वार को वैश्य वर्ण के लिए प्रशस्त बताया है जिसमें पूर्वमुख का आंगन का द्वार बताया गया है।[3]
7. वराहमिहिराचार्य ने चारों दिशाओं में 32 द्वारों को बताया है जिसमें, दक्षिण में (चतुष्षष्ठी पद द्वारा निर्धारित) कुछ स्थानों को शुभाशुभ रूप में वर्णित किया है। यह प्रक्रिया चारो

---

1. मु.चि. 12/5
2. मु.चि. 12/15 पीयूषधारा टीका
3. बृहत्संहिता पृ. 52/68

दिशाओं में बताई गई है।[1]

8. गृहप्रवेश प्रकरण के **वामरविविचार** प्रसंग में बताया गया है कि-**वामो रविर्मृत्युसुतार्थलाभतोऽर्के पंचमे प्राग्वदनादिमन्दिरे।**[2] अर्थात् पूर्वादि क्रम से वाम रवि होता है। इस प्रकार आगे **पूर्णातिथौ प्राग्वदने गृहे शुभो** पद द्वारा भी चारों दिग् द्वार का उल्लेख किया गया है।

9. सूक्ष्म विचार के प्रसंग में निम्नलिखित स्थिति बताई गई है। जहाँ अशुभ फल की प्राप्ति होती है उसका त्याग करना चाहिए।

चतुषष्ठिपद के अनुसार दक्षिणपद के आठ पदों (खण्डों) में द्वार का फल बृहत्संहिता एवं बृहद्दैवज्ञरंजन के अनुसार निम्नवत् कहा गया है। यथा[3]–

पद नाम	**बृहद्दैवज्ञरंजनोक्त फल**	**बृहत्संहितोक्त फल**
अनिल	मरण	– अल्पपुत्र
पूषा	बन्धन	– भृत्य वृत्ति
वितथ	भय	– नीचता
बृहक्षत	पुत्रप्राप्ति	– पुत्र वृद्धि
यम	धनागम	– अशुभ
गन्धर्व	यशप्राप्ति	– कृतघ्न
भृंगराज	चौरभय	– निर्धनता
मृग	रोगभय	– पुत्रनाश व बलनाश

10. आचार्य श्रीमद्रामदीन दैवज्ञ एक स्थान पर कलश चक्र के द्वारा प्रवेश बताते हुए लिखते हैं कि **दक्षिणमुखगृहप्रवेशो उत्तराफाल्गुनी चित्रे ग्राह्यः।**[4] । इस प्रकार दक्षिण दिग् द्वार की प्राप्ति यहाँ भी होती है।

11. यदि गृह में प्रवेश व निर्गम के लिए तीन द्वार हों तो वैसी परिस्थिति में प्रधानद्वार को

---

1. बृहत्संहिता पृ. 52/71
2. मु.चि. 13/5
3. बृहत्संहिता 52/71, बृहद्दैवज्ञरंजन 46/365
4. बृहद्दैवज्ञरंजन 88/28 टीकायाम्

दक्षिणाभिमुख नहीं बनाना चाहिए, ऐसा राजवल्लभमण्डनम् में प्राप्त होता है वहीं पाठ भेद से दक्षिण के स्थान पर पश्चिम भी वर्णित है। यथा-

एकद्वारं प्राङ्मुखं शोभनं स्याच्चतुर्वक्त्रं धातृभूतेशजैने।
युग्मं प्राच्यां पश्चिमेऽथ त्रिकेषु मूलद्वारं दक्षिणे वर्जनीयम्॥[1]

12. वास्तुमण्डनकार ने प्रवेश द्वार के विषय में जो चर्चा की है वही राजवल्लभमण्डन में किया गया है परन्तु यहाँ उत्तर दिग् का प्रवेश निर्धारण न होनें से अपूर्ण तथा अन्य प्रसंग से सन्दर्भित लगता है जैसा कि-

प्रागेव प्रतिकायको वरुणदिग्वक्त्रो भवेत् सृष्टितो
वामावर्त उदाहृतो यममुखेऽसौ हीनबाहुर्बुधैः।
उत्संगो नरवाहनाभिवदनः सृष्टया यथा निर्मितः
प्राग्वक्त्रोऽपि च पूर्णबाहुरुदितो गेहे चतुर्धा पुरे॥[2]

यहाँ भी दक्षिण दिग् द्वार ग्राह्य है।

इस विचार-मीमांसा के आधार पर हम पाते हैं कि दक्षिण दिग् द्वार का निर्माण किया जाना चाहिए तथा वास्तुशास्त्र के अन्य निर्देशों का परिपालन भी गृहनिर्माण में अवश्य करना चाहिए। जिससे पूर्वाचार्यो के द्वारा प्रतिपादित अनुभवजन्य ज्ञान का अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो सके।

दक्षिण दिग् द्वार की व्यावहारिक कठिनाईयाँ-

(क) दक्षिण दिग् द्वार होने से खाली स्थान की अधिकता एवं सामने द्वार होने से जल निकास में कठिनाई होती है। प्लव दक्षिण दिग् में करना पडता है।

(ख) पाकशाला बनाने में कठिनता अनुभव होती है।

(ग) सीढ़ी (आरोहण) निर्माण में कदाचित् काठिन्य उत्पन्न होता है।

(घ) जल निकास को ध्यान में रखकर याम्यप्लवा भूमि दिखती है, जिसका अशुभ फल होता है।

(ङ) दीपस्थल निर्धारण में विषमता संभव होती है।

इस प्रकार अन्य भी व्यावहारिक कठिनाइयाँ संभव हो सकती हैं परन्तु इन सबका परिहार संभव है तथा मानचित्र निर्माण में हीं सबका समुचित समावेश किया जा सकता है।

---

1. राजवल्लभमण्डनम् 9/39
2. राजवल्ल. 1/32

दक्षिण दिग् द्वार से व्यवहारिक लाभ-

(क) प्रकाश अधिक समय तक गृह के अन्दर रहता है।

(ख) शिशिर ऋतु में शैत्य कम लगता है।

(ग) वायु का दबाव सर्वदा सामान्य रहता है क्योंकि वर्षपर्यन्त पूरवा या पश्चिम दिग् गत वायु चलता रहता है।

(घ) गृह का स्वरूप स्वयं चन्द्रबिद्ध हो जाता है, जिसकी आवश्यकता वास्तुशास्त्र में आवश्यक होती है।

(ङ) गृह के अन्तर्गत लघुवाटिका (Garden) बनाने पर सूर्यप्रकाश पूर्णरूप में प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्रयोग के द्वारा विविध प्रकार से लाभ एवं हानि तथा शुभाशुभ की गणना स्वयं विद्वान् कर लेते हैं। ऐसे शास्त्रों को प्रायोगिक आधार पर और पुष्ट एवं परिमार्जित किया जा सकता है जिससे, गृह का मानचित्र सन्तोषप्रद संभव हो सकता है।

दक्षिणद्वार के कुछ प्रायोगिक उदाहरण–

(1) शहर का मुख्य स्थल गोदौलिया (दशाश्वमेध वाराणसी) का साड़ियों का विक्रय स्थल, जहाँ कुछ गृहपति रहते हैं, उन्हें उत्तम लाभ, यश, मान, प्रतिष्ठा एवं सुख प्राप्त है।

(2) लक्सा नामक रोड (वाराणसी) में गृह भाग में हीं वणिज जाति का बड़ा व्यापार उत्तम एवं सुखदायक है।

(3) रथयात्रा से महमूरगंज (वाराणसी) नामक बाजार थोक विक्रेता के लिए महत्वपूर्ण हो चुका है।

(4) स्वयं मेरे (शोध पत्र लेखक के) कालोनी में ऐसे 30 गृह हैं जिनका दक्षिण दिग् द्वार है तथा वे सभी सम्पन्न, सुखी एवं प्रथम-श्रेणी के व्यक्ति हैं।

इस प्रकार अनेक उदाहरण हैं सर्वत्र, जिन्हें स्वयं परीक्षित किया जा सकता है और प्रायोगिक लाभ-हानि को समाज के सामने उपस्थापित किया जा सकता है।

निष्कर्ष-

* गृहद्वार दो प्रकार के होते हैं- प्रधान द्वार एवं अन्यद्वार।

* प्रधान द्वार का निर्माण शास्त्रोचित ढंग से करना चाहिए, जो सुन्दर एवं आकर्षक हो।

* प्रधान द्वार चाहरदिवारी (Boundry) में नहीं होता अपितु गृहपिण्ड (Covered Area) में रहता है।

* गृह में प्रवेश एवं निर्गमन के लिए यदि 3 से ज्यादा दरवाजा (द्वार) हों तो द्वार नियम भंग हो जाता है अर्थात् वहाँ द्वार दोष नहीं होता। यथा– **बहुद्वारेष्वलिन्देषु न द्वार नियमः स्मृतः।**

* पूर्वोक्त द्वार गृहपिण्ड (Covered Area) के बाह्य दिग्भाग में ग्राह्य हैं, न कि गृह के अन्दर।

* शास्त्रोदित परम्परा के सापेक्ष चतुर्दिग् द्वार या किसी एक दिग् में द्वार बनाया जा सकता है।

* वास्तु शास्त्र के आधार पर दक्षिण दिग् द्वार बनाने में कोई दोष नहीं है।

* व्यापारी (वैश्य) वर्ग दक्षिण दिग् द्वार अवश्य बनाये, जिससे अत्यधिक लाभ हो (वैश्य का निर्धारण राशियों के द्वारा होगा)।

* व्यावहारिक दृष्टि से दक्षिण दिग् द्वार का गृह अधिक प्रकाशक एवं सुविधायुक्त तथा शास्त्रोचित (चन्द्रबिद्ध) संभावनाओं से पूर्ण हो सकता है।

गृह आयु विचार

डॉ. शुभस्मिता मिश्र

मानव परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट कृति है । मानव ही गृहस्थाश्रम में गृहस्थ के रूप में जीवन यापन करते हुये धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करता है। गृहस्थ के द्वारा त्रिवर्ग फल प्राप्ति के लिये किये गये समस्त क्रियाओं का सम्पादन गृह में ही सम्भव है। गृहस्थ के लिये गृह परमावश्यक है इसलिए भविष्य पुराण में कहा गया है **''गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्ध्यन्ति गृहं विना''** । **''वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः''**।[1] गृहकरणयोग्यभूमिः। इति आचार्य यास्क के मतानुसार **'वास्तु'** शब्द निवासार्थक वस् धातु से बनता है । फलतः **''वसन्ति प्राणिनो यत्र''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'वास्तु'** शब्द का अर्थ गृह अथवा गृहनिर्माण योग्य भूमि है । पृथ्वी से निर्मित व पृथ्वी पर आश्रित सभी निर्माण वास्तु है । पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र ही समस्त संसार में चराचर जीवों एवं पदार्थों में चेतन तथा जड़ के आधार हैं। इसलिए ग्रहों एवं पञ्चमहाभूतों की अनुकूलता एवं संतुलन प्राणिमात्र के सुख एवं समृद्ध जीवन के लिए अनिवार्य है ।

आयु ही मानव जीवन का मूल है क्योंकि आयु के विना जीवन नहीं। जैसे अमृत देवतत्त्वों का आधार है उसी तरह आयु प्राणियों का आधार है । आयु रहित प्राणियों को लक्षणों के प्रयोजन नहीं होते अपितु अन्य जन्म से सम्बन्ध होता है इसलिए सर्वप्रथम प्रयत्न पूर्वक आयु निर्णय ही करना अनिवार्य है जैसा कि कहा गया है -

आयुर्मूलं जन्मिनां जीवनं च ह्यजीवानां निर्जराणां सुधेर्वा ।
एवं प्राहुः पूर्वमाचार्यवर्यास्तस्मादायुर्दायमेवं प्रवक्ष्ये।।[2]

आयु निर्धारण के विना जातक का समस्त शुभाशुभ फल का विचार करना निरर्थक है । जन्म और मृत्यु के मध्यस्थ काल को आयु कहा जाता है । आयुकाल में मानव प्रारब्ध कर्म के प्रभाववश शुभाशुभ फलों को भोगता हुआ दीर्घ, मध्य , अल्प आयु को भी प्राप्त करता है ।

आयुः पूर्वं परीक्षेत् पश्चाल्लक्षणमादिशेत् ।
अनायुषां तु मर्त्यानां लक्षणैः किं प्रयोजनम् ।।[3]

---

1. निरुक्त 10.2.0
2. निरुक्त जातक अलंकार आयुर्दायाध्याय श्लोक 01
3. प्रश्नमार्ग, अ. 9, श्लोक 2

अपाश्यमरणं जीवं प्रपश्यन्ति शुभाशुभम् ।
मरिष्यति यदा दैवात्कोभूङ्क्तेतच्छुभाशुभम् ।।[1]

आयु निर्णय के महत्त्व को बताते हुये प्रश्नमार्ग में बताया गया है कि आयु निर्णय करना होराशास्त्र की आत्मा है और शुभाशुभ फल का ज्ञान करना इसका शरीर है[2] । अन्य आचार्यों के मत में आयु निर्णय और जीवन में घटने वाले शुभाशुभ फल का ज्ञान, ये दो ज्योतिषशास्त्र के दो प्रयोजन हैं जैसा कि कहा है –''**आयुश्च लोकयात्रा च शास्त्रेऽस्मिन् द्वे प्रयोजने** ''।[3]

ठीक उसी प्रकार गृह की स्थिरता अर्थात् आयु एवं गृह में सुखपूर्वक जीवन जीने का ज्ञान ये दो वास्तुशास्त्र के दो प्रयोजन हैं । गृह की स्थिरता गृहस्थ के लिए अनिवार्य है । आयु रहित गृह में गृहस्थ को विपत्ति का सामना करना पड़ता है । जिस तरह स्वस्थ शरीर से मानव संसार के सभी सुखों को भोगता है उसी तरह गृहस्थ भव्य, मनोनुकूल एवं स्थिरता युक्तगृह में रहकर गृहस्थ जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करता है । अपनी भौतिक , शारीरिक, मानसिक समुन्नति, भौतिक विषयों का उपभोग करते हुए पञ्चमहा यज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ, अतिथि सत्कार यज्ञ) का सम्पादन करता है, जिससे उसे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति सुलभता से होती है । चरक ने सुखायु, दुःखायु, हितायु, अहितायु तथा आयु के उचित मान को विचार करने वाले शास्त्र को आयुर्वेद कहा है [4]। आयु चार प्रकार की हैं 1.हितायु, 2.अहितायु, 3.सुखायु, 4.दुःखायु ।

1. हितायु – जो व्यक्ति सर्वदा दूसरों के हित कार्यों को करता है, उससे उसे खुशी होती है और उससे उसका भी हित होता है । ऐसे व्यक्ति की आयु हितायु होती है । चरक ने हितायु के लक्षण में कहा है –

हितैषिणः पुनर्भूतानां परस्वादुपरतस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणा-नुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसंपूजकस्य ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियतरागरोषेर्ष्यामदमानवे-गस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमं चामुं चावेक्षमाणस्य स्मृतिमतिमतो हितायुरूच्यते अहितमतो विपर्ययेण ।।[5]

2. अहितायु –हितायु के विपरीत आचरण करने वाले व्यक्तिकी आयु को अहितायु कहते हैं । जिससे दूसरों के लिये तो अहितकर होता ही है स्वयं का भी इससे हित नहीं होता है ।

3. सुखायु– चरक ने सुखायु का लक्षण इस प्रकार बताया है – ''**तत्र शरीरमानसाभ्यां**

---

1. पञ्चस्वरा, श्लो. 7,
2. होराया इह जीवः स्यात्प्रष्टुरायुर्निरूपणम् ।
   देहः फलान्तरज्ञानमिति शास्त्रान्तरोदितम् ।। प्रश्नमार्ग अ.9, श्लो.45,
3. प्रश्नमार्ग, 9/15
4. हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम् ।
   मानं च तज्ज यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ।। च.सं. 2/41
5. चरकसूत्र, 30/24

रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य, विशेषेण यौवनवत् -----''।[1] जो शारीरिक और मानसिक रोगों से पीड़ित न हो, विशेष रूप से यौवनवत् हो, प्रत्येक कार्य करने में समर्थ हो, जो बल, वीर्य, यश और पराक्रम से युक्त हो, विज्ञान, ज्ञान, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ और इन्द्रियबल के समुदाय से युक्त हो, जो अत्यधिक ऐश्वर्यवान् हो, विविध प्रकार के उपभोग वाला हो , जिसके द्वारा प्रारम्भ किये गये कर्म पूर्णरूप से सफल होते हों, उस व्यक्तिकी आयु सुखायु होती है ।

4. दुःखायु - दुःखायु सुखायु का विपरीत लक्षण वाला होता है । इन चारों में से सभी सुखायु एवं अहितायु की ही कामना करते हैं ।

भारतीय परम्परा एवं संस्कृति में गृह निर्माण मुख्य उद्देश्य है[1] गृह में रहते हुये दूसरों का उपकार या हित करें तथा स्वयं का भी हित करें जिससे समाज की उन्नति हो सके । अतः मानव आयु की तरह गृह में भी चार प्रकार की आयु का विचार कर सकते हैं । प्रथमतः ऐसा गृह जिसमें रहने वाला व्यक्तिसर्वदा दूसरों का हित करके खुशी से रहता है, उस गृह को हितायु युक्तगृह की श्रेणी में लेना चाहिए । ऐसा गृह जिसमें रहने वाला गृहस्थ सभी ऐश्वर्यों से युक्त होकर सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है, उस गृह को सुखायु युक्तगृह की श्रेणी में लेना चाहिए । ऐसा गृह जिसमें रहने वाला गृहस्थ अपयश का सामना करता है, दूसरे का अहित करता है, उस गृह को अहितायु गृह की श्रेणी में लेना चाहिए । जिस गृह में रहने वाला गृहस्थ कठिन परिश्रम के बाद भी सुख लाभ आदि प्राप्त नहीं कर पाता है, न दूसरे को सुख दे पाता है, ऐसे गृह को असुखायु की श्रेणी में रखना चाहिए ।

गृहस्थाश्रम में सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए गृह निर्माण से पहले गृह के आयु का विचार करना परमावश्यक है । गृह का किसी कारणवश जल जाना, टूट जाना, नष्ट हो जाना आदि फल वास्तुशास्त्र में विस्तृतरूप से वर्णित है । जैसे फलितशास्त्र में जन्मकालिक लग्न कुण्डली के आधार पर व्यक्तिकी आयु का विचार किया जाता है वैसे ही वास्तुशास्त्र में गृहारम्भकालिक लग्न कुण्डली के आधार पर गृह के आयु का विचार किया जाता है, क्योंकि आयु हीन गृह अशुभफल को देता है, जैसा कि विश्वकर्मप्रकाश में कहा गया है -**आयुर्विहीने गेहे तु दुर्भगत्वं प्रजायते''।**[2]

ग्रहों के स्थितिवश गृह के आयु का विचार -

1.गृहारम्भकालिक लग्न में बृहस्पति, तृतीय भाव में शनि, चतुर्थ भाव में शुक्र, षष्ठ भाव में सूर्य एवं सप्तममें बुध हो तो गृह की आयु 100 वर्ष की होती है[3]।

2.गृहारम्भकालिक लग्न में शुक्र, तृतीय भाव में सूर्य, पञ्चम भाव में गुरु एवं षष्ठ भाव में मंगल हो तो गृह की आयु 200 वर्ष की होती है।[4]

---

1. चरकसूत्र, 30/24
2. विश्वकर्माप्रकाश, 2/85
3. उदये गुरुरस्तगृहे शशिजः सहजे च शनैश्चरविश्वरिपुः ।
   जलगश्च सितो भवनस्य यदा शरदां शतमायुरुशन्ति बुधाः ।। वा.सारः,क्ष्.वि.प्र.श्लो. 35,
4. जीवार्कविच्छुक्रशनैश्चरेषु लग्नारिजामित्रसुखत्रिगेषु ।
   स्थितिः शतं स्याच्छरदां सितार्कारेज्ये तनुत्र्यङ्गसुते शते द्वे ।। मु.चि.वा.प्र.श्लो.22, तथा च-

3.ये दोनों योग वास्तुराजवल्लभ में भी प्राप्त होते हैं[1]।

4.गृहारम्भ के समय लग्न में शुक्र, दशम में बुध, एकादश में सूर्य एवं केन्द्र में गुरु हों तो गृह की आयु 100 वर्ष की होती है[2]।

5.गृहारम्भकालिक कुण्डली के चतुर्थ भाव में गुरु, दशम भाव में चन्द्रमा, एकादश भाव में मंगल और शनि हों तो गृह की आयु 80 वर्ष होती है[3] ।

6.रामदैवज्ञ के मत में गृह निर्माणकालिक लग्न कुण्डली में सप्तमभाव में सूर्य एवं तृतीय में शनि हो तो गृह शतायु होता है ।

7.गृह निर्माणकालिक लग्न से तृतीय भाव में सूर्य, षष्ठ में मंगल हो तो गृह की आयु 200 वर्ष की होती है।

8.गृहारम्भकालिक मीन लग्न में उच्च राशिगत शुक्र हो तो अथवा लग्न से चतुर्थ भाव में उच्च राशिगतगुरुकर्क में हो अपनी उच्च राशिगत तुला का शनि एकादश में हो तो धन-धान्य से युक्तचिरस्थायी गृह होता है, ऐसा गृह सुखायु श्रेणी में आता है, जैसाकि रामदैवज्ञ ने कहा है -

स्वोच्चे शुक्रेलग्नगे वा गुरौ वेश्मगतेऽथवा ।
शनौ स्वोच्चे लाभगे वा लक्ष्म्या युक्तं चिरं गृहम् ।।[4]

यही विषय वास्तुसार में यथावत् उधृत किया गया है, यहाँ केवल उच्चस्थ गुरु के स्थान पर केवल चतुर्थ भावगत गुरु की चर्चा की गई है[5]।

9. अपनी राशि का चन्द्रमा लग्न में, केन्द्र में गुरु, शेष ग्रह मित्र, स्वोच्च तथा अपने नवांश में हों तो भवन लक्ष्मी युक्तचिरस्थायी होता है अथवा यदि ग्रह शत्रु के गृह में वा अपने नीच में हो तो उस गृह में रहने वाला दु:खी तथा निर्धन होता है[6]।

लग्ने भृगु: पुत्रगतश्च जीव: षष्ठ: कुजस्तिग्मकरस्तृतीय: ।
निवेशने यस्य गृहस्य तद्धि शतद्वयं तिष्ठति वत्सराणाम् ।। वा.सार:,का.वि.प्र.श्लो. 37,

1. जीवे लग्नमुपागते शशिसुते यामित्रगेऽर्केरिपौ ।
शुक्रेऽब्धौ सहजे शनौ च शरदां गेहं शतं तिष्ठति ।। बृ.वा.मा.गृहायुष्यविचार, श्लो. 83,
द्विगुणमपि च शुक्रेमूर्तिगे विक्रमेऽर्के ।
सुरगुरुसुतसंस्थे भूमिपुत्रे च षष्ठे ।। बृ.वा.मा.गृहायुष्यविचार, श्लो. 84,

2. यदि लग्नगतो भृगुजोऽम्बरे शशिसुत: खलु केन्द्रगतो गुरु: ।
दिनकृदायगतश्च तदा बुधै: शतमितायुरुदीरितमालयम् ।। वा.सार:,का.वि.प्र.श्लो.36,

3. लग्नाम्बरायेषु भृगुज्ञभानुभि: केन्द्रे गुरौ वर्षशतायुरालय: ।
बन्धौ गुरुर्व्योम्नि शशी कुजार्कजौ लाभे तदाऽशीतिसमायुरालय: ।। मु.चि.वा.प्र.श्लो.23
प्रारम्भकाले यदि मन्दभौमौ लाभाश्रितौ देवगुरुश्चतुर्थे ।
चन्द्रोदये चेच्छरदामशीति: स्थितिर्निर्युक्ता भवनस्य सद्भि: ।। बृ.वा.मा.श्लो.86

4. मु.चि.वा.प्र.श्लो.24,

5. स्वोज्जवर्तिनि भृगौ च विलग्नगे देवमन्त्रिणि रसातलेऽथवा।
स्वोज्जगे रविसुतेऽथवायगे स्यात् स्थितिश्च सुचिरं सह श्रिया।। वा.सा.का.श्लो. 39,

6. स्वर्क्षे चन्द्रे लग्नगे केन्द्रगेज्यो लक्ष्मीवत्स्यात्तद्गृहं भूरिकालम् ।
मित्रस्वोज्जांशस्थितै: खेचरेन्द्रैर्नीचांशस्थैर्जायते निर्धनत्वम्।। वा.सा.का.श्लो. 40,

10. गृह निर्माणकालिक लग्न से चतुर्थ भाव में गुरु-चन्द्रमा, दशम भाव में मंगल तथा एकादश भाव में सूर्य स्थित हो तो गृह की आयु 80 वर्ष की होती है[1]।

11. पुष्य, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, आश्लेषा, मृगशीर्ष, श्रवण, रोहिणी एवं पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रों में से किसी नक्षत्र में गुरु हो तो गृह लक्ष्मी से युक्तचिरस्थायी होता है[2]।

गृहपिण्ड के आधार पर गृहायु विचार - गृह पिण्ड को 8 से गुणाकर 120 का भाग देने से शेष गृह की आयु होती है[3]। गृहायु का विचार करने के लिये गृहपिण्ड का आनयन करना आवश्यक है । गृहपिण्ड के आनयन के लिये गृह के आय का विचार आवश्यक है । ध्वज, धूम्र, सिंह, कुत्ता, बैल, गधा, हाथी एवंउष्ट्र ये आठ आय हैं । यथा-

ध्वजो धूम्रोऽथ सिंहश्वा सौरभेयः खरो गजः।

उष्ट्रश्चेति क्रमेणैतदायाष्टकमुदाहृतम् ।।[4]

प्रकारान्तर से ध्वज, धूम्र, सिंह, कुत्ता, बैल, गधा, हाथी एवं कौवा ये आठ आय संज्ञक हैं[5]। इन आयों में से विषम संज्ञक आय ध्वज, सिंह, गौ, हाथी शुभ फलदायक हैं अतः गृह पिण्ड के आनयन में ये चारों आय ग्राह्य हैं ।

1. घर की लम्बाई और चौड़ाई को गुणा कर आठ से भाग देने पर शेष संख्या तुल्य ध्वजादि आय होते हैं[6]।

2. मेष, सिंह, धनु राशि वालों के लिये गो आय, वृष, कन्या, मकर राशि वालों के लिये सिंह आय, मिथुन, तुला, कुम्भ राशि वालों के लिये गज आय एवं कर्क, वृश्चिक, मीन राशि वालों के लिये ध्वज आय शुभफलदायक है[7]।

---

1 शशाङ्कजीवौ खरसातलस्थौ कुजार्कजौ लाभगतौ तु यस्य।
प्रारम्भकाले भवनस्य तस्य स्थितिर्निरक्ता शरदामशीतिः।। वा.सा.का.श्लो. 38,

2 ईज्योत्तरात्रयाहीन्दुविष्णुधातृजलोडुषु । गुरुणा सहितेष्वेषु कृतं गेहं श्रिया युतम् ।। वा.सा.क्ल.श्लो. 42,
तथा च -पुष्यध्रुवेन्दुहरिसर्पजलैः सजीवैस्तद्वासरेण च कृतं सुतराज्यदं स्यात् ।
द्वीशाश्वितक्षवसुपाशिशिवैः सशुक्रैर्वारे सितस्य च गृहं धनधान्यदं स्यात्।। मु.चि.वा.प्र.श्लो.26,

3 गृहस्य पिण्डं करिभिर्विगुण्यं विभाजितं शून्यदिवाकरेण ।
यच्छेषमायुः कथितं मुनीन्द्रैरायुष्यपूर्णे भवने शुभं स्यात् ।। बृ.वा.मा.श्लो.29,

4. वा.रत्ना.अध्या.5,श्लो.22,

5 ध्वजो धूम्रो हरिः श्वा गौ खरेभौ वायसोष्टमः । पूर्वादिदिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामवस्थितिः ।।
वृ.दै.र.अ.86, श्लो.78,

6 विस्तारेणाहृतं दैर्घ्यं विभजेदष्टभिस्ततः । यच्छेषं स भवेदायो ध्वजाद्यास्ते स्युरष्टधा ।।
वृ.दै.र.अ.86, श्लो.77,

7 कर्कवृश्चिकमीनानां ध्वजायः शुभदो मतः । वृषभायः शुभः प्रोक्तो मेषसिंहधनुर्भृताम् ।। बृ.वा.मा.श्लो.9,
तुलामिथुनकुम्भानां गजायो वाञ्छितप्रदः । वृषकन्यामगाणाञ्च सिंहायः शुभदो भवेत् ।। बृ.वा.मा.श्लो.10,

3. ब्राह्मणों के लिये ध्वज आय, क्षत्रियों के लिये ध्वज, कुक्कुर, गो और मृग, वैश्यों के लिये ध्वज, सिंह और गज आय तथा शूद्रों के लिये ध्वज एवं मृग शुभफलदायक होता है । वृष आय सभी के लिये शुभ होता है । हीन जातियों के लिये सम आय शुभ होते हैं[1]।

इष्ट नक्षत्र की संख्या से एक घटाकर शेष को 152 से गुणा करें तथा अभीष्ठ आय से एक घटाकर शेष को 81 से गुणा करें । दोनों गुणनफलों के योग में 17 जोड़कर 216 से भाग देने पर शेष गृह का पिण्ड होता है[2] । प्राय: सभी वास्तु ग्रन्थों में गृह के पिण्ड का आनयन किया गया है । इस प्रकार से गृहपिण्ड का आनयन कर गृहपिण्ड संख्या को आठ से गुणा कर 120 का भाग देने पर जो शेष संख्या आये वह गृह का आयुमान होता है ।

प्रकारान्तर से गृह की आयु विचार -

1.गृहारम्भ कालिक तिथि संख्या को 3 से, वार संख्या को 5से, योग संख्या को 4 से एवं नक्षत्र संख्या को 6 से गुणा करें । सभी गुणनफलों के योग में 80 का भाग दें , शेष संख्या तुल्य गृह की आयु होती है[3]।

2.गृह के क्षेत्रफल को 8 से गुणा कर गुणनफल को 60 का भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त हो उसे 10 से गुणा करने पर गृह की आयु होती है।[4]

ग्रहों के स्थितिवश गृह के आयु नाश का विचार -

1.गृह के एक हाथ के क्षेत्रफल को 8 से गुणा कर गुणनफल को 60 का भाग देने पर जो शेष बचे उसे 5 का भाग देने पर गृह विनाश कारक तत्त्वों का ज्ञान होता है । यदि एक शेष बचे तो पृथ्वी जन्य दोष

---

1 अग्रजानां ध्वजाय: स्याद् ध्वजकुञ्जरगोमृगा: ।
क्षत्रस्य ध्वजसिंहेभा वैश्यस्य शुभदा: स्मृता: ।।बृ.वा.मा.श्लो.7,
ध्वजो मृगादि: शूद्राणां सर्वेषां वृषभ: शुभ।
हीनजाते: समा देया: सूक्ष्मकृत्येऽङ्गुलात्मकम् ।। बृ.वा.मा.श्लो.8,

2 एकोनितेष्टर्क्षहता द्वितिथ्यो रूपोनितेष्टायहतेन्दुनागै: ।
युक्ता धनैश्चापि युता विभक्ता भूपाश्विभि: शेषमितो हि पिण्ड: ।। मु.चि.वा.प्र.श्लो.3
स्वेष्टायनक्षत्रभवोऽथ दैर्घ्यहृत्स्याद्विस्तृतिर्विस्तृतिहृज्ज दीर्घता ।
आया ध्वजो धूम्रहरिश्वगोखरेभध्वांक्षका: पिण्ड इहाष्टशेषिते ।। मु.चि.वा.प्र.श्लो.4

3 तिथयस्त्रिनिघ्नाश्च शरघ्नवारा वेदघ्नयोगाश्च रसघ्नभानि ।
कृत्वैकपिण्डं खगजैर्विभक्तंशेषं समाव्यूहमितं तदायु: ।। वा.र.अध्या.5, श्लो.48,

4 हस्तात्मकं क्षेत्रफलं गजाहतं संवत्सरैर्भाजितलब्धकं यत् ।
तत्खेन्दुगुण्यं भवनस्य जीवनं यच्छेष्टिं भूतहृतं विलीयते ।। बृ.वा.मा.श्लो.30,
पृथिव्यापोऽनलो वायुराकाश इति पञ्चभि: । गृहस्यायुषि सम्पूर्णे विकारो जायते ध्रुवम् ।।
बृ.वा.मा.श्लो.31,

से अर्थात् भूकम्पादि से गृह का विनाश होता है । दो शेष पर जल जनित दोष से अर्थात् अतिवृष्टि, बाढ़ आदि से गृह का विनाश होता है । तीन शेष पर अग्नि जन्य दोष से गृह का नाश होता है । चार शेष से वायुजन्य अर्थात् आँधी आदि से गृह का विनाश होता है एवं पाँच शेष होने पर आकाशजन्य अर्थात् वज्रपात एवं उल्का पिण्डादि के गिरने से गृह का विनाश होता है[1]।

2. मघा, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, रेवती में से किसी नक्षत्र के साथ मंगल हो तो इन नक्षत्रों में निर्मित गृह अग्नि से भस्म हो जाता है[2]।

3. मूल, रेवती, कृत्तिका, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त एवं मघा इन सात नक्षत्रों में से किसी नक्षत्र के साथ मंगल ग्रह हो अथवा मंगलवार हो तो गृह निर्माण में अग्निभय व पुत्र का मरण होता है[3]।

4. अग्नि नक्षत्रों में सूर्य व चन्द्रमा के होने पर निर्मित गृह शीघ्र अग्नि से जल जाता है[4]।

5. शनि से युक्तपूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, ज्येष्ठा, अनुराधा, स्वाती और भरणी नक्षत्रों में तथा शनिवार को निर्मित गृह राक्षस और भूत-प्रेतों से युक्तहोता है[5]।

---

1. हनेद् वृद्धिभिर्क्षेत्रं फलं षष्ठी विभाजितात् ।
लब्ध्वां सदशगुणं जीवी शेषांके भुक्तभागीतात् ।।
पृथ्वी आपस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
पञ्चतत्त्वे तथा मृत्यु अन्तकाले प्रभेदितः ।। वास्तुसारमण्डन, आयतत्त्व, श्लो.73-74
2. पितृमूलेज्यभाग्यार्कपौष्णभेषु च यत्कृतम् ।
कुजेन सहितेष्वेषु गृहं संदह्यतेऽग्निना ।। वा.सा.का.श्लो. 47,
3. मूलं च रेवती चैव कृत्तिकाषाढ़मेव च ।
पूर्वाफाल्गुनिहस्तश्च मघा चैव तु सप्तके ।।
एषु भौमेन युक्तेषु वारे तस्यैव वेश्म यत् ।
अग्निना दह्यते कृत्स्नं पुत्रनाशश्च जायते ।। वा.सा.का.श्लो. 48-49,
4. अग्निनक्षत्रगे सूर्य्ये चन्द्रे वा संस्थिते यदि ।
निर्मितं मन्दिरं नूनमग्निना दह्यतेऽचिरात् ।। वा.सा.का.श्लो. 50,
5. अजैकपादहिर्बुध्न्यशक्रमित्रानिलान्तकैः ।
समन्दैर्मन्दवारे स्याद्रक्षोभूतयुतं गृहम् ।। मु.चि.वा.प्र.श्लो.28

गृह दोष विचार

डॉ. शिवाकान्त मिश्र

इस संसार में कीटपतंगादि से लेकर मानव तक प्रत्येक जीव प्रकृति के नीयमों से बंधा होने के कारण दु:खों से निवृत होने तथा सुख प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है । सभी सुखों-दु:ख गृह से आबद्ध होते हैं क्योंकि मानव अपने घर में रहते हुए दान धर्म आदि पूण्यप्रद क्रियाओं के द्वारा सभी प्रकार के सुखों को प्राप्त करता है , यही कारण है कि कीटपतंगादि से लेकर मानव तक प्रत्येक जीव अपने रहने के लिए गृह का निर्माण करता है। मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है इसके द्वारा निर्मित भवन भी श्रेष्ठ होता है । गृहस्थों के लिए गृह परमावश्यक है । गृह में निवास करने के कारण ही मानव गृहस्थ कहलाता है । गृहस्थ एक स्थान पर रहकर त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ एवं काम की पूर्ति करते हुए एक धार्मिक समाज का निर्माण करता है[१] । भारतीय संस्कृत वाङ्मय के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में वास्तोष्पति की ऋचाएँ प्राप्त होती है। इन ऋचाओं के माध्यम से गृहपति अपने परिवार के मङ्गलके लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है । यथा

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः । यत् त्वेमेहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व ॥ वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥[2]

अर्थात् हे वास्तोष्पते गृहपालक देव! आप हमें जगाएँ । हमारे गृह में पुत्र-पौत्र आदि द्विपदों, गौ, अश्व, आदि चतुष्पदों को नीरोग एवं सुखी करें । जो धन हम आपसे माँगें, वह हमें प्रदान कीजिए । हे वास्तोष्पते! आप हमारे लिए कल्याणकारी धन का विस्तार-प्रसार करें । हे सोम! हम आपकी कृपा से गौओं तथा अश्वों के साथ नीरोग रहें । आप हमारा पुत्रवत् पालन करें । हे वास्तोष्पते! हम आपसे सुखकर, रमणीय और ऐश्वर्ययुक्त स्थान प्राप्त करें । हमें प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ धन-वैभव की आप रक्षा करें । हमें सदा कल्याणकारी साधनों-उपस्कारकों से सुरक्षित रखें ।

---

१ त्रिवर्गसेवी सततं देवतानां च पूजनम् । कुर्यादहरहर्नित्यं नमस्येत् प्रयतः सुरान्।।
विभागशील: सततं क्षमायुक्तो दयालुक: । गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्।।
कू.पु.ख.2,अ.15,श्लो.25-26,२.

2. ऋग्वेद 7, 54, 1-3 एवं तैत्तिरीयसंहिता 3,4,10,1,

गृह स्त्री पुत्र पौत्रादिकों के लिए सुखदायक, धर्म-अर्थ-कामप्रदायक, प्राणियों को सुखदायक तथा प्राकृतिक आपदाओं से रक्षक होता है जैसा कि बृहद्वास्तुमाला में कहा गया है -

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्म्मार्थकामप्रदं
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विवुधाः श्रीविश्वकर्म्मादयः।।[1]

लेकिन मानव विविध प्रकार के सुख को तभी भोगता है जब गृह दोष मुक्त हो यदि गृह दोष युक्त होता है तो मानव का जीवन दुःखों से पूर्ण हो जाता है । अतः यह आवश्यक है कि गृह स्थित दोषों को जानकर उसका निराकरण किया जाए ।

1. भूमिजन्य दोष-

फटी हुई, शल्ययुक्त दीमकों से व्याप्त और उँची-नीची भूमि अशुभदायक होती है । फटी भूमि से मरण, ऊषर से धन नाश, शल्ययुक्त से सदा क्लेश, ऊँची-नीची से शत्रु वृद्धि, श्मशान जैसी भूमि से भय, दीमकों से व्याप्त भूमि से विपत्ति, गड्ढों वाली भूमि से विनाश और कूर्माकार से धननाश होता है । नैऋत्य कोण, पश्चिम दिशा, दक्षिण दिशा, वायव्य कोण और आग्नेय कोण तथा मध्य भाग में दबी हुई भूमि व्याधि, दरिद्रता एवं मृत्युवाहिका कही गई है अर्थात् जो भूमि आग्नेय कोण की ओर दबी हुई हो तो वहाँ बनने वाले गृह में अग्निकाण्ड का भय, दक्षिण की ओर दबी हुई भूमि से मृत्यु का भय, नैऋत्य कोण की ओर दबी हुई भूमि से विविध रोगों का जन्म, पश्चिम की ओर दबी हुई भूमि से धन-धान्य का विनाश, वायव्य कोण में दबी हुई भूमि से कलहकारी एवं रोगकारक तथा मध्य में दबी हुई भूमि सर्वविनाशक होती है । ऐसी भूमि जो घास तथा अन्य व्यर्थ पदार्थों से भरी हो, जिसमें खुदाई के समय हड्डियाँ, केश, कीट, चमड़ा, शंख, भस्म, टूटे हुए मिट्टी के वर्त्तन, कोयला आदि निकलते हों, जहाँ दुष्टजनों और अनार्यजनों का निवास हो, सर्वथा अनर्थकारी होती है । जो भूमि चूहों द्वारा उधेड़ डाली गई हो, बाँबियों वाली हो वह भूमि अर्थ की हानि करने वाली तथा पुत्रों का हनन करने वाली होती है । ठीक इसके विपरीत समतल एवं शुद्ध भूमि तथा उक्त कोणों में उठी हुई भूमि सर्वविध उन्नतिदायक होती है[2]।

2. चैत्रादि मासों में निर्मित गृह का फल-

चैत्र मास में निर्मित भवन शोक देने वाला, ज्येष्ठ मास में निर्मित भवन मृत्युदायक, आषाढ़ मास में निर्मित भवन से पशु-सम्पदा का विनाश , भाद्रपद में निर्मित भवन हमेशा विरान, आश्विन मास में निर्मित भवन कलहकारक, कार्तिक मास में निर्मित भवन सेवकों का विनाशक, माघ मास में निर्मित भवन अग्निकारक होता है अतएव इन मासों में गृह निर्माण सर्वथा हानिकारक होता है[3]। गृह का आरम्भ

1. बृहद्वास्तुमाला 1/4
2. समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लोक 2-4,2
3. समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लोक6-7,

हरिबोधिनी एकादशी के बाद और हरिशयनी एकादशी के पूर्व ही करना चाहिए । गृह का आरम्भ वैशाख में करने से धनलाभ, श्रावण में पशु वृद्धि, मार्गशीर्ष एवं पौष में अन्नलाभ तथा फाल्गुन में श्रीलाभ होता है[1]। नारद के अनुसार मार्गशीर्ष, फाल्गुन, वैशाख, माघ, श्रावण और कार्तिक में गृह के निर्माण से गृहपति को पुत्र तथा स्वास्थ्य लाभ होता है ।

3. भूमि की आकृति जन्य दोष एवं फल -

देवताओं, मनुष्यों, हाथी, घोड़ों आदि के लिए निवास भूमि को शिल्पज्ञों ने वास्तुभूमि की संज्ञा दी है। यह वास्तुभूमि आवास भवनादि स्थल तथा आकृतिभेद से विविध प्रकार के होती हैं । विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में कहा गया है कि भूमि की आकृति चौकोर, वर्तुलाकार, त्रिकोणाकार, मर्दलाकार वास्तुकर्म के लिए प्रशस्त होती है । इसके अतिरिक्त उँची-नीची, शिरोहीन या उँचाई रहित, वक्राकृति आकार वाली भूमि समस्त वास्तुकर्म के लिए वर्जनीय मानी गई है[2]। समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि जो वास्तु पूर्व या पश्चिम दिशा में टेढ़ा-बाँका हो, वह स्त्रीनाशक होता है । उत्तर की ओर टेढ़ा हो, तो उसका कार्य ही समाप्त नहीं होता और गृह निर्माण में सर्वस्व समाप्त हो जाता है । जो वास्तु दक्षिण दिशा में टेढ़ा होता है, उसका परिणाम मरण होता है । निर्मित गृह या भूमि का मुख आगे की ओर निकला हुआ हो, उसे वलित वास्तु, जिस वास्तु में पीछे की ओर का भाग आगे निकला हुआ हो उसे चलित वास्तु, जिस वास्तु में दिशा का पता ही न चले वह वास्तु भ्रान्त वास्तु तथा जो वास्तु कोनो से हीन हो, उस वास्तु को विसूत्र वास्तु कहा जाता है । वलित वास्तु में रहने से गृहस्वामी अस्थिर चित्त वाला तथा भूकम्प की आशंका, चलित वास्तु में निवास करने से झगड़े , भ्रान्त वास्तु में निवास करने से स्त्रियों का विनाश और विसूत्र वास्तु में निवास करने से शत्रु की वृद्धि होती है। गृह निर्माण के क्रम में यह आवश्यक है कि 1.वलित, 2.चलित, 3. भ्रान्त, 4. विसूत्र निर्मितियों का त्याग कर देना चाहिए । उक्त दोषों को दृष्टिगत रखते हुए गृह के निर्माण में गृह को सदा पूर्वाभिमुख ही बनाना चाहिए[3]। यदि भूमि की आकृति सर्प के समान वक्री हो अथवा छिन्न-भिन्न एवं घूमे हुए कोनों वाली हो, वह भूमि वास्तु की दृष्टि से शुभ नहीं होती है क्योंकि विकर्ण भूमि से कान सम्बन्धी रोग, छिन्ना भूमि विनाशकारी, भिन्नाकार वाली भूमि मैत्री व सम्बन्धों में विभेद तथा फूट डालने वाली तथा कुटिलाकृति भूमि बुद्धि को भ्रमित कर देती है[4]। जो वास्तु अपने प्रमाण से आगे की ओर सपाद, त्रिभाग, डेढ़ा या दुगुना लम्बाई में निकला हुआ हो, वह भवन अनिष्ट प्रदायक होता है ।

---

1. बृहद्वास्तुमाला, मासादिफलविचार, श्लोक 48-49
2. चतुरश्रायता भूमिर्वर्तुला च त्रिकोणगा ।
   मर्दलाकारवत्येषा प्रशस्ता वास्तुकर्मणि ।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्र,अध्याय 7,श्लो.3
   निम्नोन्नता च या भूमिश्शिरोहीना च भूरपि ।
   वक्राकृतिश्च भूरन्या वर्ज्या सर्वेषु कर्मसु ।। विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अध्याय 7, श्लो. 4
3. वलितं चलितं भ्रान्तं-------विसूत्रं भूरिशत्रुकृत् ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 10-13
4. मूषकोत्करवल्मीकप्रान्ता--------कुटिला मतिवक्रताम् ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 14-15

4. मार्ग वेधजन्य दोष एवं फल -

वास्तु में जिस अंग पर मार्ग निकाला गया है, उस अंग का वास्तु उससे कटा हुआ माना जाता है। ऐसा करने से गृह का वह छिन्नांग विकल कहा जाएगा । गृह की यह स्थिति भयप्रद एवं सर्वदोषकारी होती है। ऐसा छिन्नांग गृहस्वामी के भी उसी अंग को भंग करने वाला होता है, ऐसे गृह का वेध भी विपरीत फलप्रद होता है । अपने ही दो भवनों के बीच में यदि मार्ग निकलता हो, तो इस प्रकार के द्वार वेध से होने वाले दोष निश्चित ही प्राप्त होते हैं । यदि पृथक्-पृथक् दो गृह हो और उनके लिए पार्श्व या बाजू में एक ही मार्ग जाता हो तो वहाँ मार्गवेध होता है इससे शोक तथा सन्ताप होता है।[1] द्वार से द्वार का वेध अशुभ होता है । यदि किसी भवन में नये द्वार को पुराने द्वार से संयोजित कर दिया जाये तो ऐसा भवन अन्य गृहस्वामी की इच्छा करता है अर्थात् वह किसी अन्य को हस्तान्तरित होता है । जो द्वार नीचे से लेकर सिरे तक विद्ध होता है, वहाँ राजदण्ड होता है । गली, मार्ग या चौराहा से द्वारवेध होता है तो गृहपति प्रवास पर रहता है और सेवकों से द्वेष बढ़ता है, ध्वजा से द्वार का वेध होने पर द्रव्य का विनाश होता है और वृक्ष से वेध होने पर शिशुओं को दूषित करता है । यदि कीचड़, दलदल भूमि द्वार के सामने हो तो शोक, जलप्रवाहिका नाली होने से अत्यधिक व्यय, कूप से वेध होने पर अपस्मार या मिरगी रोग होने की आशंका एवं देवस्थल से वेध होने पर विनाश होता है । द्वार के सामने ही यदि कोई खम्भा हो तो स्त्रियों में दूषण बढ़ता है तथा ब्रह्म के वेध होने पर कुल का क्षय होता है [2]। मत्स्यपुराण में द्वार वेध के विषय में कहा गया है -

तथा वास्तुषु सर्वत्र वेधं द्वारस्य वर्जयेत् ।
द्वारे तु रथ्यया विद्धे भवेत् सर्वकुलक्षयः ।।

तरुणा द्वेषबाहुल्यं शोकः पङ्केन जायते ।
अपस्मारो भवेन्नूनं कूपवेधेन सर्वदा ।।

व्यथा प्रस्रवणेन स्यात् कीलेनाग्निभयं भवेत् ।
विनाशो देवताविद्धे स्तम्भेन स्त्रीकृतो भवेत् ।।[3]

5. गृह में प्रवेशजन्य दोष एवं फल -

गृह में प्रवेश चार प्रकार के कहे गये हैं -1. उत्संग, 2. पूर्णबाहु, 3. हीनबाहु, 4. प्रत्यक्षाय प्रवेश। वास्तु का द्वार जहाँ गृह के सम्मुख या आगे की ओर होता है, उसे उत्संग प्रवेश कहा जाता है जबकि वास्तु में दक्षिण की ओर से प्रवेश को पूर्णबाहु कहा जाता है । गृह में बाँयें बाजू से प्रवेश हो तो वह हीनबाहु कहा जाता है जबकि पीछे की ओर से प्रवेश हो तो वह प्रत्यक्षाय होगा । उत्संग नामक प्रवेश का उपयोग करने से कुटुम्बी के लिए सन्तान की हानि होती है, धन-धान्य का क्षय उठाना पड़ता है और निश्चित मृत्यु जाननी

---

1. वास्तुक्षेत्रस्य यत्राङ्गे----------स स्याच्छोकसन्तापकारकः ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 21-23
2. प्रवासो भृत्यजो द्वेषो------ब्रह्मणां तु कुलक्षयः ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 83-84
3. मत्स्यपुराण, अध्या.255, श्लो.10-12

चाहिए । पूर्णबाहु प्रवेश का उपयोग गृहस्थी के लिए पुत्र-पौत्र, धन-धान्य एवं सुखों को देने वाला होता है, ऐसे प्रवेश से गृहस्वामी स्थायी रुप से निवास करता है । हीनबाहु संज्ञक प्रवेश से गृहस्वामी अल्प बन्धु-बान्धवों वाला होता है । वह अल्प धन वाला, स्त्रियों के बल पर ही जीवित तथा बीमारियों से पीडित रहता है । प्रत्यक्षाय प्रवेश में रहने वाले लोगों के धन का निश्चित ही अपव्यय होता है[1]।

6. द्वार व गवाक्षजन्य दोष एवं फल -

भवन में स्थापित द्वार को आगे की ओर रुकावट होने पर गृहस्थ को पथरी रोग की आशंका होती है । द्वार पर अवरोधक खड़ा कर दिए जाने पर अनर्थ होता है । पहले के बने हुए द्वार को रोककर नया द्वार खोलने का प्रयास करना अनुचित है । भवन में बहुत नीचा या बहुत ऊपर, कराल या भयानक, अन्य द्वार के सामने, पीछे के भाग में, वामावर्त्त अर्थात् बायीं ओर खुलने वाला या मुख्य द्वार से भवन का द्वार बायें हों, आगे की ओर निकला द्वार, ये कभी शुभ नहीं होते हैं । गृह का द्वार बहुत नीचा हो तो गृह का स्वामी स्त्रियों के सामने पराजित, उन्नत द्वार हो तो दुर्जनों की संगति, कराल द्वार के कारण भयोत्पादन, सम्मुख द्वार के कारण पुत्र को पीडा तथा पीछे द्वार होने पर स्त्रियाँ चपला हो जाती है । भवन परिसर के मुख्य द्वार से यदि गृह का द्वार वाम हो तो वित्त का क्षय, द्वार आगे निकला हुआ हो तो गृहस्वामी का नाश करता है अत एव ऐसे दोष युक्त द्वार का निवेश भवन में नहीं करना चाहिए[2]। कभी भी नागदन्त, तुला, स्तम्भ, भित्ति, मूषा, गवाक्ष को द्वार के मध्य में नहीं बनाना चाहिए । गृह में इनकी संख्या विषम नहीं होनी चाहिए। भवन में बिना खोले ही खुल जाने वाले किवाड़ों वाला द्वार हो तो वह उच्चाटन करने वाला होता है । अपने आप ही उद्घाटित होने वाला द्वार धन का हरण करता है, भाइयों में वैर पैदा करता है अथवा कलह का कारण होता है अत: उपयोग के बाद द्वार बन्द हो जाये, ऐसा प्रबन्ध हो, लटकता, झूलता द्वार शुभ नहीं होता है । ऐसा द्वार जो बिना बन्द किये ही स्वत: बन्द हो जाता हो, वह बहुत दु:खप्रद होता है । खोलने तथा बन्द करने के समय यदि द्वार के किवाड़ से शब्द निकलता हो तो वह भयोत्पादक, पाँवों को ठण्डा करने वाला और गर्भपात करने वाला होता है[3]। भवन के दोनों ओर की खिड़कियाँ या कोने रोक दिए जाने पर पथरी रोग तथा कानों से सुनायी देना भी बन्द हो जाता है । बनाए हुए गवाक्ष और खिड़कियाँ पूरी दीवार को ठीक किए बिना चुनाई के द्वारा बन्द कर दिए जाते हैं तो उस भवन में कोई प्रसव नहीं होता है और यदि कभी हो भी जाये तो जन्म लेने वाले का भी विनाश हो जाता है[4]। कृश, विकृत, अति उच्च, कराल, शिथिल, पृथु, वक्र, विशाल, उत्तान, स्थूलाग्र, ह्रस्वकुक्षिक, स्वपादचलित, ह्रस्व, हीनकर्ण, मुखानत, पार्श्वग एवं सूत्रमार्गभ्रष्ट द्वार कभी शुभ नहीं होते हैं। इन दोषों वाले द्वार घोर क्षयकारक होते हैं

---

1. उत्सङ्गः पूर्णबाहुश्च -----निश्चितः स्याद् धनक्षयः ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 25-31
2. निम्नोन्नतं करालं च -------कर्त्तव्यमीदृग्रूपं विचक्षणैः ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 67-69
3. स्वयमुद्घाटिते द्वारे उन्मादो गृहवासिनाम् ।
   स्वयं वा पिहिते विद्यात् कुलनाशं विचक्षणः ।। मत्स्यपुराण, अध्या.255, श्लो. 15
   उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशः ।
   मानाधिके नृपभयं दस्युभयं व्यसनमेव नीचे च ।। बृ.सं.अध्या.53, श्लो. 53,
4. स्थापितद्वारसंरोधे -------भवेन्निष्पन्नापि विनश्यति ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 41-43

और गृहस्वामी के धन-वैभव का विनाश करते हैं । ऐसे द्वार वाले घर में नित्य कलह होता रहता है । भवन में अन्दर के द्वार से बाहर का द्वार न तो उच्च करना चाहिए और न ही छोटा करना चाहिए । ऐसे गृह में वास करने वाले का कभी कल्याण नहीं होता है [1]।

7. द्वार वेधजन्य दोष एवं फल -

यदि किसी भवन में द्वार निर्धारित मान से अधिक प्रमाण का बना हो तो उससे राजभय होता है और मान से कम हो तो व्यसन और चोर-तस्करों का भय रहता है । द्वार यदि दरार या खड्डों से विद्ध हो तो व्याधि एवं धन का क्षय, देवता के ध्वज से विद्ध होने पर बन्धन और भय सहित ऐश्वर्य का क्षय, वापी-बावड़ी से द्वार का वेध हो तो गृहपति को सन्निपात का भय, नहर, जलाशय एवं पाट या शहतीर से वेध हो तो किसी आकृति का दिखाई देना बन्द होता है । कुलालचक्र द्वार के सामने पड़ता हो तो हृदय रोग तथा पानी भरा रहता हो तो दरिद्रता होती है । कुम्हार के कीचड़-मिट्टी गूँदने का स्थान हो तो रोग-व्याधि एवं आपाक अर्थात् मृदभाण्डों को आग में पकाने का स्थान हो तो सुतक्षय होता है । यदि द्वार के सामने ही ऊखल हो तो अश्मरी रोग और पानी के भाँडे हो तो बुरी सलाह देने वाला अर्थात् दुष्टमन्त्री एवं भस्म पड़ी रहती हो तो गृहपति मस्सा का रोगी होता है । यदि द्वार को छाया वेध हो तो कुटुम्बी दरिद्रता का सामना करते है । पालकी रखने या वाहन खड़ा करने का स्थान हो, वल्मीक की बाँबी हो तो गृहपति सदैव विदेश-प्रवास पर रहता है [2]।

8. पूर्वादि दिशाओं में दीवारों के वृद्धिजन्य दोष एवं फल -

चुनायी करते समय गृह की दक्षिणी दीवार बाहर की ओर निकल जाये तो उससे गृहस्वामी को व्याधि का भय और राजदण्ड का डर, पश्चिम की दीवार चुनायी के समय बाहर की ओर निकल जाये तो धन की हानि और चोरों का भय, उत्तर की दीवार चुनायी के समय बाहर की ओर निकल जाये तो गृहस्वामी एवं स्थपति को महान् व्यसन, पूर्व की दीवार चुनायी के समय बाहर की ओर निकल जाये तो गृहपति को राजदण्ड, आग्रेय कोण की दीवार चुनायी के समय बाहर की ओर निकल जाये तो भयंकर अग्नि भय तथा गृहस्वामी को लेकर संशय, नैऋत्य कोण की दीवार चुनायी के समय बाहर की ओर निकल जाये तो गृह में कलह, उपद्रव की आशंका तथा पत्नी को लेकर संशय, वायव्य कोण की दीवार चुनायी के समय बाहर की ओर निकल जाये तो पुत्र, वाहन, नौकर-चाकरों को लेकर उपद्रव, ईशान कोण की दीवार चुनायी के समय बाहर की ओर निकल जाये तो गाय-बैलों एवं गुरुओं का क्षय होता है । निर्माण के समय यदि गृह की चारों दीवारें बाहर की ओर वृद्धि को प्राप्त हो जाये तो ऐसे गृह को मल्लिकाकृति कहा जाता है। इस तरह से निर्मित गृह में व्यय की अपेक्षा आय के श्रोत नहीं होते हैं जिसके कारण गृह का स्वामी पलायन करने पर विवश हो जाता है[3]।

---

1. कृशं विकृतमत्युच्चं करालं------तच्छिवाय न जायते ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 91-94
2. मानादभ्यधिके द्वारे-----विदेशगमनं भवेत् ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 85-90
1. चीयमाना यदा भित्तिर्दक्षिणा--------दोषेण तस्य भर्त्ता पलायते ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 44-53

9. गृहों की संज्ञायें, लक्षण, दोष एवं फल –

निर्धारित अनुपात में चुनाई के बावजूद जो गृह सिकुड़ा सा जान पड़ता है, उसे संक्षिप्त गृह कहते हैं, इस गृह में निवास करने पर राजभय होता है । यदि भवन ऊपर–नीचे या दाँयें–बाँयें सिकुड़ा हुआ और मध्य में विस्तृत हो तो वह भवन मृदंगाकृति संस्थान कहलाता है, इस गृह में निवास से व्याधियों का भय होता है। गृह नीचे से लेकर ऊपर तक विस्तृत और बीच में छोटा हो जाये तो ऐसा गृह मृदुमध्य संज्ञक होता है तथा इसमें निवास से भुखमरी का भय होता है । यदि भवन के कोने विषमाकार एवं उठे हुये हों तो वह धन का विनाश करने वाला होता है[1]। भवन पर सूर्य के उदय एवं अस्त के समय पड़ने वाली किसी पेड़ की छाया अथवा किसी ध्वजा की छाया अशुभ होती है। ये छाया यदि द्वार के आगे बढ़ आती हों तो भुखमरी, व्याधि और कलह कराने वाली होती है[2]।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विकृत रुप से बनाया गया विकारी गृह गृहस्वामी के लिये अनिष्टफल ही देता है। अत एव इन समस्त दोषों को त्यागकर गृह को सदैव शुभावह ही बनाया जाना चाहिए ।

---

1. संक्षिप्यते तु यद् वेश्म ----------प्रागुक्तं फलमादिशेत्।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 54–57
2. सूर्योद्भवा द्रुमच्छाया-------क्षुद्व्याधिकलिकारकाः ।। समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय 48, श्लो. 65

गृहजीर्णोद्धारविधि : एक अनुशीलन

डॉ. अशोक थपलियाल

अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रतिष्ठापित स्थापत्यकला ज्योतिषशास्त्र के संहिता स्कन्ध के अन्तर्गत परिगणित होती है, परन्तु दीर्घकाल के बाद वास्तुविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों की प्रधानता के कारण वास्तुशास्त्र के नाम से भवनादिनिर्माण के सिद्धान्तों के प्रतिपादक शास्त्र के रूप में इसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व भी माना जाने लगा है। वास्तुशास्त्र पंचमहाभूतों एवं पृथिवी के गुरुत्व चुम्बकादि आकर्षणों के समायोजन को विचार कर गृहादिनिर्माण के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है। उसके अनुसार ही गृहनिर्माण होने पर गृह सुखसमृद्ध्यादि को देने वाला होता है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गृहादि निर्माणसिद्धान्तों के कथनावसर पर गृहायुष्य के विषय में भी चर्चा प्राप्त होती है। गृहारम्भ लग्न के अनुसार गृहायुष्य प्रमाण के विषय में जाना जा सकता है। यथा-

लग्नाम्बरायेषु भृगुज्ञभानुभिः केन्द्रे गुरौ वर्षशतायुरालयम्।[1]

गृह की आयु पूर्ण होने पर गृह में विकार उत्पन्न हो जाता है। जिस कारण गृह निवास योग्य नहीं रह जाता है। यथा -

पृथिव्यापोश्नलो वायुराकाश इति पंचभिः।
गृहस्यायुषि सम्पूर्णे विकारो जायते ध्रुवम्।।[2]

इसी प्रकार भूकम्पादि प्राकृतिक आपदाओं के कारण भी गृहदेवालय कूपादि भग्न हो जाते हैं। अतः जीर्ण अथवा भग्न गृहादियों का पुनरुद्धार आवश्यक हो जाता है। अतः ग्रन्थों में जीर्णोद्धार का माहात्म्य इस प्रकार वर्णित किया गया है -

वापीकूपतडागानि प्रासादभवनानि च।
जीर्णान्युद्धरते यस्तु पुण्यमष्टगुणं लभेत्।।[3]

इसी प्रकार-

कुरुक्षेत्रसमं तीर्थं न च परं प्रचक्षते।
न नद्या गंगारुपेण न देवो भास्कराद्वरः।।

---

1. बृहद्वास्तु मालागणना प्रक. श्लो. 100
2. बृहद्वास्तु मालागणना प्रक. श्लो. 27
3. प्रसादमण्डन 8/6

नोद्धारसमं पुण्यं नाधमं ब्रह्महत्यया।
सुतजन्मसुखैस्तुल्यं न सुखं विद्यते यथा।।[1]

इसी प्रकार जीर्णोद्धार के पुण्यफल के विषय में कहा गया है-

बहुपुण्यव्रतं कर्त्तुं जीर्णोद्धारणसम्भवम्।
तस्य पुण्यफलं व्यक्तिः शक्तये वसुधेश्वरः।।[2]

भारतवर्ष में जीर्णोद्धार कर्मो के कारण ही हमारे ऐतिहासिक दुर्ग, प्रासाद, देवमन्दिरादि आज भी संरक्षित हैं। जीर्णोद्धार की सुदृढ एवं सुदीर्घ परम्परा ने ही प्राचीन निर्माणकार्यों को अक्षुण्ण रखकर गौरवशाली थाती के रूप में संरक्षित रखा है। कमलाकर का निम्नलिखित कथन जीर्णोद्धार की आवश्यकता को रेखांकित करता है -

जीर्णभग्नमिदं चैव सर्वदोषावहं नृणाम्।
अस्योद्धारे कृते शान्तिः शास्त्रेऽस्मिन्कथिता त्वया।।
जीर्णोद्धारविधानं च नृपराष्ट्रहितावहम्।
तदधस्तिष्ठतां देव प्रहरामि तवाज्ञया।।[3]

प्राचीन भारतीय इतिहास में अनेक जलाशय-मन्दिरादि केजीर्णोद्धार का वर्णन मिलता है। स्कन्द महापुराण में श्रीराम द्वारा किए गए जीर्णोद्धार का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है -

जीर्णोद्धारेऽनन्तगुणं फलमिच्छन्निलापतिः।।
देवानां सन्निधौतेषां कार्यारम्भमथाकरोत्।
स्थण्डिलं पूर्वतः कृत्वा महागिरिसमं शुभम्।।
तस्योपरि बहिः शाला गृहशालाह्नेकशः।
ब्रह्मशालाश्च बहुशो निर्ममे शोभनाकृतीः।।[4]

सम्राट् अशोक एवं कनिष्क ने कई पुराने स्तूप-स्मारकों का जीर्णोद्धार करवाया। गुप्तकाल में भी पुनरुद्धार की सुदीर्घ परम्परा दृष्टिगोचर होती है। स्कन्दगुप्त के शासनकाल में चक्रपालित की आज्ञा से सुदर्शन झील का उद्धार एक उल्लेखनीय घटना रही है।[5] इसी प्रकार मेवाड के महाराणाओं

---

1. वास्तूद्धारधोरणी 1/13-14
2. वास्तूद्धारधोरणी 1/20
3. निर्णयसिन्धु तृतीय परिच्छेद
4. स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्ड धर्मारण्य 3/33/22-24
5. भारतीय अभिलेख संग्रह : जान फेथफुल फलीट पृ 75-76 उदधृत वास्तूद्धारधोरणी सम्पादक डॉ श्रीकृष्ण 'जुगनू' पृ xiv

के द्वारा राजस्थान के कई स्थानों पर बहुमूल्य मन्दिर, दुर्गादि का जीर्णोद्धार करवाया गया।[1] महाराजा भोज ने धारानगरी के सहित कई मन्दिरादिकों का पुनरुद्धार भी किया।[2] विगतवर्ष में उत्तराखण्ड के केदारनाथ मन्दिर को लघुजल प्रलय के कारण कुछ नुकसान पहुँचा था। सम्प्रति स्वल्पमात्रा में उद्धारकर्म के बाद वहाँ पूजनादि चल रहा है।

गृहजीर्णोद्धार लक्षण -

मयमतम् के अनुसार यदि कोई भवन टूट रहा हो अथवा गिरने वाला हो, या टेडा हो गया हो, अथवा बहुत पुराना, जर्जर हो गया हो। अपनी निर्धारित चूल्यादि, जाति और प्रस्तार छन्द अथवा उसके विकल्प में नहीं हो। उसके मूल स्वरूप की प्रतीति भी न हो रही हो। साथ ही अपने मूल लक्षणों से पृथक् हो गया हो तो उनके मूल लिंग, जाति, भेदादि के अनुरूप ही अनुकर्म करना चाहिए।[3]

जीर्णोद्धार हेतु कालशुद्धिविचार-

जीर्णोद्धार हेतु उत्तरायण में सूर्य की स्थिति होनी चाहिए। मास का शुक्लपक्ष तथा कर्ता के अनुकूलनक्षत्र को ग्रहण करना चाहिए। परन्तु वैनाशिकनक्षत्रों (जन्मनक्षत्र से दशमनक्षत्र की कर्मसंज्ञा, 16वें की संघात, 18वें की समुदाय, 23 वें की विनाश और 25 वें नक्षत्र की मानस संज्ञा है, ये ही वैनाशिक नक्षत्र हैं।[4]) एवं वेधदोष (सप्तशलाका के अनुसार) का त्याग करना चाहिए। गृहारम्भ लग्न पर शुभ ग्रहों व गुरु की शुभ दृष्टि एवं उसके बल का विचार भी करना चाहिए।[5] च्यवन के मतानुसार जीर्णगृह के निर्माण में मासविचार आवश्यक नहीं है।[6] जीर्णगृहारम्भ में रिक्ता एवं अमा वर्जनीय हैं।

योग्यसूत्रधारलक्षण -

अपराजित पृच्छा के अनुसारसूत्रधार वास्तुशास्त्र का ज्ञाता, वास्तु कर्म में निपुण, प्रज्ञावान् तथा षट्कर्म (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान एवं प्रतिग्रह) में निरत रहने वाला होना चाहिए। वह नित्य देवतत्व का विचारक, मधुरभाषी, सुहृदय, वास्तु रोगदोषादि का हरण करने वाला, चित्रादि अलंकरण में दक्ष, ज्योतिषी, वास्त्वादि ग्रन्थों का अर्थज्ञ, वास्तुमर्मज्ञ एवं वास्तुसूत्रों में प्रवीण होना चाहिए।[7] इसी प्रकार शिल्पी को दृष्टि, हस्त (मानदण्ड), मुंजसूत्र (रस्सी), कपाससूत्र (डोरी),

1. द्रष्टव्य वास्तूद्धारधोरणी सम्पादक डॉ श्रीकृष्ण 'जुगनू' पृ xxxv से पृ xxxviii
2. मैसूर इन्सक्रिप्शंस पृ 261 उद्धृत वास्तूद्धारधोरणी पृ xiv
3. मयमतम् 35/2-3
4. बृ.वा.मा.प्रतिष्ठा प्रक. श्लो 24
5. वास्तूद्धारधोरणी 1/16-17
6. वास्तूद्धारधोरणी 1/49
7. अपराजितपृच्छा सूत्र 50/1-5

अवलम्ब (साहुल), काष्ठ (गुनिया), सृष्टि (लेवल) और विलेख्य (परकाल) इन आठ सूत्रों का ज्ञाता होना चाहिए।[1]

जीर्णगृह पातन विधि-

राजबल्लभवास्तुशास्त्र में जीर्णगृहपातनविधि इस प्रकार बतायी गयी है-

जीर्णगृहं भित्तिभग्नं विशीर्ण तत्पातव्यं स्वर्णनागस्य दन्तैः।
गोशृंगैर्वाशिल्पिना निश्चयेन पूजां कृत्वा वास्तुदोषो न तस्य।।[2]

इसी प्रकार प्रासादमण्डन[3] अपराजित पृच्छा[4] आदि में भी कहा गया है।

आयादिविचार -

जीर्णवास्तु में सामान्यतः आयादि का विचार आवश्यक नहीं है। जैसे कि कहा गया है-

आय ऋक्षं गणं चन्द्रं चतुरंगा प्रयोजयेत्।
आयव्ययोरंशशुद्धिर्न जीर्णो चिन्तयेत् गृहे।।[5]

इसी प्रकार ज्ञान प्रकाश दीपार्णव में भी कहा गया है -

आयव्ययौ मासशुद्धिर्न जीर्णे चिन्तयेद् गृहे।[6]

परन्तु मयमतम् में आयादि विचार हेतु कहा गया है -

आयाद्यथोचितं तद्विस्तारोच्चादिभिस्त्वलंकार्यैः।।
आयादिदशविधं प्रोक्तमथवा षट्विधरुच्यते।
आयादिशुद्धितन्मानं सर्वसम्पत् समृद्धिदम्।।[7]

द्रव्य (Material) विचार -

जीर्णोद्धार में प्रयोज्य द्रव्य के सन्दर्भ में कहा गया है-

---

1. वास्तूद्धारधोरणी 1/25
2. राजबल्लभवास्तु शास्त्र 5/38
3. प्रासादमण्डन 8/15
4. अपराजित पृच्छा सू 111/7-9
5. वास्तूद्धारधोरणी 1/47
6. दीपार्णव 1/94
7. मयमतम् 35/4 अपि च वास्तूद्धारधोरणी 2/14-15

इष्टकालोष्टपाषाणमृतिकाजीर्णमायसाम्।
तृणं पर्ण बुधैः प्रोक्तं दारु नव्यं गृहाय वै।।[1]

अर्थात् जीर्णोद्धार में नया द्रव्य प्रयोग करना चाहिए। इस प्रसंग में शारंगधर का वचन है-

नूतने नूतनं काष्ठं जीर्णो जीर्णे प्रशस्यते।
जीर्णे च नूतने श्रेष्ठं नो जीर्णः नूतने शुभम्।।[2]

अर्थात् जीर्णभवन में नया एवं पुराना दोनों ही प्रयोज्य है। प्रासादमण्डन का कथन है कि-

वास्तुद्रव्यादिकं कुर्यात् मृत्काष्ठौ शैलजं हि वा।
शैलजे धातुजं चैव धातुजं रत्नजं तथा।।[3]

अर्थात् पूर्व प्रयुक्त द्रव्य से श्रेष्ठ द्रव्य प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार मयमतम् में कहा गया है-

तत्र द्रव्यैरन्यैरुत्कृष्टैर्वा नवैस्तु घटैः।
आयाद्यथोचितं तद्विस्तारोच्चादिभिस्त्वलंकार्यैः।।[4]

और भी -

यानि सलक्षणकानि प्रत्यंगोपांगदेशेषु।
तानि च तत् तद्द्रव्यैर्हीनादीन्येव येन केनचित्।।[5]

मानविचार-

प्रासादमण्डन में जीर्णोद्धार करते समय मानविचार के सन्दर्भ में कहा गया है -

तद्रूपं तत्प्रमाणं स्यात् पूर्वसूत्रं न चालयेत्।
हीने तु जायते हानिरधिके तु धनक्षयः।।[6]

इसी प्रकार अपराजितपृच्छा में कहा गया है कि -

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पूर्वसूत्रं न चालयेत्।
चलिते चालिते चैव तस्य स्थाने तु विग्रहम्।।

---

1. वास्तूद्धारधोरणी 1/52
2. वास्तूद्धारधोरणी 1/53
3. प्रासादमण्डन 8/8
4. मयमतम् 35/4
5. मयमतम् 35/5
6. प्रासादमण्डन 8/7

हीने हानिं प्रकुरुते ह्यधिके स्वजनक्षयम्।
आयहीने तु प्रासादे स्वामिनस्तु क्षयो भवेत्।।[1]

अग्निपुराण में भी वर्णित है -

संकोचे मरणं प्रोक्तं विस्तारे तु धनक्षयः।
तद्द्रव्यं श्रेष्ठव्यं वा तत्कार्यं तत्प्रमाणकम्।।[2]

मयमतम् में निर्देश मिलता है कि गृह की लम्बाई एवं चौडाई पूर्ववत् रखनी चाहिए अथवा उनका मान बढाया जा सकता है परन्तु कम मान नहीं होना चाहिए।[3] अतः गृह के पूर्व प्रमाण के अनुसार ही जीर्णोद्धार करना चाहिए। परन्तु लक्षणहीन वास्तु होने पर भी वहाँ मन प्रसन्न हो तो दोष भी नष्ट हो जाता है-

वास्तुलक्षणहीनेऽपि यत्र वैरोच्यते मनः।
तत्र दोषो न विद्याच्च धनकामार्थमोक्षदम्।।[4]

गृहविस्तारादि नियम-

मयमतम् का कथन है कि नागर भवनों[5] को नागररूप में ही पुनः बनाना चाहिए। इसी प्रकार द्राविड[6] को द्राविड शैली में तथा वेसर[7] को वेसर में ही निर्माण करना चाहिए। अनर्पित भवन (पार्श्ववीथि वाले भवन) को अनर्पित ही बनाना चाहिए।[8] सामान्यतया जीर्णोद्धारित भवन में साल या भित्ति की वृद्धि को प्रथमतः उत्तर या पूर्व की ओर करें। अन्य दिशाओं में बढानी हो तो समस्त दिशाओं में समानतः बढ़ानी चाहिए।[9] इसी प्रकार वहीं पर पुनः कहा गया है -

भवने जीर्णमथ तत्कर्त्तव्यं ते तदन्यस्मिन्।
दिक्षु चतुर्ष्वपि नेष्टं तस्य बाह्ये वास्तुविदा।।
विपरीते तु विपत्त्यै तस्माद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम्।
सन्त्यज्या नष्टवस्तुगर्भविधानात् पुनः स्थाप्यम्।।[10]

---

1. अपराजितपृच्छा सू 111/16-17
2. अग्निपुराण 103/22
3. मयमतम् 35/45
4. वास्तूद्धारधोरणी 2/11
5. चतुरस्रायतास्रं यन्नागरं परिकीर्तितम् - मयमतम् 19/35
6. अष्टाश्रं च षडश्रं च तत्तदायाममेव च। सौधं द्राविणमित्युक्तम्।। - मयमतम् 19/36
7. वेसरं तु कथ्यते।वृत्तं वृत्तायतं द्वयश्रं वृत्तं चान्यं प्रकथ्यते। मयमतम् 19/36-37
8. मयमतम् 35/8
9. मयमतम् 35/12
10. मयमतम् 35/13-14

यदि पूर्व तलछन्द से सीमा का विस्तार करना पडे तो पूर्व या उत्तर में ही अभिवृद्धि शुभ होती है। परन्तु दक्षिण या पश्चिम में किया गया विस्तार वास्तु विनाशक होता है।[1] सामान्यतया गृह अथवा अलिन्दादि मालिका का जब जीर्णोद्धार अपेक्षित हो तो उनके तलों की संख्या पूर्व के अनुसार ही रखनी चाहिए। उनको कम नहीं करना चाहिए।[2]

गृहादि में वेधादि दोष-

गृहादि के जीर्णोद्धार करते समय कुछ वेधादि दोषों का विचार करते हुए इनका त्याग करना चाहिए। अपराजित पृच्छा के अनुसार-

स्तम्भवेधे भयं घोरं स्वकुलोच्छेदनं भवेत्।
हन्याद् बन्धून् मर्मवेधे त्रिशूले च महाभयम्॥
शल्ये चार्थविनाशस्तु छन्दहीने सुताद्भयम्॥[3]

वास्तूद्धारधोरणी में तलवेध, तालवेध, दृष्टिवेध, तुलावेध, बाधावेध, स्तम्भवेध, मर्मवेध, मार्गवेध, वृक्षवेध, छायावेध, जलस्थानवेध, द्वारवेध, स्वरवेध, कीलवेध, कोणवेध, भ्रमवेध, दीपालयवेध, कूपवेध एवं देवस्थानवेध इन 19 वेधों को त्याज्य कहा गया है।[4] समरांगण सूत्रधार में गृह के अन्य दोष इस प्रकार कहे गए हैं-

द्रव्यं द्रव्याधिकं हन्ति कुलमायामतोऽधिकम्।
उच्छ्रायाभ्यधिकं पूजां सन्ततिं विस्ताराधिकम्॥[5]

इस प्रकार उपर्युक्तदोषों से रहित जीर्णोद्धार कल्याणकारी होता है। दोषों के रहने पर गृह अशुभफलदायी होता है। यथा -

विकृतं च गृहं भर्तुरनिष्टफलदायकम्।
तस्माद्दोषानिमांस्त्यक्त्वा गृहं कुर्याच्छुभावहम्॥
सर्वविधं दोषकरं गृहं स्याद्भर्तुश्च कर्तुश्च यतस्तदेते।
ज्ञेयाः सदा शिल्पिभिरप्रमत्तैस्त्याज्याश्च दोषाः शुभकांक्षकायैः॥[6]

उपर्युक्त प्रकार से गृह का जीर्णोद्धार करने पर निश्चय ही धर्म, अर्थ, काम एवं यश की प्राप्ति होती है।

---

1. मयमतम् 35/30
2. मयमतम् 35/31
3. अपराजितपृच्छा सू 111/18-19
4. वास्तूद्धारधोरणी 2/8-10
5. समरांगणसूत्रधार 48/132
6. समरांगणसूत्रधार 48/139-140

वास्तु पुरुष की अवधारण एवं वैज्ञानिकता

डॉ. राजीव कुमार मिश्र

प्राचीन भारतीय परम्पराओं में जिन-जिन विद्याओं का उल्लेख किया गया है उसमें वास्तुविद्या का भी समुचित उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद[1] एवं अथर्ववेद[2] में भी वास्तु सम्बन्धी बहुत संकेत प्राप्त होते हैं, जिससे तत्कालीन वास्तुविद्या का सुदृढ़ अनुमान किया जा सकता है। अथर्ववेद का स्थापत्य वेद नामक एक उपवेद भी माना गया है।

वास्तु शब्द का अर्थ है निवास करना। "वस् निवासे" धातु से वास्तु शब्द की निष्पत्ति बताई गई है।[3] वैदिक वाङ्मय[4] में वास्तु शब्द का अर्थ निवास अथवा गृह बताया गया है। अर्थात् गृह निर्माण करने योग्य भूमि। सुवास्तु एवं अवास्तु दो प्रकार का शब्द वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है।[5] वास्तुशब्द का अर्थ सूत्र ग्रंथों में भी प्राय: आवास ही बताया गया है।[6] यजुर्वेदीय संहिताओं में वास्तु शब्द का अर्थ यज्ञवास्तु के रूप में प्राप्त होता है।[7] महाकाव्यों[8] में वास्तु शब्द गृहनिर्माण के अर्थ को प्रतिपादित करता है। मत्स्य पुराण[9] में देवताओं के निवास स्थान को वास्तु के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कौटिल्य[10] ने वास्तुशब्द का प्रयोग गृह, क्षेत्र, आराम, सेतुबन्ध तडाग आदि के लिए किया है। वास्तु शब्द का अर्थ कामिक तन्त्र[11] में विमान, प्रासाद एवं भवन, अपराजितपृच्छा[12] में ग्राम, नगर आदि मयमतम[13] में भूमि, मानसार[14] में देव एवं मनुष्यों के भवन तथा भूमि अर्थ

---

1. ऋग्वेद-I, 72.2/ II, 41.5, V. 10.3, V. 44.7, VII. 55, VII 88.5, VIII, 20-21
2. अथर्ववेद-III.12, II, 6.3, VI 84.1, VIII, 9.2, X 3.20, XX, 83.1
3. वाचस्पत्यम् भाग 6, पृ. 4888
4. ऋग्वेद 8.19.36
5. मैत्रायणी संहिता 1.5.113, तैत्तिरीय संहिता 3.1.10.3
6. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 6.28.6, पारस्करगृहसूत्र 3.48
7. अथर्ववेद 12.7.7
8. रामायण 1.23, 33.56, महाभारत 2.18
9. निवासारत् सर्वदेवानां वास्तुरित्यभिधीयते, मत्स्य पुराण, 251.14
10. अर्थशास्त्र, 3.8.2
11. कामिकागम 208-210
12. अपराजितपृच्छा 2.17
13. मयमतम् 2.1
14. मानसार 2.2-3

में प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद[1] में वास्तु का प्रयोग प्रायः यूपनिर्माण, स्तूप निर्माण, आसन एवं पर्यङ्क आदि का निर्माण अर्थ में मिलता है, जिनका प्रयोग यज्ञ में किया जाता था। अथर्ववेद[2] के शालासूक्त में भवननिर्माण प्रक्रिया, शतपथ ब्राह्मण[3] में यज्ञादि प्रसंग में चिति और ईष्टि का निर्माण वर्णन तथा श्रौत एवं शुल्बगृह सूत्रों में वास्तु शब्द का प्रयोग सर्वाधिक रूप में मिलता है। शांखायन, पारस्कर एवं आश्वलायन गृहसूत्रों में भूमिचयन, भूशोधन, भूमिपूजन आदि विषयों का वर्णन मिलता है।[4]

इस प्रकार धार्मिक संस्कारों, यज्ञों, पूजाओं के सन्दर्भ में भूमिचयन, भूसंस्कार, भूमि मान-उन्मान एवं वेदी रचना इत्यादि आवश्यकीय अङ्गों के सन्दर्भ में जो निर्देश तथा विवरण वैदिक साहित्यों में प्राप्त होते हैं वे ही कालान्तर में वास्तु विद्या के सूत्रपात करने में सहायक हुए।

ज्योतिषशास्त्र में यदि काल पुरुष की अवधारणा है तो वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरुष की। वैदिक काल से ही वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरुष की एक अवधारणा वास्तोष्पत्ति देवता के रूप में निरूपित है जिनकी आराधना से गृहपति सुख प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद में वास्तोष्पत्ति देवता से प्रार्थना की गई है कि हमारी रक्षा करें। यथा–हे वास्तोष्पते! तुम हमको समझो हमारे घर को निरोग करने वाले होओ। जो धन हम तुम्हारे पास मांगे, हमें दे दो। हमारे द्विपद एवं चतुष्पदों के लिए कल्याणकारी होओ।[5] अग्रिम दो मन्त्रों में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है, जिसमें प्रार्थना की गई कि–हे वास्तोष्पते तुम हमारे तारक हो, धन के विस्तारक हो। हे सोम! गौवों और अश्वों से युक्त होकर हम जरा रहित होवें। तेरी मित्रता से हम रहें। पिता जैसे पुत्रों का पालन करता है वैसे ही आप हमारा पालन करें।[6] हे वास्तोष्पते। सुखदायक और रमणीय प्रगतिशील तुम्हारी सभा को हम प्राप्त हों। ऐसा स्थान हमें मिले। हम ऐसे सभा स्थान के सदस्य बनें। प्राप्त धन को तथा अप्राप्त धन की प्राप्ति में हमारे श्रेष्ठ धन को सुरक्षित रखो। हमें सदा कल्याण साधनों से सुरक्षित रखो।[7] हे वास्तोष्पते! जिस घर में सब प्रवेश करते हैं वहाँ हम लोगों के लिए रोग हरने वाले मित्र सुन्दर सुख वाले होते हुए प्रसिद्ध होइए।[8]

---

1. तैत्तिरीय संहिता 1.3.6.3, वाजसनेयीसंहिता 35,19.86, 20.1
2. अथर्ववेद 3.12.9.3
3. शतपथ ब्राह्मण 7.1.20, 8.1.5, 6.1.2.22, 23, 29
4. शांखायन 3.4.5, 1.2 पारस्कर 3.4, आश्वलायन 2.9.10
5. वास्तोष्पते प्रतिजानिह्यस्मान्त्स्वावेशोअनमीवो भवानः।
   यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। ऋ. 7.54.1
6. वास्तोष्पते प्रतरणो नऽएधिगयसफानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
   अजरासस्से सख्ये स्थामपितेव पुत्रान्प्रतिनो जुषस्व। (ऋग्वेद 7.54.2)
7. वास्तोष्पते शग्मया संसदाते सक्षीमहिरष्वयागातुमत्या।
   पाहि क्षेमऽउतथोगेवरन्नो यूयं पातस्वस्तिभिः सदा नः।। ऋ. 7.54.3
8. अमीवहा वास्तोष्पते विश्वास्वरूपाण्याविशन्। सखासशेव एधिनः।। ऋ. 7.55.1

पौराणिक काल में वास्तु देवता के दो रूप प्राप्त होते हैं, प्रथम वास्तुपुरुष और द्वितीय वास्तुचक्र, वास्तुचक्र में 45 देवताओं का विन्यास होता है जिनकी वास्तुशान्तिकर्म में पूजा की जाती है। वास्तुपुरुष के उत्पत्ति का पुराणों में आख्यान प्राप्त होता है कि–सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी ने एक वृहदाकार जीवन्त पुरुष की संरचना की। उसके विशाल कलेवर को देखकर देवता भयभीत हो गए। निदान के रूप में ब्रह्मा के आदेश पर उसे पृथ्वी पर बलपूर्वक लिटा दिया गया। वह पुनः उठ न सके, इसलिए जिन-जिन देवताओं ने उसके जिन-जिन अङ्गों को पकड़ रखा था, उन पर अपना स्थाई निवास बना लिया।[1] अन्य आख्यान के अनुसार भगवान शङ्कर ने जिस समय अन्ध कासुर का वध किया उस समय उनके ललाट से पृथ्वी पर कुछ पसीने की बूंदें गिरीं उससे एक विकराल मुख वाला एक प्राणी उत्पन्न हुआ उस प्राणी ने पृथ्वी पर गिरे हुए अन्धकों के रक्त का पान कर लिया। फिर भी जब वह तृप्त नहीं हुआ तो तीनों लोकों को ग्रसने के लिए उद्यत हुआ, जिससे सभी देवता भयभीत हो गए और उसे पकड़कर पृथ्वी पर अधोमुख करके लिटा दिया तथा उसे वास्तुदेवता के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिस देवता ने उसके जिस-जिस अंगों को पकड़ रखा था उसी अंग में उस-उस देवता का स्थायी वास हुआ। इसके पश्चात् वह वास्तुपुरुष के नाम से प्रसिद्ध हो गया। ब्रह्मा जी ने आशीर्वाद दिया कि भवन-निर्माण के समय तुम्हारी पूजा-अर्चना होगी जिससे तुमको पोषण मिलेगा।[2] राजबल्लभमण्डन[3] में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। भविष्य, नारदादि पुराणों में भी वास्तुपुरुष का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। भवन, पुर, तडाग, वापी वन उद्यान एवं यज्ञ मण्डपादि निर्माण में तथा जीणोद्धार में इसी उपर्युक्त वर्णित वास्तुपुरुष के पूजन का वर्णन प्राप्त होता है। इनके पूजन के बिना गृह में सुख-शान्ति सम्भव नहीं है।[4] उक्त आख्यानों के आधार पर आज के बुद्धिवादी युग में पृथ्वी के नीचे किसी शरीरधारी की कल्पना तो नहीं की जा सकती; परन्तु सूक्ष्म देवसत्ता की मान्यता में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। निश्चयेन पृथ्वी के भीतर दबा यह वास्तुपुरुष ऐसी ही एक सूक्ष्म देवसत्ता है। चूँकि पौराणिक यह शैली रही है कि किसी तथ्य को सीधे ढंग से न कहकर उसको अधिक रोचक और ग्राह्य बनाने के लिए आलंकारिक रूप दे दिया जाता है। वास्तुपुरुष के सन्दर्भ में भी यही बात है। ऐसी मान्यता है कि वह सुषुप्तावस्था में पड़ा हुआ है। भवन-निर्माण से पूर्व भारतीय संस्कृति में उसे चैतन्य बनाने का

---

1. अग्निपुरण, 93, वृहत्संहिता, वास्तुपुरुषाध्यास, 2-3
2. मत्स्य पुराण, 252.5-19
3. संग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात् सितो,
   तस्माद्भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावाष्टथिव्योर्महत्।
   तद्देवैः सहसा निगृह्य निहितं भूमावधो वक्त्रकम्,
   देवानां वचनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्यो बुधैः।। –राजबल्लभमण्डन, 2.1
4. प्रसादे भवने तडागखनने कूपे च वाप्यां वने,
   जीणोद्धारपुरेषु यागभवनप्रारम्भनिर्वर्तने।
   वास्तोः पूजनकं सुखाय कथितं पूजां विना हानये। –राजबल्लभमण्डन, 2.2

विधान किया गया है। इस निमित्त भूमि पूजन इत्यादि याग किए जाते हैं। इससे उस देवसत्ता का संरक्षण सुनिश्चित होता है।[1]

वास्तुशास्त्र की मान्यता है कि प्रत्येक वास्तु में वास्तु पुरुष का आवास होता है। वास्तुपुरुष की प्रसन्नता गृहस्वामी एवं उसके परिवार को सुख-शान्ति और समृद्धि से भरपूर रखती है। तथा उसकी अप्रसन्नता दु:ख-क्लेश और विपत्तियों का कारक बनती है।[2]

यह वास्तुपुरुष ईशान कोण में शिर करके अधोमुख होकर स्थित है।[3] इसके सिर में अग्नि, मुख में आप, स्तन में अर्यमा और छाती में आपवत्स स्थित हैं। बाह्य कोष्ठ स्थित पर्जन्यादि देवता नेत्र, कान, छाती और कन्धे में स्थित हैं। यथा– नेत्र में 'पर्जन्य, कान में जयन्त, छाती में इन्द्र और कन्धे में सूर्य स्थित हैं। तथा भुजा में सत्य, भृश, अन्तरिक्ष, अनिल और पूषा पाँच देवता। हाथ में वितथ और बृहत्क्षत। पेट में विवस्वान, ऊरु में यम, जानु में गन्धर्व, जंघा में भृंगराज और कूल्हे में मृग स्थित है। ये सभी देवता दक्षिण अंग के हैं।

इसी तरह वामपार्श्व में सब अंगों के देवता हैं। जैसे वामस्तन पर पृथ्वीधर, नेत्र में दिति, कान में अदिति, छाती में भुजंग, कन्धे में सोम, बाहु में भल्लाट, मुख्य, अहि, रोग और पापयक्ष्मा, हाथ में रुद्र और राजयक्ष्मा, बगल में शोष और असुर, ऊरु में वरुण, जानु में कुसुमदन्त, जंघा में सुग्रीव तथा कूल्हे में दौवारिक स्थित हैं। लिङ्ग में शक्र और जयन्त, हृदय में ब्रह्मा और पाँव में पिता स्थित हैं।[4]

धर्मानुष्ठानों में स्थान और वास्तु से सम्बन्धित इसी देवता को "ऊँ स्थान देवताभ्यो नम:", "ऊँ वास्तुदेवताभ्यो नम:" कहकर अभिवादन किया जाता है। भवन-निर्माण के समय जो इस वास्तुदेवता को नहीं जागृत करते इसकी पूजा-अर्चना नहीं करते वहाँ वास्तुदेव का तिरस्कार होता है। फलत: उस भूमि-भवन में रहने वाले लोग सुखी नहीं रह पाते, कोई न कोई बाधा उपस्थित होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त ऐसे भवनों में अशान्ति का एक अन्य कारण भी होता है। वह यह है कि जिस प्रकार मानवीय काया में अनेक मर्मस्थल होते हैं उन पर यदि भार लाद दिया जाय तो शरीर को कष्ट होने लगता है उसी प्रकार प्रत्येक छोटे बड़े भूखण्ड में लेटे तदनुरूप वास्तुपुरुष के बारह मर्मस्थल हैं[5] वर्तमान भौतिकवादी जगत् में भवन-निर्माण से पूर्व उपरोक्त विचारों से

---

1. वास्तुविद्या, 4.52, अग्निपुराण, अध्याय 93
2. मत्स्यपुराण 252-15-19, बृहत्संहिता, वास्तु विद्याध्याय, 57-58
3. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 51-54
4. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 51-54
5. समस्त नाडी संयोगे महामर्मानुजं हलम्।
   त्रिशूलं स्वास्तिकं वज्रं महास्वास्तिक सम्पुटौ।। अग्निपुराण 93.7
   त्रिकटं मणिबन्धं च सुविशुद्धं पदं तथा।
   इति द्वादशमर्माणि व ास्तोभित्त्यादिषु त्यजेत्।। अग्निपुराण 93.8

वास्तुकार (Architest) इसलिए बचते हैं, क्योंकि अज्ञानता के कारण वास्तुपुरुष की अवधारणा उनके गले नहीं उतरती वे इसको एक रूढ़ि एवं अन्धमान्यता भर मानते हैं। इसमें सर्वाधिक दोष आज के विज्ञान का माना जा सकता है। क्योंकि उसने प्रत्येक उस तथ्य को जिसकी बुद्धिसंगत व्याख्या असंभव थी अन्धविश्वास मान लिया। जहाँ मान्यता के प्रति दुराग्रह हो वहाँ सत्य का अन्वेषण कैसे हो सकता है? परिणाम यह हुआ कि वर्तमान स्थापत्यशास्त्र ने संरचनाएं (अट्टालिकाएं) खड़ी करने के संबंध में दिशा, स्थान और वास्तु चेतना (पुरुष) की महत्ता को एकदम अस्वीकार कर दिया। यही कारण है कि अब सब कुछ सुविधानुसार ही विनिर्मित होते हैं, जबकि वास्तुशास्त्र ऐसा करने से स्पष्टतया निषेध करता है। उसमें शयन कक्ष, स्नानघर, पूजागृह, पाकशाला, दरवाजे, खिड़कियाँ इत्यादि सभी के लिए निर्धारित दिशा, संख्या और स्थान हैं। वास्तुशास्त्रकारों का ऐसा मत है कि वास्तुपुरुष के अनुरूप निर्माण न होने से उसमें निवास करने वाला व्यक्ति नाना प्रकार के व्याधियों एवं मानसिक अशांति का भाजक बन जाता है, अत एव वास्तुपुरुष के अंगों को पीड़ित नहीं किया जाना चाहिए।[1] विष्णु धर्मेत्तिपुरण[2] में भी इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

उपरोक्त वर्णन एक पक्ष हुआ अब दूसरे पक्ष पर विचार करें जो इसके (वास्तुपुरुष) के वैज्ञानिक पक्ष को प्रतिपादित करता है।

वास्तुशास्त्रकारों ने वास्तुपुरुष की सम्पूर्ण आकृति को वास्तुपुरुष मण्डल के रूप में भी प्रतिपादित किया है, जिसमें सभी देवता यथास्थान अवस्थित हैं।[3] वास्तुपुरुष मण्डल चूंकि जीवन में सौर ऊर्जा एवं भूचुम्कीय ऊर्जा के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। वास्तुपुरुष मण्डल में स्थित देवताओं के नाम उनके साकारात्मक, नकारात्मक ऊर्जा के संगम पर आधारित हैं। प्राकृतिक ऊर्जा के दो श्रोत हैं सूर्य व चन्द्र। वास्तुपुरुष मण्डल में उत्तर में स्थित देवता साकारात्मक ऊर्जा एवं दक्षिण में स्थित देवता नकारात्मक ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सौर ऊर्जा को प्राणिक ऊर्जा कहा जाता है, उत्तर-दक्षिण में प्रवाहित होने वाली ऊर्जा जैविक ऊर्जा कहलाती है। पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा के फलस्वरूप सौर ऊर्जा की दिशाएं बदलती रहती हैं, और वे एक दिशा में सतत प्रवाहमान उत्तर-दक्षिण की जैविक ऊर्जा को प्रभावित करती रहती हैं। एक ओर जहाँ सूर्य की गति के कारण, जो वस्तुतः पृथ्वी की गति है, प्राणिक ऊर्जा सतत् गतिशील एवं परिवर्तनशील रहती है वहीं जैविक ऊर्जा अर्थात् उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होने वाली विद्युत चम्बकीय ऊर्जा सदैव एक ही दिशा में प्रवाहित होती है।

1. क. गृहे मनुष्याणां शुभाशुभकरः स्मृतः।
   तस्याङ्गानि गृहङ्गैश्च विद्वान् नैवोपपीडयेत्।। –मयमतम, 7.55
   ख. व्याधयस्तु यथा संख्यं भर्तुरङ्गे तु संश्रिताः।
   तस्मात् परिहारेद् विद्वान् पुरुषाङ्गतु सर्वदा।। – मयमतम, 9.56
   ग. बृहत्संहिता, वास्तुपुरुषाध्याय, 57-58
2. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, द्वितीय खण्ड, अ. 29, तृतीय खण्ड, 94-95
3. अग्निपुराण, 93. 1-4, मत्स्यपुरण 253, 24-33, मानसार 7, 1-25, शिल्परत्न, पूर्वभाग, 6, 1-7, समराङ्गणसूत्रधार, 13.1, अपराजितपृच्छा 57, 1-3

जब भी प्राणिक एवं जैविक ऊर्जा का सकारात्मक संयोग होता है तब स्वार्गिक आनन्दानुभूति होती है। भारतीय दर्शन परम्परा में इस संयोग को जीवन कहा गया है। पवन, सोम एवं ईश को उत्तरी क्षेत्र का अधिष्ठाता इसलिए कहा गया है क्योंकि दिन में सूर्य की गति पूर्व, पूर्व से दक्षिण-पूर्व, दक्षिण एवं दक्षिण से दक्षिण पश्चिम एवं अंत में पश्चिम तक होती है। पश्चिम में पहुँचते ही हम सूर्यास्त मान लेते हैं।

हमारे लिए पूर्व-पश्चिम सौर साम्राज्य है तो पश्चिम-उत्तर पूर्ण चन्द्र साम्राज्य। अपनी नित्य की जिंदगी में हम सूर्य की निरन्तर परिवर्तित होती स्थिति के प्रभाव को अनुभव करते हैं। प्रातः पूर्व में सूर्योदय सबके लिए नूतन जीवन का सन्देश लेकर आता है, दो घण्टे तक यह पूर्ण वृद्धिदायक ऊर्जा प्रदान करता है। क्रमशः सूर्य की किरणें प्रखर होती जाती हैं। मध्याह्न में वह सर्वाधिक ऊर्जा निःसृत करता है। यह अग्नि की अवस्था मानी गयी है। अतः परिवर्तन के कारण मध्याह्न का सूर्य शरद में सुहावना एवं ग्रीष्म में कष्टदायी लगता है। मध्याह्न का सूर्य दक्षिण दिशा में होता है, अतः इसे यम की दिशा भी माना गया है। ज्यों-ज्यों सूर्य ढलता है, वातावरण में एक विषाद की सृष्टि होती है। इस समय सूर्य दक्षिण-पश्चिम दिशा में होता है यह आलस्य भरा समय होता है।

पश्चिम में सूर्यास्त सभी गतिविधियों को क्षणिक विराम दे देता है। अर्थात् दक्षिण-पूर्व क्षेत्र में सौर ऊर्जा अपनी पूरी तीव्रता से होती है। ये वे क्षेत्र हैं जहाँ सौर ऊर्जा प्राकृतिक भूचुंबकीय प्रवाह के सर्वथा विरुद्ध दिशा में होती है। इन क्षेत्रों में उनका नकारात्मक संबंध है। जब भी सौर ऊर्जा एवं जैविक ऊर्जा में नकारात्मक सम्बन्ध होता है तो जीव प्राण रहित माना जाता है, एवं जीवन में तरह-तरह के कष्टों एवं व्यथाओं का अनुभव होता है। इसलिए इन क्षेत्रों के अधिष्ठाता देवता अग्नि एवं यम को माना जाता है। प्रवाह को काट सकता है। ये सभी क्षेत्र वास्तुपुरुष के मर्मस्थल हैं, इनमें कोई भी अवरोध रोगकारक होता है। मर्मस्थल में अवरोध संघर्ष को जन्म देता है तथा ऊर्जा प्रवाहों में अवरोध दुर्भाग्य की ओर ले जाता है।[1]

अब यहाँ एक छोटा सा प्रश्न उठ सकता है कि जब सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए ब्रह्मा जी ने एक ही बृहदाकार वास्तुपुरुष की सृष्टि की तो फिर अलग-अलग स्थानों के पृथक्-पृथक् वास्तुदेव कैसे हो गए। यह सर्वविदित है कि, एक बड़े चुम्बक में अगणित छोटी और स्वतन्त्र चुम्बकीय इकाइयों की अवधारणा है। यह पृथक्-पृथक् उसी प्रकार से कार्य करते हैं जैसे एक बड़ा चुम्बक। शरीर में भी कितनी कोशिकाएं होती हैं, सभी के अपने-अपने कार्य हैं। यह समस्त इकाइयां मिलकर एक काया का निर्माण करती हैं। जीवविज्ञानियों के अनुसार शरीर की प्रत्येक कोशिका में एक पूर्ण मनुष्य छिपा है। आज इसी सिद्धान्त पर क्लोनिंग प्रक्रिया चलती है। ठीक इसी प्रकार वास्तुपुरुष की भी संरचना छोटी-छोटी इकाइयों से हुई है। यह वास्तु इकाइयां प्रत्येक छोटे-बड़े भूखण्ड के अनुरूप छोटी-बड़ी वास्तु सत्ताओं का निर्माण और उस भू-भाग का स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व करती हैं।

---

1. समराङ्गणसूत्रधार, 13. 1-23, मयमतम, 7.55-56, बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, 57-58

आत्मा परमात्मा का अंशधर है। उसी का प्रकाश उसमें समाया हुआ है, जब वह प्रकाश सम्पूर्णरूप में अभिव्यक्ति पाता है, तो फिर परमात्मचेतना और मानवीय चेतना में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसलिए सूक्ष्म जगत् में आकार का कोई महत्त्व नहीं वह केवल और केवल भौतिक जगत् में ही उत्तर-पूर्व को एकीकृत ऊर्जा का उद्‌गम माना जाता है। इसके ठीक विपरीत दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र समस्त ऊर्जा का अवसान क्षेत्र कहा जाता है। चूँकि पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश) ही वास्तु का आधार है। ये पंचमहाभूत पृथक्-पृथक रूप से अपनी-अपनी ऊर्जा का मूल वास्तु को प्रदान करते हैं। इन समस्त ऊर्जाओं के सम्मिलित मूल्यों से ही वास्तुपुरुष की स्थिति के मूल्य प्राप्त होते हैं। यह सर्वविदित है कि सौर ऊर्जा का समस्त चराचर जगत् पर गहरा प्रभाव पड़ता है, भवन भी उससे अछूता नहीं रह सकता।

सूर्य की स्थिति के कारण भवन का एक भाग जहाँ सूर्य की किरणों से आलोकित होगा वहीं उसका दूसरा भाग छायामय होगा। यह भी सर्वविदित है कि चार मुख्य एवं छः विदिशाएं हैं, इनमें से पूर्व एवं उत्तर दिशा क्रमशः प्राणिक एवं जैविक ऊर्जा का स्रोत है जबकि पश्चिम एवं दक्षिण ऊर्जा का अवसान क्षेत्र है। चूँकि उत्तर-पूर्व जैविक एवं प्राणिक ऊर्जा दोनों का ग्रहण करता है। इसलिए इसको इतना महत्त्व दिया गया है। अत एव इस दिशा में कम से कम या बिल्कुल भार न रखने का और खाली स्थान छोड़ने का परामर्श दिया जाता है। इसके विपरीत दक्षिण-पश्चिम अवसान क्षेत्र हैं, इसलिए इस दिशा में यथासंभव भारी सामान एवं कम से कम खाली स्थान छोड़ने का विधान है।

इसी प्रकार दक्षिण-पूर्व यदि अवसान+स्रोत क्षेत्र है तो उत्तर-पश्चिम स्रोत अवसान क्षेत्र है। ये विदिशाएं मर्मस्थान कहलाती हैं अतः इन दिशाओं में खिड़की इत्यादि बनाने का स्थान है। उन्हें सर्वाधिक महत्त्व का क्षेत्र माना गया है, क्योंकि इनमें कोई भी प्रवाह दोनों ऊर्जाओं को प्रभावित करता है। विदिशा में कोई दोष ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के नाप तौल में सहायक है। भारतीय संस्कृति में तो कण-कण में ईश्वरीय चेतना की विद्यमानता स्वीकारी गई है।[1]

यदि वह सत्ता सर्वव्यापी है एवं कण-कण में व्याप्त है तो नाम चाहे 'वास्तुदेवता', स्थानदेवता, ग्रामदेवता वा तीर्थदेवता कुछ भी दे दें वे सभी उस परमसत्ता के ही द्योतक हैं। इन्हें गुणबोधक नामान्तर कहना ही उचित होगा। जब वह भवन और उनके निवासियों का संरक्षण कार्य संभालता है तो वास्तु देवता, किसी स्थान से सम्बद्ध होता है तो स्थान देवता, ग्राम की सुरक्षा का भार संभालता है तो ग्राम देवता एवं व्यैक्तिक समृद्धि का निमित्त बनने पर इष्ट देवता कहलाता है।

अतः इतना स्पष्ट हो जाने के पश्चात् विज्ञजनों को वास्तुपुरुष की वैज्ञानिकता एवं सत्ता स्वीकार करने में कोई उहा-पोह नहीं करनी चाहिए क्योंकि वास्तुपुरुष की मूल मान्यता में भी उस परमसत्ता की ही आभा और ऊर्जा नामान्तर भेद से क्रियाशील है। हमें उसकी सत्ता और महत्ता को स्वीकार करते हुए वास्तुपुरुषानुरूप भवननिर्माण करना चाहिए। तभी भवननिर्माण सम्बन्धी त्रुटियों के प्रभाव से छुटकारा मिल सकता है तथा प्राकृतिक ऊर्जाओं का समुचित लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

1. ईशावास्यामिदम् सर्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्। ईशावास्योपनिषद्, 1 यजुर्वेद, 40, 1

मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र की अवधारणा

डॉ. रामेश्वर दयाल शर्मा

भगवान श्री विष्णु के मत्स्यावतार की कथा प्रसंग में मत्स्य पुराण का विशेष महत्त्व है। इस महापुराण में वास्तु एवं वास्तु-पुरुष की उत्पत्ति, वास्तु-चक्र, राजप्रासाद निर्माणविधि, वास्तुशास्त्र विषयक वेध वर्णन, गृह-निर्माण विधि, एवं गृहनिर्माणार्थ ग्राह्य काष्ठ इत्यादि का विस्तृत विवेचन मुख्य रूप से विद्यमान है।

वास्तु शब्द का अर्थ वास करना, बसने की जगह, घर, गाँव, नींव, निर्माण आदि है। इस शास्त्र का उल्लेख ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, श्रौत सूत्रों मनुस्मृति के साथ-साथ समरांगणसूत्रधार, वास्तुराजवल्लभ, बृहत्संहिता, गृहरत्नभूषण, शिल्परत्न इत्यादि ग्रन्थों में विस्तृत रूप में मिलता है। पुराणवाङ्मय में भी ऐसी चर्चा प्राप्त होती है। ज्योतिष शास्त्र के सूर्य, पितामह इत्यादि अट्ठारह प्रवर्तक माने गये है। वास्तुशास्त्र के भी भृगु-अत्रि-वशिष्ठ-विश्वकर्मा-मय-नारद-नग्नजित्-शंकर-इन्द्र-ब्रह्मा-कुमार-नन्दीश्वर-शौनक-गर्ग-वासुदेव-अनिरुद्ध-शुक्र एवं बृहस्पति आदि अट्ठारह प्रवर्तक मत्स्यपुराण में वर्णित है।[1] इन प्रर्वतक आचार्यों में विश्वकर्मा एवं मयदानव ने सर्वाधिक प्रसिद्धि पायी हैं।

1. वास्तुपुरुष की उत्पत्ति-

भगवान शिव और अन्धक नामक राक्षस के घोर युद्ध के समय ही भगवान् शिव के मस्तक से पसीने की बूँद पृथ्वी पर गिरि जिससे एक भयानक एवं विकराल आकृति वाले प्राणी की उत्पत्ति हुई भगवान शिव के कहने पर उसने अन्धकासुर का पथ किया और उसके बाद भी यह क्रुध होकर अपनी भूख शान्त करने के उद्देश्य से भगवान शिव के पास गया। भगवान शिव ने इसका क्रोध देखकर सभी देवताओं को कहा कि इसे पकड़ो और औंधे मुख करके भूमि से स्तम्भित कर दो। सभी देवों ने ऐसा ही किया। ब्रह्मा आदि देवताओं ने कहा कि वास्तु के पूजन

---

1. भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरंदरः।।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्र बृहस्पती।।
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः। मत्स्यपुराण श्लो. 2-4, पृ. 959

प्रसंग में दी हुई माखान बलि तुम्हारा भोजन होगा। गृह में किये जाने वाले वास्तु-शान्ति, यज्ञोत्सव आदि में प्रदान माखान बलि के द्वारा तुम तृप्त होगें।

2. वास्तु चक्र -

इस प्रकरण में गृहारम्भ से पूर्व शुभ मुहूर्तो का ज्ञान परमावश्यक है। सर्वप्रथम सभी कार्यों को त्यागकर स्तम्भारोपण करें। प्रासाद कूप, बावडियों में भी यही विधि मानी गयी है। चन्द्र और सूर्य के बल के साथ शुभ लग्न, मास, तिथि, वार नक्षत्र योग तथा करण के शुभाशुभत्व का निर्धारण इस पुराण में वर्णित है। भूमि का परीक्षण करने के बाद भवन का निर्माण करें। सर्वप्रथम बारह मासों में गृहारम्भ के शुभाशुभ फल का निरुपण करते है। चैत्र मास में व्याधि, वैशाख में गाय एवं विभिन्न रत्नों की प्राप्ति, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में नौकर, रत्न और पशु-वर्ग की प्राप्ति, भाद्रपद में इनका क्षय, आश्विन में पत्नि मरण, कार्तिक में धन एवं धान्य की प्राप्ति, मार्गशीर्ष में रुचिकर भोजन, पौष में चोर-भय, माघ में विविध लाभ एवं अग्निभय, फाल्गुन में सुवर्ण एवं पुत्रलाभ समझना चाहिए।

नक्षत्र विभाजन क्रम से अश्विनी, रोहिणी, मूल, तीन उत्तरा, मृगशिरा, हस्त, और अनुराधा गृहारम्भ में श्रेष्ठ हैं। रविवार और मंगलवार को त्यागकर शेष सभी वार शुभफल दायक है। गृहारम्भ में व्याघात, शूल, व्यतीपात, अतिगण्ड, विष्कुंभ, गण्ड, परिघ और वज्र आदि योगो का त्याग करें। इसी प्रकार श्वेत, मैत्र, माहेन्द्र, गान्धर्व, अभिजित, रौहिण, वैराज और सावित्र आदि मुहर्तो में गृहारम्भ करें।

गृहारम्भ से पूर्व भूमि परीक्षण करना चाहिए। ब्राह्मणादि वर्णो के लिये क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्ण के साथ मधुर, कटु, तिक्त और कषाय स्वाद वाली भूमि सर्वश्रेष्ठ होती है। इसके बाद पुनः भूमि परीक्षण के लिए एक हाथ गहरा गड्ढा खोदकर उसे चारों और लीप-पोत एवं स्वच्छ कर चार बत्तियों से युक्त एक दीपक को घी से परिपूर्ण कर उस गड्ढे में रखकर जलायें। क्रमशः बत्तियों से की लौ पूर्वादि चारों दिशाओं में होनी चाहिए। यदि पूर्व दिशा में बत्ती अधिक समय तक जले तो ब्राह्मण वर्ण के लिए, उत्तर, पश्चिम, दक्षिण से क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए सुखकर मानी गयी है। यदि वह दीपक चारों दिशाओं में समान रूप से जलता रहे तो प्रासाद एवं गृह-निर्माण हेतु वह भूमि सभी वर्णों के लिए शुभफल प्रदायिनी होगी।[1]

1. तिक्ता कषाया च तथा वैश्यशूद्रेषु शस्यते।
अरत्निमात्रे वै गर्ते स्वनुलिप्ते च सर्वशः।।
घृतमामशरावस्थं कृत्वा वर्त्तिचतुष्टयम्।
ज्वालयेद् भूपरीक्षार्थं तत्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्।।
दीप्तौ पूर्वादि गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः।ः
वास्तुः सामूहिको नाम दीप्यते सर्वतस्तु यः।।
शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च।
रत्निमात्रमधोगर्त्ते परीक्ष्यं खातपूरणे।। मत्स्यपुराण श्लो. 13-16 पृ. 962

पुनः इसी प्रकार से भूमि में एक हाथ का गहरा गड्ढा खोदकर उसे उसी मिट्टी से भरते समय यह देखना चाहिए कि यदि मिट्टी शेष रह जाय तो लक्ष्मी की प्राप्ति, कम हो जाय तो हानि और सम रहने पर समभाव समझना चाहिए। इसी क्रम में भूमि को हल से जुतवाकर उसमे सभी प्रकार के बीजों को बो दें। यदि वो बीज 3 रातों में अंकुरित हो जाय तो वह भूमि उत्तम, 5 रातों में उगने वाली भूमि मध्यम और 7 रातों वाली भूमि कनिष्ठ होती है। अतः कनिष्ठ भूमि का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार भूमि परीक्षण के उपरान्त पंचगव्य और औषधियों के जल द्वारा भूमि को सींचकर सोने की शलाका से रेखा खींचकर 81 कोष्ठ का निर्माण करें। कोष्ठ निर्माण के लिए सर्वप्रथम पिष्टक से लेपन कर सूत के द्वारा 10-10 रेखाऐं पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण की और खींचे। इस प्रकार सभी वास्तु विभागों में 9x9=81 कोष्ठ का वास्तु समझें। मुख्य रूप से कार्यानुरूप वास्तु-चक्र को 100 पद का, 81 पद का, 64 पद का कहा गया है।[1]

प्रासाद के निर्माण में ब्रह्माजी द्वारा 64 पदों से युक्त वास्तु को उत्तम कहा है। उसके 4 पदों में ब्रह्मा तथा उसके कोणों में आपवत्स सविता आदि आठ देवता विद्यमान है। वास्तु के बाहर वाले कोणों में भी अग्नि आदि आठ देवता स्थित है। अन्य पदों में जयन्त आदि 20 देवगण रहते हैं। इस प्रकार वास्तु चक्र के 64 पदों में देवगणों की स्थिति बतायी गयी है।[2]

गृहारम्भ के पूर्व गृहस्वामी के जिस अंग में खुजली हो तो प्रासाद तथा घर में वास्तु के उसी अंग में गड़ी हुई शल्य अथवा कील का निष्कासन करना चाहिए क्योकि शल्ययुक्त भवन

---

1. अधिके श्रियमाप्नोति न्यूने हानिं समे समम्।
फालकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत्।।
त्रिपंचसप्तरात्रे च यत्रारोहन्ति तान्यपि।
ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठा भूर्वर्जनीयतरा सदा।।
पंचगव्यौषधिजलैः परीक्षित्वा च सेचयेत्।
एकाशीतिपदं कृत्वा रेखाभिः कनकेन च।।
पश्चात् पिष्टेन चालिप्य सूत्रेणालोड्य सर्वतः।
दश पूर्वायता लेखा दश चैवोत्तरायताः।।
सर्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव।
एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुवित् सर्ववास्तुषु।। मत्स्यपुराण श्लो. 17-21 पृ. 96
2. चतुःषष्टिपदो वास्तुः प्रासादे ब्रह्मणा स्मृतः।
ब्रह्मा चतुष्पदस्तत्र कोणेष्वर्धपदस्तथा।।
बहिष्कोणेषु वास्तौ तु सार्धाश्चोभयसंस्थिताः।
विंशतिद्विपदाश्चैव चतुःषष्टिपदे स्मृताः।। मत्स्यपुराण श्लो. 47-48 पृ. 964

भयदायक और शल्यरहित शुभफलप्रद होता है।[1]

3. राजप्रासाद निर्माण विधि-

इसमें सर्वप्रथम चतुः शाल त्रिशाल, द्विशाल आदि भवनों के लक्षण, स्वरूप, भेद एवं उनके विशिष्ट नामों का वर्णन है। इस पुराण में उत्तमादि पाँच-पाँच प्रकार के राजभवन, युवराजभवन, सेनानायकभवन, मन्त्रिभवन, सामन्तप्रासाद, छोटे राजा, और अमात्य, शिल्पकार, कंचुकी, वेश्या, दैवज्ञ, गुरु, वैद्य, सभापति, पुरोहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इत्यादि के भवनों के लक्षण एवं भेद वर्णित है। चतुः शाल चारों और से भवन, द्वार तथा बरामदों से युक्त हो वह **'सर्वतोभद्र'** नाम से जाना जाता है। यह देवप्रासाद एवं राजप्रासाद दोनों के लिए सर्वोत्तम एवं मंगलकारक होता है। यदि वह चतुः शाल पश्चिम द्वार से विहीन हो तो **'नन्द्यावर्त'**, दक्षिण द्वार से हीन हो तो **'वर्धमान'**पूर्व द्वार से हीन हो तो **'स्वस्तिक'**, उत्तर द्वार से रहित हो तो **'रुचक'** नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार से उत्तर दिशा की शाला से विहीन जो त्रिशाल भवन को **'धान्यक'** कहा जाता है। वह प्राणियों के लिए कल्याण, वृद्धि, पुत्र लाभकारकहोता है। पूर्व की शाला से रहित त्रिशाल भवन को 'सुक्षेत्र' कहते है। वह भवन धन, यश और आयु प्रदाता तथा शोक-मोह का विनाश होता है। जो दक्षिण की शाला से रहित हो उसे 'विशाल' कहा जाता है वह प्राणियों के वंश का नाश, व्याधि और भय प्रदान करने वाला होता है। जो त्रिशाल पश्चिम शाला से विहीन हो उसे 'पक्षघ्न' कहते है, वह मित्र, बन्धु और पुत्रों का नाश एवं भयकारक होता है।

दक्षिण एवं पश्चिम शालाओं से युक्तद्विशाल भवन को **'धनधान्यप्रद'** कहा जाता है। वह मानवों के लिये कल्याण वर्धक तथा पुत्रप्रद होता है। पश्चिम और उत्तर शाला वाले द्विशाल भवन को **'यमसूर्य'** कहा जाता है वह मनुष्यों के लिए नृप भय एवं अग्नि भयकारक और वंश विनाशक होता है। जिस द्विशाल भवन में पूर्व और उत्तर की दो शालाऐं हो उसे **'दण्ड'** कहा जाता है। वह अकाल मृत्यु तथा शत्रुभयकारक होता है। पूर्व-दक्षिण की शालाओं से युक्त द्विशाल भवन को **'धन'** कहते है। वह शस्त्रभ्य तथा पराजय भयदायक होता है। पूर्व-पश्चिम की शालाओं युक्त द्विशाल भवन **'चुल्ली'** कहलाता है। वह मृत्यु सूचक, महिलाओं के लिए विधवा योग एवं भयकारक होता है। उत्तर -दक्षिण की शालाओं युक्त द्विशाल भवन सर्वथा भयदायक है अतः इस प्रकार के द्विशाल भवन ग्राह्य नही है। उत्तमादि भेद से राजप्रासाद 5 प्रकार के होते है। 108 हाथ विस्तार वाला राजप्रासाद सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अन्य चार प्रकार के भवनों में विस्तार क्रमशः 8-8 हाथ कम करना चाहिए। परन्तु पाँचों प्रकार के भवनों में लम्बाई विस्तार के चतुर्थांश से अधिक होती है।युवराज के पाँच प्रकार के उत्तमादि भवनों में सर्वप्रथम उत्तम प्रसाद की चौड़ाई 80 हाथ की होती

---

1. गृहारम्भेषु कण्डूतिः स्वाम्यङ्गे यत्र जायते।
   शल्यं त्वपनयेत् तत्र प्रासादे भवने तथा।।
   सशल्यं भयदं यस्मादशल्यं शुभदायकम्।
   हीनाधिकाङ्तां वास्तोः सर्वथा तु विवर्जयेत्।। मत्स्यपुराण श्लो. 49-50 पृ. 964

है। और अन्य चार प्रासादों की चौड़ाई 6-6 हाथ कम होती जाती है। उत्तमादि पांच प्रासादों की लम्बाई चौड़ाई से एक तिहाई अधिक बताई गई है। इस प्रकार सेनापति के उत्तमादि पांच प्रासादों में उत्तम प्रासाद की चौड़ाई 64 हाथ ही होती है। अन्य चार भवनों की चौड़ाई क्रमशः 6-6 हाथ कम करनी चाहिए। उपर्युक्त पाँच प्रासादों की लम्बाई चौड़ाई के षष्ठांश से अधिक होनी चाहिए। पांच प्रकार के मन्त्रियों के उत्तमादि प्रासादों में सर्वप्रथम उत्तम प्रासाद का विस्तार 60 हाथ का होना चाहिए। अन्य चार प्रासादों का क्रमशः 4-4 हाथ कम होते हैं। इन पांच प्रासादों की लम्बाई चौड़ाई के अष्टांश से अधिक मानी गई है। सामन्त, अमात्य आदि के पांच प्रकार के प्रासादों में उत्तम प्रासाद की चौड़ाई 48 हाथ एवं अन्य चार प्रासादों की चौड़ाई क्रमशः चार-चार हाथ कम होती है। इन पांच भवनों की लम्बाई चौड़ाई की तुलना में सवाया अधिक बताई गई है।

ज्योतिषी, गुरु, वैद्य, सभापति और पुरोहित इन सभी के पांच प्रकार के प्रासादों में सर्वप्रथम उत्तम प्रासाद की चौड़ाई चालीस हाथ की मानी गई है। अन्य चार प्रासादों की चौढ़ाई क्रमशः चार-चार हाथ कम होनी चाहिए। इन पांच की लम्बाई चौड़ाई षष्टांश से अधिक होती है। ब्राह्मणादि चार वर्णो में सर्वप्रथम ब्राह्मण के उत्तम भवन की चौड़ाई 32 हाथ होनी चाहिए। अन्य तीन वर्णों के उत्तमादि भवन की चौड़ाई क्रमशः चार-चार हाथ कम होनी चाहिए। अर्थात् क्षत्रिय के घर की 28 हाथ, वैश्य के भवन की 24 हाथ, शूद्र के घर की 20 हाथ चौड़ाई होनी चाहिए। ब्राह्मण के घर की लम्बाई चौड़ाई से दशांश, क्षत्रिय के घर की अष्टांश, वैश्य के घर की तिहाई और शूद्र के घर की चौथाई भाग अधिक समझना चाहिए। सेनापति और राजा के प्रासादों के मध्य में राजा के रहने योग्य घर का निर्माण करना चाहिए। उस स्थान पर भाण्डागार भी होना चाहिए। सेनाध्यक्ष और चार वर्णों के भवनों के मध्य हमेशा राजा के पूजनीय लोगों के निवासार्थ घर बनाना चाहिए।

4. वास्तु-विषयक वेध वर्णन-

इसमें समस्त वास्तुओं में द्वार वेध के निषेध के साथ स्तम्भ परिमाण, गृह के प्रशस्तद्वार एवं उनकी दिशा का विवेचन है। बुद्धिमान गृहस्वामी अपने घर की ऊँचाई के मान को सात से गुणाकर उसके 80वें भाग के समान खम्भे की मोटाई रखें। खम्भे की मोटाई में 9 से गुणा कर 80 वें भाग के बराबर खम्भे का मूल भाग निर्धारित करें। चार कोण वाला स्तम्भ **'रुचक'** आठ कोण वाला **'वज्र'** 16 कोण वाला **'द्विवज्र'** और 32 कोण वाला **'प्रलीनक'** कहलाता है। खम्भे के वृत्ताकार मध्य भाग को **'वृत्त'** कहा जाता है। सभी प्रकार के वास्तु कार्य में ये पांच प्रकार के स्तम्भ शुभकारक माने जाते है।

सभी वास योग्य गृहों में प्रवेश द्वार दाहिनी और ही रखें। घर के जो प्रशस्तद्वार है उसमें सर्वप्रथम पूर्व दिशा में इन्द्र और जयन्त द्वार सभी भवनों में सर्वोत्तम माने गये है। दक्षिण द्वारों में याम्य और वितथ शुभ फलदायक है। पश्चिम द्वारों में पुष्पदन्त और वरूण को श्रेष्ठ मानते हैं। उत्तर

द्वारों में भल्लाट तथा सौम्य शुभ होते हैं। सभी प्रकार की वास्तु में द्वार वेध को सदैव बचाना चाहिए। इसी प्रकार गली, मार्ग या सड़क द्वारा गृह-वेध से वंश नाश हो जाता है। वृक्ष से वेधित घर में द्वेष की अधिकता होती है। वृक्ष सेवेधित घर को शोकाकुल समझना चाहिए।[1]

5. गृह-निर्माण विधि-

गृह-निर्माण में घर के चारों और तथा द्वार के सम्मुख और पृष्ठ भाग में कुछ भूमि को छोड़ना चाहिए। भवन का पृष्ठ भाग दक्षिणावर्त होना शुभकारक एवं वामावर्त विध्वंशकारक माना जाता है। गृह का दक्षिणी भाग ऊँचा होना **'सम्पूर्ण'** वास्तु के नाम से सुशोभित होता है। इस प्रकार का घर सभी मनोकामनाओं को प्रदान करता है। इस प्रकार के भू-भाग का ज्ञान कर गृहारम्भ करना चाहिए।

सर्वप्रथम वेद के ज्ञाता पुरोहित श्वेत-वस्त्र धारण करके दैवज्ञ के साथ विश्वकर्मा (कारीगर) के कथनानुसार शुभ मुहूर्त्त में सभी बीजों से युक्त आधार शिला को रत्न पर स्थापित करें। पुनः चार ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रोच्चारण तथा बाजा और मांगलिक गीतों के शब्दों के साथ उस स्तम्भ की पूजा करवाकर उसे स्वच्छ कर, अक्षत, वस्त्र, अंलकार और सर्वोषधि से पूजा कर स्थापित करें। **'वास्तोस्पते प्रतिजानीहि'**[2] इस मन्त्र के द्वारा मधु और घी से हवन करके ब्राह्मणों कोखीर युक्त भोजन करावें। सूत्रपात, स्तम्भारोपण, द्वारवंशोच्छ्रय द्धचौखट-स्थापनऋ गृहप्रवेश और वास्तु शान्ति आदि पाँच प्रकार के वास्तुयज्ञ माने जाते है। सूत्रपात ईशानकोण में एवं स्तम्भारोपण अग्निकोण में होता है।

6. गृहनिर्माण में ग्राह्य काष्ठ -

बुद्धिमान मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी के द्वारा बताये गये शुभ दिन एवं मुहूर्त्त में धनिष्ठा आदि पाँच नक्षत्रों और उसके बाद भद्रा को त्यागकर सर्वप्रथम काष्ठ ग्रहण करने योग्य वृक्ष की बलि पूजा करें। गृह-निर्माण में पूर्व एवं उत्तर दिशा की और गिरने वाले वृक्ष का ही काष्ठ ग्रहण

1. वासगेहानि सर्वेषां प्रविशेद् दक्षिणेन तु।
द्वाराणि तु प्रवक्ष्यामि प्रशस्तानीह यानि तु।।
पूर्वेणेन्द्रं जयन्तं च द्वारं सर्वत्र शस्यते।
याम्यं च वितथं चैव दक्षिणेन विदुर्बुधाः।।
पश्चिमे पुष्पदन्तं च वारुणं च प्रशस्यते।
उत्तरेण तु भल्लाटं सौम्यं तु शुभदं भवेत्।।
तथा वास्तुषु सर्वत्र वेधं द्वारस्य वर्जयेत्।
द्वारे तु रथ्यया विद्धे भवेत् सर्वकुलक्षयः।।
तरुणा द्वेषबाहुल्यं शोकः पङ्केन जायते।
अपस्मारो भवेन्नूनं कूपवेधेन सर्वदा।। मत्स्यपुराण श्लो. 7-11 पृ. 969
2. ऋग्वेद 7/54/1, उद्धृत मत्स्यपुराण श्लो. 971

करें क्योंकि यह शुभफल प्रदान करने वाला है। दक्षिण दिशा की और गिरने वाला वृक्ष गृहनिर्माण में अमंगलकारी होता है। घर में दूध वाले वृक्ष का काष्ठ त्याज्य है। श्री प्राप्ति की इच्छा वाले व्यक्ति को पक्षियों से अधिष्ठित, वायु और अग्नि से पीड़ित, हाथी से मर्दित, बिजली गिरने से जला, कुछ अंश टूटा एवं अर्ध भाग सूखा, देव-प्रासाद से निकले वृक्ष, नदी तट पर स्थित वृक्ष, श्मशान भूमि, सरोवर आदि जलाशयों के तट पर उत्पन्न वृक्षों का त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार काँटेदार, कदम्ब, नीम, बहेडा, ढेरा और आम्रवृक्ष भी भवन-निर्माण में निषेध है। अशोक, असना, महुआ, सर्ज और साखू वृक्ष की काष्ठ शुभफलप्रद है। चन्दन, कटहल, देवरारु, सागवान आदि के वृक्षों के काष्ठ लक्ष्मीकारक है। अनेक काष्ठो से युक्त घर भयकारक होता है।[1]

7. वास्तु-शान्ति की विधि

वास्तु के शरीर को जानने वाला व्यक्ति वास्तु की भलीभाँति परीक्षा कर लेने के बाद बलि कर्म तथा समिधाओं द्वारा वास्तु की शान्ति करे। पुरातन भवन के उद्धार, वाटिका के आरोपण, नवीन गृह में प्रवेश, नये प्रासाद अथवा भवन के निर्माण, प्रसादपरिवर्तन, प्रासाद तथा गृहों में द्वार की रचना इन सभी अवसरों पर विद्वान् पुरुष को पहले ही वास्तु की शान्ति-पूजा करानी चाहिये। इसके लिये वास्तु के मध्य भाग में पृष्ठप्रदेश पर इक्यासी पदों वाला चक्र बनाना चाहिये। पुनः एक हाथ गहरे तथा चौड़े कुण्ड में, जो तीन मेखलाओं से युक्त हो, जो, काले तिल तथा दुग्धवाले वृक्षों की समिधाओं द्वारा हवन करें। हवन में शहद और घृत से संयुक्त कुश और दूर्वा का अथवा पांच बिल्व-फल या उसके बीजों का उपयोग करना चाहिये। हवन के अन्त में विविध भक्ष्य सामग्रियों द्वारा वास्तु प्रदेश में क्रम से बलि तथा विशेष नैवेद्य भी देना चाहिये।[2]

---

1. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि दार्वाहरणमुत्तमम्।
धनिष्ठापंचकं मुक्त्वा त्विष्ट्यादिकमतः परम्।।
ततः सांवत्सरादिष्टे दिने यायाद् वनं बुधः।
प्रथमं बलिपूजां च कुर्याद् वृक्षस्य सर्वदा।।
पूर्वोत्तरेण पतितं गृहदारु प्रशस्यते।
अन्यथा न शुभं विन्द्याद् याम्योपरि निपातनम्।।
क्षीरवृक्षोद्भवं दारु न गृहे विनिवेशयेत्।
कृताधिवासं विहगैरनिलानलपीडितम्।।
चन्दनं पनसं धन्यं सुरदारु हरिद्रवः।
द्वाभ्यामेकेन वा कुर्यात् त्रिभिर्वा भवनं शुभम्।।
बहुभिः कारितं यस्मादनेकभयदं भवेत्।
एकैकशिंशपा धन्या श्रीपर्णी तिन्दुकी तथा।। मत्स्यपुराण श्लो. 1-10 पृ. 974
2. वास्तौ परीक्षिते सम्यग् वास्तुदेहविचक्षणः।।
वास्तूपशमनं कुर्यात् समिद्भिर्बलिकर्मणा।
जीर्णोद्धारे तथोद्याने तथा गृहनिवेशने।।

उपसंहार

यजमान को भक्तिपूर्वक अपने घर पर आये हुए ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार वास्तु की शान्ति करने के बाद गृहारम्भ करना चाहिये। प्रासाद, भवन, उद्यान के प्रारम्भ करते समय, उनके उद्यापन के समय तथा पुर या गृह में प्रवेश करते समय सभी दोषों के विनाशार्थ रक्षोघ्न और पावमान सूक्तों के पाठ कराने के बाद नृत्य, माङ्गलिक गीत और वाद्यों के साथ ब्राह्मणों द्वारा वेदपाठ कराना चाहिये। जो बुद्धिमान् पुरुष प्रतिवर्ष गृह अथवा मन्दिर के कार्य में उपर्युक्त विधि का पालन करता है, वह दुःख का भागी नहीं होता। उसे न तो व्याधि का भय होता है, न उसके प्रियजनों तथा सम्पत्ति का विनाश ही होता है, प्रत्युत वह इस लोक में सौ वर्ष (दीर्घायु) तक जीवित रहता है और स्वर्ग में एक कल्पपर्यन्त निवास करता है।

नवप्रासादभवने प्रासादपरिवर्तने।
द्वाराभिवर्तने तद्वत् प्रासादेषु गृहेषु च।। मत्स्यपुराण श्लो. 2-4 पृ. 1013

काशी के प्रमुख मन्दिरों का वास्तुशास्त्रीय विवेचन

ब्रजेश कुमार पाण्डेय

वाराणसी नगर अर्द्धचन्द्राकार स्वरूप में गंगा नदी के वायें किनारे पर स्थित है, जिसकी भौगोलिक स्थिति 25°18° उत्तरी अक्षांश एवं 83°1 पूर्वी देशान्तर है।[1] इसे हिन्दुओं की परम पवित्र तीर्थस्थली होने का गौरव प्राप्त है। काशी विविध धर्मों का एक वृहद् संग्रहालय रहा है, जिसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतीक मन्दिरों का भी अद्वितीय समन्वय यहाँ प्राप्त होता है।

वर्तमान में कन्दवा के शिव मन्दिर को छोड़कर अन्य कोई भी मन्दिर 17 वीं सदी के पहले का नहीं बचा है। इस समय मन्दिरों के जो भग्नावशेष विद्यमान हैं, वे गहड़वाल शासन काल के हैं।[2] काशी में मुस्लिम आक्रमण के पूर्व शैव, वैष्णव बौद्ध व जैन मन्दिरों की संख्या या स्थापत्य का विवरण प्रस्तुत करना असम्भव सा हो गया है, क्योंकि उनमें से अधिकांश पर मस्जिदों का निर्माण हो गया है, या उनका अस्तित्व ही समाप्त हो चुका है।

देवत्रयी में शिव का विशिष्ट स्थान है, जिन्हें मूलतः सृष्टि का संहारकर्त्ता बताया गया है। शिव या शंकर के विभिन्न स्वरूपों में उनका मंगलकारी स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। पुराणों में शिव की महत्ता को बहुत अधिक विस्तृत आयाम प्राप्त हुआ और उनसे सम्बन्धित अनेक कथाओं का विकास हुआ, जिनके आधार पर उनके विभिन्न सौम्य, उग्र, एवं अनुग्रहकारी स्वरूपों की कल्पना की गयी। शैव सम्प्रदाय के भी कालान्तर में कई विभाग हुए, जिनमें पाशुपत, कापालिक, कालमुख, काश्मीरी शैव, वीर शैव एवं लिङ्गायत सम्प्रदाय प्रमुख हैं।

शिव नराकार तथा विग्रह लिंङ्ग दोनों ही रूपों में स्थापित हैं। शिव मन्दिर के गर्भ गृह में प्राचीन काल से ही केवल शिवलिङ्ग की ही प्रतिष्ठा की गई है। शिव लिंङ्ग को सृष्टि का मूल माना गया है। रूपमण्डन में लिंङ्ग के चल और अचल दो भेद बतलाये गये हैं। शिव के नरविग्रह स्वरूपों को मुख्यतः तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है, जिनमें सौम्य, अनुग्रह एवं उग्र स्वरूप की मूर्तियाँ हैं। शिव के कुछ अन्य स्वरूपों को चौथे वर्ग में रखा गया है, जिनमें नटेश या नटराज, अर्द्धनारीश्वर एवं सदाशिव स्वरूप मुख्य हैं।

काशी में असि (अस्सी) से आदिकेशव घाटों पर एवं समीपवर्ती क्षेत्रों में लगभग 215 मन्दिर प्राप्त होते हैं, जिसमें सर्वाधिक लगभग 112 मन्दिर भगवान शिव के हैं। इसके अतिरिक्त 39

---

1. Singh, R.L.-Benares: A Study in Urban Geography, p. 14
2. उमा, पाण्डेय-भारत के सांस्कृतिक केन्द्र, वाराणसी, पृ. 81

मन्दिर भगवान् विष्णु के, 26 मन्दिर शाक्त सम्प्रदाय के, 17 मन्दिर गणेश के, 9 मन्दिर हनुमान एवं 5 मन्दिर सूर्य के हैं। काशी के मन्दिरों में सम्पूर्ण भारत में प्रचलित मन्दिर निर्माण की विविध स्थापत्य शैलियों की स्वतंत्र एवं मिश्रित परम्परा प्राप्त होती है। काशी में गुम्बदाकार पगोड़ा एवं समतल छत वाले मन्दिर भी अवस्थित हैं। गुम्बदाकार शिखर हिन्दू एवं मुस्लिम वास्तुकला के समन्वय का सूचक है। ऐसे मन्दिरों में तुलसीघाट स्थित अर्कविनायक मन्दिर, केदारघाट स्थित केदारेश्वर मन्दिर, जानकीघाट स्थित लक्ष्मीनारायण मन्दिर व शिव मन्दिर आदि प्रमुख हैं।

काशी के प्रमुख शैव मन्दिर–

(i) महाकालेश्वर का मन्दिर

यह मन्दिर विशेश्वरगंज में मृत्युञ्जय महादेव मन्दिर के समीप स्थित है। साक्षात्कार तथा ऐतिहासिक विवरणों के आधार पर इसे 14 वीं सदी का माना जाता है।[1] मन्दिर एक परकोटे के मध्य स्थित है, जिसमें प्रवेश के लिए उत्तर और दक्षिण दिशा की ओर प्रवेश द्वार है। परकोटे के दीवारों से सटे हुए सादे स्तम्भों पर आधारित समतल छत युक्त दालान है। छत के ऊपरी भाग पर छिद्रयुक्त शिलापट्टों से युक्त मुंडेरियां हैं। मन्दिर 35'×18' वर्ग फीट वाले आयताकार जगती पर अवस्थित है। मन्दिर के प्रवेश द्वार से लगा हुआ एक 35'×6' वर्ग फीट का मंडप है। यह भी समतल छत वाला है। मंडप के दोनों किनारों पर शंक्वाकार शिखर है, जिन्हें टिकाने के लिए एक ऊँचा आधार बनाया गया है। शिखर के बाहरी सतह पर छोटे-छोटे खुँटीनुमा प्रस्तर लगाए गये हैं, जो संभवतः दीपक रखने के लिए प्रयुक्त होता है। शिखर के ऊपरी भाग पर कलाकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर का मण्डप 8 स्तम्भों पर आधारित है। इस प्रकार का वास्तु पंचगंगा घाट के किनारे देखने को मिलता है। शिखर निर्माण में बलुए पत्थर और लखीरी ईंटों का प्रयोग हुआ है।

मन्दिर के गर्भगृह में दो प्रवेश द्वार हैं। मुख्य प्रवेश द्वार का मुख पूर्व की ओर है। गर्भगृह का भीतरी नाप 116"×116' वर्ग इंच है। वर्गाकार गर्भगृह के मध्य भाग में देशी पत्थर का छोटा शिवलिंग स्थापित है। गर्भगृह के भीतरी दीवारों में ताखे हैं। मन्दिर का जंघा तथा वरडिका भाग सादा है। मन्दिर की ऊँचाई 25 फीट है। प्रयुक्त दरवाजे आदि सभी वास्तुसम्मत हैं।

(ii) नागेश्वर महादेव–

यह मन्दिर विश्वेश्वरगंज स्थित बृहत्कालेश्वर मन्दिर के पूर्व दिशा में प्रतिष्ठित है। इसका निर्माण महाराज बलवन्त सिंह द्वारा 18वीं सदी के अन्त में हुआ है। यह मन्दिर ऊँचे चौकोर जगती पर निर्मित है। यह मन्दिर के मध्य भाग के चारों कोनों पर स्तम्भ लगाये गये हैं। स्तम्भ मेहराब युक्त हैं। मेहराबों में मुस्लिम वास्तु का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। मण्डप के चारों ओर छज्जों का प्रदर्शन हुआ है, जिनके निचले भाग पर ज्यामितीय कलाकृति उत्कीर्ण है। मन्दिर का गर्भ गृह

1. Shukla, Kubernath-Varanasi Down the Edges, p. 184

सपाट छतयुक्त है। चौकोर गर्भगृह के मध्य भाग में 4 फीट ऊँचा तथा डेढ़ फुट व्यास वाला काले पत्थर का शिवलिंङ्ग है। उसकी ऊपरी सतह पर सर्पाकृति उत्कीर्ण है। मन्दिर की ऊँचाई 15 फीट है। मन्दिर के दीवारों पर शिव के विभिन्न दर्शनीय चित्र उल्कीर्ण है। कहीं-कहीं उनके रौद्र तथा अनुग्रह भाव की प्रतिमाएँ भी उकेरी गई हैं।

(iii) सर्वेश्वर महादेव मन्दिर

पाण्डेय घाट पर स्थित यह मन्दिर फंसाकार शिखरान्तर्गत आता है। साक्षात्कार द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर इसे 15वीं सदी का माना जाता है। मन्दिर के निर्माणकर्त्ता और तिथि के बारे में कोई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त नहीं हो पाये हैं।

इस मन्दिर की मूल विशेषता यह है कि यह धरातल से 10 फीट नीचे स्थित है। इसमें प्रवेश के लिए ऊपर से नीचे की ओर सोपान बने हुए हैं। मन्दिर एक परकोटे के मध्य स्थित है, जिसकी दीवार छोटे-छोटे प्रस्तर खण्डों से बनी है। मन्दिर की जगती आयताकार है। ये डोरिक शैली के स्तम्भों पर आधारित सपाट छतयुक्त है। अर्धमण्डप के मध्य भाग में देशी पत्थर की वृषभ की मूर्ति है। छत के चारों ओर सादे लघु स्तम्भों पर आधारित मुंडेरियाँ हैं।

गर्भगृह चौकोर है। इसमें एक प्रवेश द्वार और दो दिशाओं में जालीदार गवाक्ष लगे हैं। मन्दिर का मुख्य प्रवेश द्वार उत्तराभिमुख है। इसके ललाट पर गणेश की मूर्ति है। गर्भगृह के मध्य काले पत्थर का शिवलिंङ्ग प्रतिष्ठित है। मन्दिर की दीवार सादी है। वरडिका भाग पर चारों ओर छज्जें निकले हुए हैं। मन्दिर का शिखर भाग सादे शिलापट्टों से तैयार किया गया है। शिखर के चारों ओर समानान्तर पट्टियाँ आदि हैं। शिखर के ऊपरी भाग पर चौकोर ग्रीवा, सादा आमलक, वष्टिका पुष्पपुञ्ज, तीन कलश और बीजापूरक है। मन्दिर की ऊँचाई 25 फीट है।

(iv) कामेश्वरी महादेव मन्दिर

मच्छोदरी मुहल्ले में स्थित इस मन्दिर का निर्माण श्री ब्रजवासी गिरी के पूर्वजों द्वारा 16वीं सदी में हुआ था। मन्दिर प्राचीन काल में 676 गज की परिसीमा में स्थित था, किन्तु वर्तमान में यह केवल दो बीसे भूमि के परकोटे में स्थित है। परकोटे की दीवारें ऊँची हैं। प्रवेश द्वार जो दक्षिणाभिमुख है, उसके चारों ओर पुष्पयुक्त बनावट उत्कीर्ण हैं।

तलछन्द योजना में वर्गाकार गर्भगृह के आगे आयताकार अर्धमण्डप है, जो चार सादे स्तम्भों पर आधारित समतल छत युक्त है। दाँतदार मेहराब इन्हीं स्तम्भों पर आधारित है। अर्धमण्डप की माप 66×150 वर्ग इंच है। अर्धमण्डप के मध्य भाग में देशी पत्थर की वृषभ की मूर्ति है। छत के ऊपरी भाग पर चारों ओर जालीदार शिलापट्टों से युक्त मुण्डेरियाँ हैं। **गर्भगृह में तीन प्रवेश द्वार हैं।** मुख्य प्रवेश द्वार पश्चिमाभिमुख है, शेष दो उत्तर और दक्षिण की ओर हैं। गर्भगृह के **ललाट भाग पर** गणेश की मूर्ति प्रतिष्ठित है। मुख्य प्रवेश द्वार के दोनों ताखे के अन्दर विष्णु और

लक्ष्मी की मूर्तियाँ हैं।

गर्भ गृह का आन्तरिक माप 114"×114" वर्ग इंच है। इसके मध्य में दुर्वाशा ऋषीश्वर का काले पत्थर का शिवलिङ्ग है, और एक किनारे 26"×18" वर्ग इंच का एक कुण्ड है। इसके मध्य काले पत्थर का कामेश्वर महादेव का शिवलिङ्ग स्थापित है। गर्भगृह के मध्य स्थित लिङ्ग पर पीतल का धातु पत्र चढ़ा हुआ है। गर्भगृह के आन्तरिक दीवार में 8 ताखे बने हैं, लेकिन केवल एक में ही देवमूर्ति शेष है। वरडिका भाग पर चारों तरफ छज्जा निकला हुआ है। **मन्दिर का शिखर फंसाकार** है। शिखर के बाहरी सतह पर समानान्तर पट्टियाँ हैं। शिखर के चोटी भाग पर ग्रीवा, आमलक, आमलसारिका, तीन कलश और त्रिशूल हैं। मन्दिर तीस फीट ऊँचा है। मन्दिर के परकोटे में अन्य छोटे-छोटे मन्दिर भी प्राप्त होते हैं।

(v) पञ्चमहादेव मन्दिर

यह मन्दिर सोनारपुरा में है। एक ही परकोटे में एक ही जगती पर पाँच महादेव मन्दिर एक ही वास्तु योजनान्तर्गत निर्मित हैं। साक्षात्कार तथा लिपि विवरणों द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार इन मन्दिरों का निर्माण पश्चिम बंगाल के राजा शिवेन्द्र नारायण सिंह के द्वारा 1846 ई. में किया गया था।

सम्पूर्ण मन्दिर 4.5 बीघे क्षेत्र के परकोटे में स्थित है, तलछन्द योजना में वर्गाकार गर्भगृह के सामने अर्धमण्डप का प्रावधान है। अर्धमण्डप की माप 85.5"×69.5" वर्ग इंच है। इसका छत **डोरिक शैली** के चार स्तम्भों पर आधारित है। इन स्तम्भों के चारों ओर मेहराब बने हैं, जिनके त्रिकोण भाग पर पुष्पयुक्त कलाकृति बनाई गई हैं। वरडिका भाग के चारों ओर छज्जा निकला हुआ है। समतल छत के चारों तरफ लघुस्तम्भों पर आधारित जालीदार शिलापट्टों से युक्त मुंडेरियाँ बनी हैं। गर्भगृह की माप 113.5"×113.5" वर्ग इंच है। इसमें तीन तरफ प्रवेश द्वार तथा एक तरफ गवाक्ष बने हैं। मुख्य प्रवेश द्वार पूर्वाभिमुख हैं। प्रवेश द्वार सामान्य हैं। गर्भगृह के आन्तरिक भाग में चतुर्भुजाकार कुण्ड के मध्य एक बड़ा तथा दो छोटे काले पत्थर के शिवलिङ्ग स्थापित हैं, जिनकी ऊँचाई अधिकतम 5 फीट है। उर्ध्व छन्द योजना में मन्दिर सामान्य जगती पर स्थित हैं। मण्डोवर की दीवार सादी है। शिखर के चारों ओर रथिकाएँ बनीं हैं। रथिकाओं के मध्य विकसित पुष्प उत्कीर्ण हैं। शिखर भाग 16 कर्णशृंगों और 8 उरु शृंगों से युक्त है। मुख्य शिखर के शीर्ष भाग पर चौकोर ग्रीवा के चारों ओर लगे सर्पफणों के मध्य मानव मुखाकृतियाँ बनी हैं। मन्दिर की ऊँचाई 70 फटी है, और इसके निर्माण में हल्के लाल रंग के देशी पत्थर प्रयुक्त हुए हैं। प्रवेश द्वार डोरिक शैली के स्तम्भों पर आधारित मेहराबों तथा श्रीपुंज प्रकार के तोरणों से युक्त है।

(vi) विश्वनाथ मन्दिर

वर्तमान में यह मन्दिर ज्ञानवापी कुण्ड से दक्षिण की ओर स्थित है। साक्षात्कार तथा ऐतिहासिक विवरणों से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर का निर्माण इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई

के द्वारा 1777 ई. में हुआ था।[1] बाद में 1839 ई. में पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह ने 22.5 मन का सोना मन्दिर के शिखर पर लगवाया।[2]

मन्दिर परकोटे के मध्य स्थित है, जिसका मुख्य प्रवेश द्वार दक्षिणाभुमुख है। शेष दो प्रवेश द्वार पूर्व और पश्चिम की ओर बने हैं। प्रवेश द्वार **डोरिक शैली** के अर्धस्तम्भों पर आधारित मेहराबों से युक्त है। ललाट भाग पर गणेश की मूर्ति है। प्रवेश द्वार चारों ओर से ज्यामितीय कलाकृतियों से सुसज्जित है। परकोटे की दीवारें ऊँची हैं। परकोटे के दीवारों से सटे हुए चारों कोनों पर मन्दिर बने हैं, जो क्रमशः अविमुक्तेश्वर, लक्ष्मीनारायण, पार्वती तथा अन्नपूर्णा के हैं।

परकोटे में प्रवेश करते ही दाहिनी ओर विमुक्तेश्वर तथा बाँयी ओर लक्ष्मी नारायण का मन्दिर है। इन दोनों मन्दिरों का निर्माण नेपाल नरेश चन्द्रशेखर जंगबहादुर के द्वारा 1832 ई. में हुआ था, जो साक्षात्कार के क्रम में ज्ञात हुआ।

अविमुक्तेश्वर मन्दिर का अर्धमण्डप डोरिकशैली के चार स्तम्भों पर आधारित मेहराबों से युक्त हैं। मेहराबों के त्रिकोण भाग पर पुष्पयुक्त कलाकृतियाँ बनाई गई हैं। मण्डप के मध्य भाग में देशी पत्थर की वृषभ की मूर्ति है। वरडिका भाग के चारों ओर छज्जा है। समतल छत युक्त मण्डप के ऊपरी भाग पर चारों ओर लघुस्तम्भों पर आधारित सामान्य शिलापट्टों से युक्त मुण्डेरियाँ बनी हैं।

गर्भगृह में दो प्रवेश द्वार बने हैं। मुख्य प्रवेश द्वार पश्चिमाभिमुख है। गर्भगृह का आन्तरिक माप 113"×96" वर्ग इंच है। इसके मध्य भाग में काले पत्थर का अविमुक्तेश्वर का शिव लिङ्ग स्थित हैं।

उर्ध्वछन्द योजनान्तर्गत यह मन्दिर सामान्य जगती पर स्थित है। मन्दिर का शिखर भाग गुम्बदाकार है। जो एक चौकोर आधार के मध्य बना है। मन्दिर की ऊँचाई 30 फीट है। मन्दिर का शिखर भाग 28 कर्ण शृंग और 8 उरु शृंगों से युक्त है। शिखर भाग के चारों ओर रथिकायें बनी हैं, जो **डोरिक शैली** के स्तम्भों पर आधारित समतल छतयुक्त है। स्तम्भों के ऊपरी **भाग** पर अर्धतोरण लगे हैं, जिसके किनारे भाग पर कलश का प्रदर्शन हुआ है।

मन्दिर के सम्मुख सभामंडप है, जिसके पश्चिम दण्डपाणीश्वर मन्दिर है। सभामण्डप में एक बड़ा घण्टा तथा अनेक देव मूर्तियाँ हैं। मन्दिर के प्रांगण के एक ओर सौभाग्य गौरी एवं गणेश जी और दूसरी ओर श्रृंगार-गौरी, अविमुक्तेश्वर तथा सत्यनारायण के मनिदर हैं। दण्डपाणीश्वर मन्दिर के पश्चिम शनैश्चरेश्वर महादेव स्थित हैं।

---

1. Pandey, Rajbali – Varanasi the Hearts of Hinduism, p. 51
2. Mishra, S.N. – Banaras, p. 69

मन्दिर के वायव्य कोण में लगभग 150 शिवलिङ्ग हैं। इनमें धर्मराजेश्वर मुख्य हैं। इस मण्डली को शिव की कचहरी कहते हैं।

काशी में **शैव सम्प्रदाय** के कई ऐसे भी मन्दिर प्राप्त होते हैं, जिनमें शिव के लिङ्ग के स्थान पर उनकी प्रतिमा को स्थापित किया गया है। ऐसे मन्दिरों में मुख्यतया सिन्धिया घाट स्थित द्विभुज शिव की मूर्ति वर्णनीय है, जिनके एक हाथ में त्रिशूल के स्थान पर सर्प है, और दूसरा हाथ किसी वस्तु पर रखा गया प्रतीत होता है। मूर्ति के समीप ही नन्दी स्थित हैं। शिव की चतुर्भुज ललितासीन मूर्ति जो 11वीं-12वीं शती की ज्ञात होती है, प्रह्लादघाट में दष्टव्य होती है। शिव के तीन अवशिष्ट हाथों में वरदमुद्रा, त्रिशूल एवं जलपात्र है।

इसी प्रकार उमा माहेश्वर की संयुक्त मूर्तियों वाले मन्दिर के उदाहरण तुलसीघाट, केदारघाट, शीतलाघाट आदि स्थानों पर प्राप्त होते हैं। इनमें शिव के साथ पार्वती को आलिङ्गनबद्ध मुद्रा में स्थानक या आसीन रूप में दिखाया गया है। उमामाहेश्वर के पार्श्वों में गणेश, कार्तिकेय के साथ ही अन्य शिव परिवार की आकृतियों को दिखाने का विधान है।[1] अर्द्धनारीश्वर की एक मात्र मूर्ति हरिश्चन्द्र घाट पर स्थित **काशी कामकोटीश्वर मन्दिर** के जंघा पर बनाई गई है। मूर्ति में दाहिना भाग शिव एवं बायाँ भाग उमा का है। चतुर्भुज मूर्ति के करों में त्रिशूल, डमरू (दक्षिणार्द्ध) एवं पद्म तथा अभयमुद्रा (वामार्द्ध) दष्टव्य हैं।

शाक्त मन्दिर

शाक्त अर्थात् शक्ति से सम्बन्धित। विश्व के अन्य देशों की भाँति भारत में भी शक्ति पूजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से ही देखी जा सकती है। हिन्दू धर्म में देवी को विशेष महत्त्व प्राप्त है। सिन्धुघाटी से प्राप्त मातृदेवियों की मृणमूर्तियों तथा वैदिक साहित्य के उल्लेख इसके साक्षी हैं। देवी की सत्ता त्रिदेववाद से भी सम्बन्धित है। वह ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की शक्तियों क्रमशः सरस्वती, लक्ष्मी एवं उमा के रूप में प्रतिष्ठित है। शक्ति का घनिष्ट सम्बन्ध मुख्यतः शैव धर्म से है, जहाँ वे शिव की अर्द्धांगिनी के रूप में पूज्य हैं। वे ही उमा, पार्वती, दुर्गा, काली आदि नामों से भी विख्यात हैं। भारतीय दर्शन में इस देवी को आद्यशक्ति प्रकृति के रूप में स्वीकार किया गया है, जो सृष्टि का सक्रिय तत्व है देवी का वही रूप शाक्त सम्प्रदाय में पूज्य है। अथर्ववेद में देवी को तीनों लोकों की माता कहा गया है।[2]

पुराणों में देवियों को शक्ति, समृद्धि और ज्ञान की अधिष्ठात्री कहा गया है। शाक्त सम्प्रदाय ब्राह्मण धर्म के पाँच प्रमुख सम्प्रदायों में से एक स्वतंत्र सम्प्रदाय है, जिसमें देवियों की शक्ति और मातृ दोनों ही रूपों की उपासना की परम्परा मिलती है। मातृरूप में सप्त, अष्ट या नव मातृकाओं

---

6. मिश्रा, इन्दुमती - प्रतिमाविज्ञान, पृ. 263
7. अथर्व., 8/9/1-10

की मूर्तियों का निर्माण किया गया, जो ब्राह्मण धर्म के प्रमुख देवों शिव, विष्णु, ब्रह्मा, कार्त्तिकेय, इन्द्र, गणेश आदि से संबंधित हैं। मातृदेवी के रूप में उनके साथ बालक तथा सम्बन्धित देवताओं के वाहनों एवं आयुधों को सम्बद्ध किया गया है। देवी, भक्तों का पालन करने के लिये सौम्य तथा दुष्टों का संहार करने के लिए उग्र रूप धारण करती हैं।

भारतीय स्थापत्य कला में देवी के सौम्य और उग्र दोनों ही रूपों का चित्राङ्कन मिलता है। इसका उल्लेख विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डल तथा शिल्परत्न जैसे ग्रन्थों में प्राप्त है।[1] काशी प्राचीन काल से ही शिव के साथ-साथ शक्ति की उपासना का भी प्रमुख केन्द्र रहा है। काशी के अन्तर्गत घाटों से शिव तथा विष्णु के बाद शक्ति की मूर्तियों के ही सर्वाधिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। देवियों को समर्पित स्वतंत्र स्वरूपों वाली मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। साथ ही शिव मन्दिरों में पंचायतन पूजन के अन्तर्गत विष्णु, सूर्य एवं गणेश के साथ ही एक ओर की भित्ति पर शक्ति के किसी स्वरूप की मूर्ति बनाई गई प्राप्त होती है।

देवी या शक्ति की मूर्तियों को मुख्यत: सौम्य तथा उग्र रूपों में विभाजित किया गया है। संहार स्वरूपा में देवी के हाथों में त्रिशूल या शूल, धनुष-बाण, पाश अंकुश, शंख, चक्र, खट्वांग एवं कपाल पात्र जैसे आयुध एवं एक हाथ अभय या वरद मुद्रा में देखे जा सकते हैं। इन स्वरूपों में महिष मर्दिनी, दुर्गा, काली, चामुण्डा, धूमाता, कालरात्री, रौद्री, भैरवी, मनसा व चौसठ योगिनी मुख्य हैं। देवी के सौम्य स्वरूपों में लक्ष्मी एवं क्षमा, पद्मधारिणी सरस्वती, गौरी, पार्वती, गंगा-यमुना व अन्नपूर्णा प्रमुख हैं।

काशीखण्ड में 68 देवीपीठों का उल्लेख है, जिनमें 16 विशिष्ट कोटि के कहे गये हैं। काशी में प्राप्त विभिन्न देवी मूर्तियों से स्पष्ट है कि यहाँ देवी के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त लक्ष्मी, सरस्वती, महिषमर्दिनी, सिंहवाहिनी दुर्गा, सप्तमातृका काली, अन्नपूर्णा, गंगा-यमुना इत्यादि की पूजन परम्परा भी विद्यमान रही है।

1. माहेश्वरी देवी मन्दिर

मन्दिरों के वास्तु शास्त्रीय विवेचन के क्रम में सर्वप्रथम चक्रपुष्करणी के पास स्थित माहेश्वरी देवी के मन्दिर की चर्चा करते हैं। इस मन्दिर को राजा श्री लाल माधव सिंह बहादुर ने सन् 1857 ई. में निर्मित करवाया था। मन्दिर देशी पत्थर का है। मन्दिर परिक्षेत्र की सतह से 6 फुट ऊँचाई वाले चौकोर गर्भगृह के मध्य में स्थित है। मन्दिर में जाने के लिए सोपान बने हुए हैं। मन्दिर 12'×12' फुट चौकोर गर्भगृह वाला है, जिसके चारों ओर 5'×5' फुट गर्भगृह वाले 4 शिव मन्दिर हैं। मन्दिर का अर्धमण्डप चार स्तम्भों पर आधारित है। प्रदक्षिणा पथ **डोरिक शैली** के स्तम्भों पर आधारित हैं। **मन्दिर के गर्भगृह** के प्रतिभद्र पर माहेश्वरी देवी की काले पत्थर की मूर्ति स्थापित है। **मन्दिर का शिखर** लगभग 60 कर्ण शृंगों तथा लगभग 8 उरु शृंगों से सुशोभित है। शिखर

1. Shrivastawa, Balram – Iconography of Shakti, p. 143

की ऊँचाई लगभग 30 फुट है। शिखर पर सोने का पानी चढ़ा हुआ सात ताम्र कलश शोभायमान है। उसके ऊपर छत भी है। शिखर पताका युक्त है। मन्दिर का परिक्षेत्र लगभग 30'×30' वर्गफुट का है। गर्भगृह में दो गवाक्ष तथा एक प्रवेश द्वार है। प्रवेश द्वार का मुख उत्तर दिशा में है। मन्दिर की शोभा वरडिका तथा बाहरी मुण्डेरियों पर निर्मित वृन्दावन की रासलीला, मूयर किन्नर, गन्धर्व और अप्सराओं के द्वारा ही है। मन्दिर के प्रवेश द्वार के दाहिनी ओर सिद्ध विनायक का मन्दिर है। मन्दिर में भित्तिचित्र एवं शिल्पयुक्त मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

शाक्त सम्प्रदाय के प्रमुख 12 मन्दिर उपलब्ध होते हैं, जिनमें पाँच पार्वती को, तीन गजयुक्त लक्ष्मी को, एक वैष्णवी को, एक महिषमर्दिनी को तथा एक चामुण्डा देवी को समर्पित है। ये मन्दिर क्रमशः तुलसीघाट, प्रहलादघाट, लालघाट और नन्दीश्वरघाट पर स्थित हैं और ये 7वीं शती ई. से 16वीं शती ई. तक के बताए जाते हैं। इन मन्दिरों में **उत्तर गुप्त शैली** की विशेषताएँ दष्टव्य हैं।

(ii) लक्ष्मी मन्दिर

लक्ष्मी को समृद्धि, सौभाग्य और सौन्दर्य का प्रतीक माना गया है। लक्ष्मी को श्री, पद्मा, कमला आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त बौद्ध और जैन धर्मों में भी लक्ष्मी की लोकप्रियता रही है। पुराणों में लक्ष्मी को विष्णु से सम्बन्धित माना गया है। लक्ष्मी की उत्पत्ति सागर-मंथन के फलस्वरूप अन्य विधियों के साथ बताई गई है। विभिन्न शिल्पशास्त्रों में लक्ष्मी को गौरवर्णा, दिव्यस्वरूपा, चिरयौवना और सर्वाभरणभूषिता बताया गया है। लक्ष्मी की प्रतिमा कहीं दो हाथों वाली, कहीं चार हाथों वाली और कहीं-कहीं तो उससे भी अधिक करों वाली देखने को मिलती है। लक्ष्मी के हाथों में पद्म, श्रीफल, अमृतघट, बीजपूरक, खेटक, शंख और कौमुदकी गदा के प्रदर्शन का विधान है। मां लक्ष्मी को समर्पित यह मन्दिर 12वीं-13वीं शती का स्थापित हैं।

केदारघाट स्थित केदारेश्वर मन्दिर में मां लक्ष्मीदेवी के दोनों पार्श्वों के गज अभिषेक करते हुए **चोल शैली** से पूर्ण व सन्तुलित आभूषणों से सुसज्जित मूर्ति दर्शनीय है। इसी प्रकार से मणिकर्णिकाघाट एवं ललिताघाट पर भी लक्ष्मी मन्दिर प्राप्त होते हैं जो **स्थानिक शैली** में निर्मित पताकायुक्त शिखर वाले हैं। लक्ष्मी देवी की प्रतिमा वास्तु शास्त्रानुगत प्रणाली के अनुरूप ही निर्मित है। देवतामूर्तिप्रकरण[1] में लक्ष्मी की प्रतिमा को स्थापित करने की विधि निर्देशित की गई है।

---

1. दिव्याम्बुजकरा कार्या सर्वाभरणभूषिता।
गौरी शुक्लाम्बरा दैवी रूपेणप्रतिमा भुवि।।
प्रथमा चतुर्भुजा कार्या देवी सिंहासने शुभो।
सिंहासनं प्रकर्त्तव्यं कमलं चारुकर्णिकाम्।।
अष्टपत्र महाभागा कर्णिकायान्तु संस्थिता।
विनायकवदासीना देवी कार्या महाभुजा।। –देव.प्र., अ. 8, श्लो. 105-107, पृ. 114

सामान्यतः लक्ष्मी को दो हाथों में पद्म लिए, पद्म पर आसीन या खड़ी निरूपित किया जाता है। लक्ष्मी का एक स्वरूप गजलक्ष्मी या अभिषेकलक्ष्मी कहा गया है। गुप्तकाल में लक्ष्मी को राष्ट्रीय देवी के रूप में मान्यता मिली। सामान्य स्वरूप की लक्ष्मी मूर्तियों का एक उदाहरण (18वीं-19वीं शती ई.) नन्देश्वर घाट से प्राप्त होता है। द्वार उत्तरंग पर उत्कीर्ण उदाहरण लक्ष्मी को गणेश के बाँयी ओर पद्मासन में वरद्मुद्रा, पद्म एवं जलपात्र सहित आकारित किया गया है। विश्वनाथ गली स्थित अन्नपूर्णा मन्दिर में गजलक्ष्मी की मूर्ति प्राप्त होती है।

करुणेश्वर मन्दिर जो ललिताघाट पर स्थित है और 12वीं शती का है, उसमें चतुर्भुज गजलक्ष्मी पद्मासन पर अवस्थित हैं। कन्धों के ऊपर से देवी का अभिषेक करती दो गज आकृतियाँ बनी हैं। लक्ष्मी की प्रतिमा के दाहिने हाथ खण्डित हैं। बाँयें हाथ में लम्बा नालयुक्त पद्म और पुस्तक स्पष्ट हैं। लक्ष्मी के दोनों पार्श्वों में सेविकायें बनी हैं। पीठिका पर की कुछ आकृतियाँ बनाई गई हैं, किन्तु मूर्ति के अत्यधिक घिसे होने के कारण उनकी पहचान कठिन है।

(iii) दुर्गा मन्दिर

शक्ति के विभिन्न स्वरूपों में दुर्गा भी उल्लेखनीय हैं। विभिन्न ग्रन्थों में दुर्गा के अलग-अलग स्वरूपों का उल्लेख मिलता है। दुर्गासप्तशती[1] प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणी। में नवदुर्गा को अलग-अलग नामों से बताया गया है। अपराजित पृच्छा[2] में महालक्ष्मी नन्दा, क्षेमकरी, शिवदूती, महरिचण्डा, भ्रमरी, सर्वमंगला, रेवती तथा हरसिद्धि के नाम मिलते हैं। यहाँ सिंह वाहिनी दुर्गा को चतुर्भुजा बतलाया गया है। जबकि विष्णुधर्मोत्तरपुरण[3] में सिंहवाहिनी देवी 20 हाथों वाली बतलाई गई हैं। रूपमण्डन में देवी के केवल दस भुजाओं का ही उल्लेख मिलता है।

काशी में गंगा तट पर घाटों में दुर्गा के छः मन्दिर प्राप्त होते हैं, जो 18वीं शती ई. के उत्तरार्ध से 20वीं शती ई. के मध्य के हैं। शक्ति से सम्बन्धित विशद् विवरण मार्कण्डेय पुराण[4] के देवी-माहात्म्य में उपलब्ध है। विभिन्न देवियाँ एक ही शक्ति का अभिन्न अंग हैं, जिनका मुख्य कार्य असुरों का विनाश करना है।

---

1. प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणी।
   तृतीयं.....।। –दु.स.श., गीता प्रेस, गोरखपुर, बीसवाँ संस्कराण, 1997
2. (1) आदौ तत्र महालक्ष्मी नन्दास क्षेमकरी तथा।
   शिदवूती महरिचण्डा भ्रमरी सर्वमंगला।।
   रेवती हरिसिद्धिश्च नवदुर्गा प्रकीर्तिता। –अपरा., 222/26-27
   (2) वही, 223/6-11
3. वि.ध.पु., 117/18-25
4. (i) मा.पु., 81,71-86 (ii) वही, 84, 1-26
   (iii) वही, 85, 7-81 (iv) वही, 91, 1-34

मां दुर्गा को समर्पित मन्दिरों में सर्वप्रमुख मन्दिर **दुर्गाकुण्ड स्थित दुर्गा मन्दिर** है। यह मन्दिर वाराणसी केण्ट से लंका मार्ग के मध्य है। इसका निर्माण 18वीं शताब्दी में बंगाल की महारानी **भवानी द्वारा** किया गया था। **मन्दिर उत्तर भारतीय शैली (नागर शैली)** में बनवाया गया है। प्रतिमा का मुख पचिम दिशा की तरफ है। साक्षात्कार के क्रम में यह ज्ञात हुआ कि वर्तमान में यह मन्दिर सिद्ध पीठ है। माना जाता है कि सबकी मनोकामना वहाँ अवश्यमेव पूर्ण होती है। मन्दिर से लगा हुआ एक तालाब है। ऐसी मान्यता है कि दर्शनार्थी उस तालाब में स्नान करने के उपरान्त सच्चे मन से यदि माँ की प्रार्थना करें तो उसकी मनोकामना निश्चित ही पूर्ण होती है। यह मन्दिर आयताकार जगती पर स्थित है। गर्भगृह तक जाने के लिए सोपान बने हुए हैं। गर्भ में दो प्रवेश द्वार, एक पश्चिमाभिमुख और दूसरा उत्तराभिमुख तथा दक्षिण दिशा में एक गवाक्ष लगा हुआ है। गर्भ गृह के चारों तरफ बाहर प्रदक्षिणा पथ बना हुआ है। परकोटे में ही शनि भगवान् और हनुमान की भी मूर्ति स्थापित है, जो क्रमशः आग्नेय व नैऋत्य कोण पर है। मन्दिर के अन्दर से ही तालाब में जाने के लिए सोपान बने हुए हैं। सपाट छतयुक्त मण्डप स्तम्भों पर आश्रित हैं। मन्दिर के ऊपर पताका स्थित है। मुख्य प्रवेश द्वार पर अलंकृत सिंह दोनों तरफ विराजमान हैं। गर्भगृह से प्राप्त देवी प्रतिमा पूर्णतया शास्त्रोक्त है।[1]

(iv) अन्नपूर्णा मन्दिर

काशी शिव की ही भाँति अन्नपूर्णा की भी निवास स्थली मानी जाती है। ऐसी मान्यता है कि शिव के आग्रह पर अन्नपूर्णा ने काशी में अपना स्थायी निवास बनाया, जिसके फलस्वरूप काशी को अन्नपूर्णा क्षेत्र भी कहा जाता है। काशी के अधिकांश शिव मन्दिर **पंचायतन स्वरूपों** की मूर्तियों के अन्तर्गत शक्ति के रूप में अन्नपूर्णा की मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं।

शिव पंचायतन प्रासाद

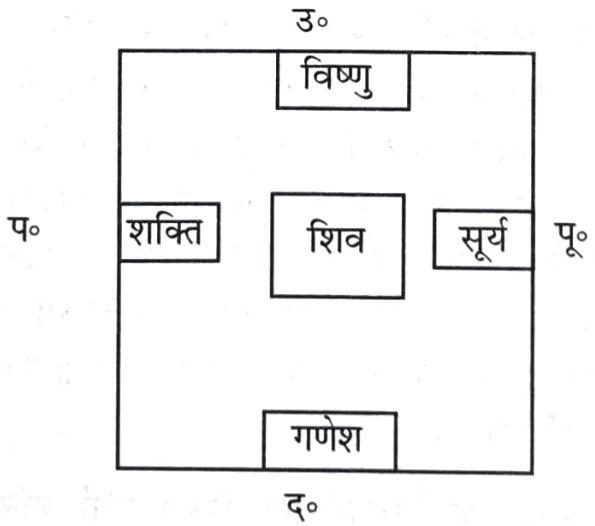

1. देव.प्र., अ. 8, श्लो. 52-60, पृ. 105-106

अन्नपूर्णा के दो स्वतंत्र मन्दिर **आनन्दमयीघाट** और **राजघाट** पर प्राप्त होते हैं। दोनों ही स्थान पर नववधू रूप में बनाई द्विभुजा देवी नाक में नथिया तथा अन्य आभूषणों से सुशोभित हैं। गर्भगृह में प्रतिष्ठित पद्मासीन देवियों के करों में धान की बाली और शिवलिङ्ग प्रदर्शित हैं। एक अन्य चतुर्भुजा स्थानक मूर्ति हरिश्चन्द्रघाट पर स्थित काशी **कामकोटीश्वर मन्दिर** में प्राप्त होती है। विश्वनाथ गली स्थित **अन्नपूर्णा देवी** की मूर्ति स्वर्णमयी मन्दिर के ऊपरी तल पर विराजमान है। वहाँ उपस्थित पुजारी से ज्ञात हुआ कि मन्दिर में स्थित देवी दर्शन साल में मात्र दीपावली के पूर्व धनतेरस से शुरू होकर दीपावली के दूसरे दिन अर्थात् अन्नकूट तक होते हैं। मन्दिर के एक कोने में सप्त अश्वों पर आसीन सूर्य की मूर्ति स्थापित की गई है।

(v) विशालाक्षी मन्दिर

विश्वनाथ मन्दिर के दक्षिण पूर्व दिशा में 200 मी. आगे भारत के 54 शक्तिपीठों में एक माँ विशालक्षी गौरी का **दक्षिण भारतीय शैली** में अत्यन्त चित्ताकर्षक मन्दिर विद्यमान है। साक्षात्कार से ज्ञात हुआ कि माता सती की आँख काशी में गिरी थी, वही विशालाक्षी गौरी हुईं, ऐसी मान्यता है। इस प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार सन् 1908 ई. से शुरू होकर 22 नवम्बर सन् 1985 ई. को समाप्त हुआ, जो दक्षिण भारतीय संस्था नाट्यकोटक्षेत्रम् द्वारा कराया गया। **गर्भगृह** चबूतरे पर स्थित है, जिस पर जाने के लिए सोपान बने हैं। मन्दिर के अन्दर प्रदक्षिणा पथ नहीं है, इस लिए चबूतरे का बर्हिभाग ही प्रदक्षिणा के लिए प्रयुक्त होता है। मुख्य प्रवेश द्वार पर दोनों तरफ स्तम्भ खड़े हैं जिनपर सिंह की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। यह **निरन्धार शैली** का मन्दिर है।

(vi) शीतला मन्दिर

शीतलाघाट स्थित यह मन्दिर सामान्य एवं शिखर विहीन है। मन्दिर का गर्भगृह एक विशाल आयताकार मण्डप के मध्य बना है। तीन ओर से खुले मण्डप में उ.पू. कोण पर एक अन्य मन्दिर भी है। सात देवकुलिकाएँ भी मन्दिर में विद्यमान हैं, जिनमें दुर्गा, काली, अन्नपूर्णा, सन्तोषी माता, उमामहेश्वर, बाबा भैरव तथा भगवान राम की पंचायतन की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। आयताकार गर्भगृह में शीतला के अतिरिक्त अर्घे में दशाश्वमेधेश्वर शिवलिङ्ग भी स्थापित हैं। उ.पू. कोण पर अवस्थित मन्दिर का गर्भगृह वर्गाकार है, जिसमें दो प्रवेश द्वार पश्चिम एवं दक्षिण में हैं। गर्भगृह के मध्य ऊँचे सिंहासन पर माँ दुर्गा की मूर्ति स्थापित है। लोक देवियों में माँ शीतला प्रमुख देवी हैं, जिन्हें बड़ी माता या छोटी माता (चेचक) की निवारक देवी माना गया है। शीतला पूजन व इनके मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण की परम्परा 10वीं-11वीं शती ई. से ही मिलती है। देवी की मूर्तियों में मुख भाग पर रजत या पीतल पत्र मण्डित है।

काशी के अन्य शाक्त मन्दिरों में **निरंजनीघाट स्थित दुर्गा मन्दिर**, जो 19वीं शती के अन्तिम चरण में बनाया गया था, **राजपूत शैली** के छत्रदार शिखर से युक्त है। 18वीं शताब्दी का एक अन्नपूर्णा मन्दिर भी, जो राजघाट पर स्थित है, पूर्णतः वास्तुसम्मत है। इसका शिखर सादा एवं

छोटा है। इसमें अर्द्धमण्डप एवं गर्भगृह **स्थानीय शैली** के बनाये गये हैं।

काशी के विभिन्न भागों में स्थित **मीनाक्षी मन्दिर**, कचौड़ीगली में स्थित **श्यामा मन्दिर, तारा मन्दिर** व **बंगलामुखी मन्दिर** भी वास्तु शास्त्र के अनुरूप प्रतीत होते हैं। साक्षात्कार के क्रम में उपर्युक्त मन्दिरों के माप लेने की अनुमति वहाँ के पुजारी से न मिलने के कारण अधिक विवरण देने में शोधार्थी असमर्थ है।

नटोर की रानी भवानी के संरक्षण में बना दुर्गा मन्दिर **"शास्त्रीय शैली"** का मन्दिर कहा जा सकता है। मन्दिर के गर्भगृह और शिखर का निर्माण 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किया गया। 19वीं शताब्दी के मध्य में मन्दिर में पिरामिड की आकृति का मण्डप बनाया गया, जो नक्काशीदार स्तम्भों और छज्जों पर टिका हुआ है। इस मन्दिर में पत्थरों पर बड़ी शानदार नक्काशी की गई है। दुर्गा मन्दिर जन सामान्य की पूजा-उपासना के लिए बनाया गया था, और यह पंचक्रोशी परिक्रमा मार्ग का प्रमुख पड़ाव है। अगर दुर्गा मन्दिर तथा भोंसले घाट के मन्दिर की वास्तुपरक समीक्षा करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन मन्दिरों में गर्भगृह और शिखर का निर्माण शास्त्रीय परम्परा से किया गया है। इस मन्दिर का मण्डप अन्य मराठा मन्दिरों के मण्डप की भाँति **"सुराहीदार मुगलशैली"** के स्तम्भों पर आधारित है। यहाँ पहुँचकर लगता है कि मानों 18वीं शताब्दी के किसी शाही दरबार में पहुँच गये हों।

वैष्णव मन्दिर-

आदौ राम तपोवनादि गमनम्, हत्वा मृगम् काञ्चनम्,
वैदेहि हरणं जटायु मरणं सुग्रीव सम्भाणम्।
बालिनिर्दलनम् समुद्रतरणं, लङ्कापुरी दाहनम्,
पश्चाद् रावण कुम्भकरण हननं एतद् श्रीरामायणम्।।[1]

पुरणों के अनुसार काशी आद्य वैष्णव स्थान है। पहले यह भगवान् माधव की पुरी थी। सुनने में आता है कि एक बार भगवान् शंकर ने ब्रह्मा जी का सिर काट दिया, जो उनके करतल से संलग्न हो गया। उसके पश्चाताप के लिए वे बारह वर्षों तक बद्रीनारायण, कुरुक्षेत्र, ब्रह्महूद आदि में घूमते रहे, पर वह सिर हाथ से अलग नहीं हुआ। अन्त में ज्योंही उन्होंने काशी की सीमा में प्रवेश किया, ब्रह्म हत्या ने उनका पीछा छोड़ दिया और स्नान करते ही करसंलग्न कपाल भी अलग हो गया। जहाँ वह कपाल गिरा, वहीं कपालमोचन तीर्थ बन गया। फिर भगवान विष्णु से प्रार्थना करके उन्होंने उस पुरी को अपने नित्य आवास के लिए स्वीकृत करा लिया।[2]

ब्राह्मण धर्म की देवत्रयी में 'विष्णु' वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख आराध्य देव हैं। विष्णु को मुख्यतः सृष्टि का पालनकर्ता माना गया है। ऋग्वेद में इनकी मान्यता सौर देवता के रूप में मिलती है।[3] शतपथ

1. नित्यकर्मपूजा प्रकाश पृष्ठ 335, श्रीलालविहारी मिश्र, गीता प्रेस गोरखपुर
2. त्रिस्थली सेतु, पृ. 216 में वर्णित वामन एवं नारदपुरणों के सन्दर्भ
3. Macodonell, A.A. – The Vedic Methodology, pp. 38-39

ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख है। विष्णु के स्पष्ट पुरातात्विक प्रमाण दूसरी शती ई.पू. से ही मिलने लगते हैं।

काशी खण्ड में शिव पूजा से पूर्व विष्णु पूजा का सन्दर्भ प्राप्त होता है। संभवतः **काशी में वैष्णव सम्प्रदाय** के महत्त्व के कारण ही इसके एक प्रमुख शिव तीर्थ होने के बाद भी यहाँ विष्णु के पूजन की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है। शताब्दियों से काशी बहुदेववादी अथवा धार्मिक समन्वयवादी प्रवृत्ति का जीवन्त उदाहरण रहा है। काशी पंचायतन पूजा का भी एक प्रमुख केन्द्र रहा है। परिणामतः काशी के 12वीं से 20वीं शती ई. के मध्य निर्मित अधिकांश शिवमन्दिरों में शिव के अतिरिक्त विष्णु, सूर्य, गणेश और शक्ति की विभिन्न स्वरूपों वाली मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित की गयी हैं।

पंचगंगाघाट के उत्तर का काशी **'विष्णु काशी'**और दक्षिण का भाग **'शिव काशी'** माना गया है। परमभागवत् की उपाधि वाले गुप्त शासक वैष्णव धर्मावलंबी थे। उनके शासन काल में काशी में अधिकाधिक विष्णु के प्रतिमाओं एवं मन्दिरों का निर्माण हुआ है।

काशी में प्राचीन विष्णु मन्दिरों के उदाहरण भारत कला भवन, वाराणसी में सुरक्षित हैं, जिनमें गुप्त शासक बुद्धगुप्त के शासनकाल का एक चतुर्भुजस्थानक प्राप्त होता है जिस पर विष्णु के वामन, नृसिंह एवं वराह अवतारों की आकृतियाँ बनाई गई हैं। काशी में मन्दिरों से सम्बन्धित विष्णु मूर्तियों के उदाहरण लगभग 7वीं शती ई. से प्राप्त होने लगते हैं। मन्दिरों के गर्भगृह में प्रतिस्थापित विष्णु मूर्तियों का क्रम निरन्तर 20वीं शती ई. तक चलता रहा। आदिकेशव एवं बिन्दुमाधव काशी के प्रमुख विष्णु-मन्दिर हैं, जिनमें प्रमुख देवता के रूप में विष्णु की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर में विष्णु की स्वतंत्र मूर्तियों के अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण, शेषशायी, विश्वरूप, गजेन्द्रमोक्ष, नर-नारायण, जगन्नाथ, विठ्ठल एवं विभिन्न अवतारों के स्वरूप भी प्राप्त होते हैं। अवतार स्वरूप वाली मूर्तियों में विष्णु की गोवर्धनधारी, चीरहरण, नरसिंह, मत्स्य, वराह एवं वामन की मूर्तियाँ मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त एक उदाहरण साक्षात्कार के फलस्वरूप चतुर्विंशति केशव पट्ट का भी नाम मिला है, जो प्रतिमालक्षण की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

नारदपुराण[1] में कहा गया है कि काशीक्षेत्र पहले विष्णु का निवासस्थान था, जहाँ भगवान् पूर्ण स्वरूप में निवास करते थे। वह स्वतः विष्णु का ही रूप था, जहाँ वे साक्षात् प्रकाशित होते थे। वामनपुराण[2] में भी ऐसा ही वर्णन है कि काशी क्षेत्र विष्णु का है, आगे चलकर शिव का हो जाएगा।

---

1. आद्यं च वैष्णवस्थानं पुराणे परिचक्षते।
   पुरीषु संस्थितो विष्णुरंशैः काश्यां स्वरूपतः।।
   काशी स्वरूपं विष्णोस्तु यत्र साक्षात्प्रकाशते। —ना.पु., त्रि.से., पृ. 216
2. तमूचुर्मुनयः सूर्य शृणु क्षेत्रमहाफलम्।
   साम्प्रतं वासुदेवस्य भावि तच्छङ्करस्य च।।
   योगशापिनमारभ्य यावत्केशव दर्शनात्।
   एतत्क्षेत्रमहोः पुण्यं नाम्ना वाराणसी पुरी।। —हैमाद्रौ वा.पु., त्रि.से., पृ. 101

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण[1] भी काशी क्षेत्र को "महालिङ्गमय जनार्दनम्" ही कहता है।

कृत्यकल्पतरु' में केवल एक ही विष्णुपीठ का उल्लेख है, जो अब आदिकेशव के नाम से विख्यात हैं परन्तु काशीखण्ड में यहाँ के अन्य विष्णु पीठों के नाम मिलते हैं, जिनकी संख्या छोटी नहीं है। यहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि काशी में नारायण की पाँच सौ, जलशायी की एक सौ, कच्छप रूप की तीस, मत्स्य रूप की बीस, गोपाल की एक सौ आठ, परशुराम की तीस, श्रीरामचन्द्र की एक सौ एक, तथा बुद्ध की सहस्त्रों मूर्तियाँ हैं। विष्णु भगवान् की केवल एक मूर्ति है जो विश्वेश्वर के मुक्तिमण्डप में है।[2]

काशी स्थित वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख मन्दिर निम्नलिखित हैं–

1. आदिकेशव घाट स्थित आदिकेशव मन्दिर
2. भोंसलाघाट स्थित लक्ष्मीनारायण मन्दिर
3. शंकुधारा स्थित द्वारिकाधीश मन्दिर
4. बालाघाट स्थित बाला जी का मन्दिर
5. पाण्डेयघाट स्थित गोपालबाड़ी
6. अस्सी घाट स्थित राम मन्दिर
7. संकटमोचन स्थित राम मन्दिर

विष्णु मूर्तियों के निर्माण की परम्परा कुषाणकाल से प्राप्त होती है। गुप्तकाल में वैष्णव धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय था।

महाभारत[3] में विष्णु को द्विभुज और करों में गदा तथा चक्र से युक्त निरूपित किया गया है। बृहत्संहिता[4] में विष्णु को दो, चार अथवा आठ हाथों वाला बताया गया है। दो भुजाओं वाले विष्णु

---

1. अहो महालिङ्गमयं जनार्दनम्।
   पश्यामि काश्यां परमात्मरूपम्।। ब्र.वै.पु., त्रि.से., पृ. 101
2. नारायणाः शतं पञ्चशतं च जलायिनः।
   त्रिंशत्कमठरूपाणि मत्स्यरूपाणि विंशतिः।।
   गोपालश्च शतं साष्टं बुद्धाः सन्ति सहस्राशः।
   त्रिंशत्परशुरामाश्च रामा एकोत्तरं शतम्।।
   विष्णुरूपाऽरम्यहं चैको मुक्तिमण्डपमध्यतः। का.खं., 61/207-209
3. महा.भा., 1/58/49
4. बृ.सं., 58/31-35

को अभयमुद्रा और शंख से युक्त होने का उल्लेख है, जबकि चतुर्भुज होने पर देवता के तीन करों में गदा, शंख तथा चक्र और चौथा हाथ अभयमुद्रा में होता है। विष्णु के अष्टभुजी प्रतिमाओं में दाहिना हाथ अभयमुद्रा में और शेष तीन हाथों में खड्ग, गदा, बाण तथा बाँये में धनुष, खड्ग, चक्र तथा शंख प्रदर्शित होता है।

प्रायः सभी ग्रन्थों में विष्णु को किरीट-मुकुट, कौस्तुभमणि, कुण्डल जैसे आभूषणों तथा श्रीवत्स, चिन्ह से सुसज्जित करने को कहा गया है।

(i) आदिकेशव मन्दिर

विष्णु की स्वतन्त्र मूर्तियों के उदाहरण में वर्तमान **आदिकेशव घाट स्थित आदिकेशव मन्दिर** की काले रंग के पत्थर से निर्मित विष्णु प्रतिमा प्रमुख है। गर्भगृह में स्थापित प्रस्तुत विष्णुमूर्ति एक सादे शिला पट्ट पर बनाई गई है। समभंग में खड़े विष्णु चतुर्भुज हैं। उनके करों में क्रमशः सनाल पद्मकलिका, शंख, अलंकृत चक्र एवं गदा प्रदिर्शत है। विष्णु का चेहरा गोल एवं मांसल है। मस्तक पर छोटा मुकुट, गोल कर्णाभूषण, मनकों के छोटे-बड़े हार, भुजबन्द वलय एवं सादी वनमाला से मूर्ति सुसज्जित है। प्रतिमा में धोती लम्बी तथा जंघपट्ट सादा है। 62X100 से.मी. माप वाली प्रस्तुत मूर्ति अस्वाभाविक एवं निर्जीव है।

काशी के विष्णु मन्दिरों में लगभग 7वीं शती ई. लोलार्ककुण्ड (भदैनी) स्थित **लोलार्केश्वर महादेव** के प्रवेश द्वार के समीप एक स्तम्भ पर बनाई गई विष्णु की प्रतिमा प्रारम्भिक मानी जाती है। प्रस्तुत स्तम्भ काशी में प्रचलित पंचदेव उपासना का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

चतुर्भुज विष्णु के दाहिने हाथों में गदा एवं पद्म तथा बाँये हाथों में चक्र तथा शंख प्राप्त होते हैं। मूर्ति की माप 22.5X49 से.मी. है।

(ii) द्वारिकाधीश मन्दिर

खोंजवा स्थित शंकुधारा के 18वीं शती ई. के द्वारिकाधीश मन्दिर में भी **वास्तु शास्त्रानुरूप मण्डप** दिखते हैं। प्रतिमा काले रंग के पाषाण में उत्कीर्ण है। एक बाँये हाथ को छोड़कर प्रतिमा के शेष तीनों हाथ खण्डित हैं। अवशिष्ट हाथ में गदा का कुछ अंश देखने को मिलता है।

समभंग में खड़ी चतुर्भुज मूर्ति (65x155 सेमी.) में विभिन्न आकार प्रकार के छोटे-बड़े हार लम्बा किरीट मुकुट, भुजबन्द, वलय शृंगखलाओं से अलंकृत सुन्दर मेखला एवं पैरों में नूपुर दष्टव्य हैं। इन आभूषणों के अतिरिक्त देवता के गले में अलंकृत वनमाला एवं मस्तक की पृष्ठभूमि में प्रभा मण्डल का कुछ अंश भी देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रतिमा स्पष्टतः **चेदी एवं चंदेल कला शैलियों** की विशेषताओं से युक्त है।

12वीं शती का एक अन्य मन्दिर ललिताघाट पर अस्थित है, जो चौमुखी स्तम्भ पर स्थापित है, स्तम्भ पर तीन अन्य दिशाओं में शिव, सूर्य तथा गणेश की आकृतियाँ उद्धृत हैं। गर्भगृह में विष्णु की खड़ी मूर्ति स्थापित है, जिसका एक हाथ वरदमुद्रा में है, जबकि शेष तीन हाथों में गदा, और शंख है। मन्दिर में शेष देवताओं की मूर्तियाँ शास्त्रोक्त[1] दिशा में प्रतिष्ठित की गई हैं।

(iii) लक्ष्मीनारायण मन्दिर

इस मन्दिर में विष्णु को पाँच फणों वाले नाग पर शयन करते दिखाया गया है। विष्णु का दाहिना पैर बाँये पैर पर स्थित है। विष्णु के पैर दबाती लक्ष्मी की छोटी आकृति भी दर्शायी गई है। चतुर्भुज विष्णु के करों में क्रमशः चक्र, गदा, पद्म दिखलाये गये हैं। लक्ष्मी के समीप ही हाथ जोड़े गदाधारी हनुमान की आकृति उल्लेखनीय है। **नागर शैली** के विभिन्न गुण इस मन्दिर में प्राप्त होते हैं।

एक अन्य मन्दिर में लक्ष्मी के एक हाथ में पद्म दूसरा विष्णु की पीठ पर स्थित है, जबकि विष्णु का एक हाथ लक्ष्मी के कुक्षि-प्रदेश पर और अन्य तीनों हाथों में शास्त्रानुरूप[2] चक्र, शंख तथा पद्म प्रदर्शित होता है।

भगवान् विष्णु ने धर्म और भक्तों की रक्षा के लिए समय-समय पर अवतार लिये थे, जिनका वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। गीता[3] में श्री कृष्ण ने धर्म की रक्षा के लिए अवतार लेने की बात कही है। विभिन्न पुरणों एवं शास्त्रीय ग्रन्थों में नाम भेद के साथ विष्णु के दस, बाईस, चौबीस या इससे भी अधिक अवतारों का उल्लेख मिलता है। विभिन्न अवतारों को मन्दिरों के निर्माण की परम्परा **कुषाणकाल** से मिलती है।

विष्णु के रामावतार का मन्दिर **मानस मन्दिर** है, जो दुर्गाकुण्ड के समीप स्थित है। इसे तुलसी मानस मन्दिर के नाम से जाना जाता है। इस मन्दिर का निर्माण सन् 1964 में एक मारवाड़ी परिवार द्वारा कराया गया था। संगमरमर से बने इस पूरे मन्दिर की दीवारों पर तुलसीकृत श्रीरामचरितमानस अंकित है। मन्दिर में राम, लक्ष्मण व जानकी जी की मूर्तियाँ पश्चिमाभिमुख हैं।

---

1. दक्षिणे पुण्डरीकाक्षः पूर्व नारायणः स्मृतः।
   पश्चिमे स्यात्तु गोविन्द उत्तरे मधुसूदनः।।
   ईशाने स्थापयेद् विष्णुमाग्नेय्यां च जनार्दनम्।
   संकर्षप्राद्युम्नौ चानिरूद्धं च यथाक्रमम्।। देव.प्र., अ. 5, श्लो. 106-108, पृ. 55
2. रूप., अ. 4, श्लो. 34-35, पृ. 137
3. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
   परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
   धर्मस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे युगे।। भ.गी., अ. 4, श्लो. 7-8

लक्ष्मण के दाहिने तरफ रामभक्त हनुमान वीरासन में विराजमान हैं। सम्पूर्ण मन्दिर वर्गाकार जगती पर बनाया गया है, मुख्य मण्डप तक जाने के लिए **27 सोपान** बने हैं। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर दोनों तरफ दो द्वारपाल भाले सहित दिखलाये गये हैं। मन्दिर के द्वितीय तल पर हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ रखी हुई हैं।

काशी में विभिन्न घाटों पर विष्णु के कुल 53 मन्दिर प्राप्त होते हैं। 5वीं शताब्द ई. में बना एक मन्दिर **राजघाट पर स्थित विष्णु मन्दिर** है। यह मन्दिर **गुप्तशैली** की विशेषताओं वाला है।

(iv) जगन्नाथ मन्दिर

असिघाट पर 18वीं से 20वीं शती ई. के मध्य बने जगन्नाथ मन्दिर व लक्ष्मीनारायण या पंचरत्न मन्दिर **नागर शैली** में निर्मित हैं। इनमें गर्भगृह व अर्द्धमण्डप बनाये गये हैं। लगभग 19वीं शती ई. का बना लक्ष्मीनारायण का मन्दिर, जो जानकीघाट पर अवस्थित है, और जिसमें अर्द्धमण्डप, महामण्डप एवं गुम्बदाकार शिखर है, उसकी वास्तुकला सचमुच प्रशंसनीय है। 19वीं शती ई. में ही बना जगन्नाथ व नृहिंस मन्दिर जो प्रहलादघाट पर अवस्थित है, वह आवासीय भवनान्तर्गत तथा क्रमशः आयताकार व वर्गाकार गर्भगृहयुक्त है। **मन्दिर शिखर विहीन** है। मन्दिरों की ऊँचाई पूर्णतः वास्तुसम्मत प्राप्त होती है।

(अ) संकटमोचन मन्दिर

यह मन्दिर काशी में लंका के पास स्थित है। इसमें दर्शकों की अपार भीड़ लगती है। विशेषकर मंगलवार और शनिवार को तो इसमें सुबह से शाम तक भक्तों का आना-जाना लगा रहता है। काशी के प्राचीन मन्दिरों में इसकी गणना की जाती है।

इस मन्दिर में हनुमान की मूर्ति इस प्रकार से स्थापित की गई है, कि उनके ठीक सामने भगवान राम, माँ सीता और भाई लक्ष्मण के साथ सदैव उन्हें अपने आशीष से सिंचित करते रहते हैं। हनुमान मन्दिर के चारों तरफ प्रदक्षिणा पथ, इस मन्दिर को **सान्धार शैली** का मानने के लिए बाध्य करता है। श्रीराम की मूर्ति के बाँये तरफ एक **सभामण्डप** है, जिसमें भक्तगण पाठ, भजन इत्यादि करते पाये जाते हैं। मन्दिर के शिखर में **नागर शैली** की विशेषताएँ दर्शनीय हैं। भविष्य में कुछ वास्तु शास्त्रीय परिवर्तन इस मन्दिर में कराये जाने की संभावनायें हैं।

निष्कर्षतः हम पाते हैं कि कुछ मन्दिरों को छोड़कर वैष्णव सम्प्रदाय के लगभग सभी काशी स्थित मन्दिर वास्तु सिद्धान्तों के अनुरूप बनाये गये हैं। विशेषकर विष्णु के अवतार से सम्बन्धित जितने भी मन्दिर 16वीं शती के उपरान्त बने हैं, वे पूर्णतया वास्तु सम्मत हैं। आजकल कुछ मन्दिरों को, जो वास्तुनुरूप नहीं हैं अथवा उनमें कुछ वास्तुदोष पाये गये हैं, उनके पुनर्निर्माण का कार्य चल रहा है या योजना बनाई जा रही है जिससे सुख और शान्ति की वृद्धि की जा सके।

विभिन्न सम्प्रदायों के मन्दिर

काशी भारतवर्ष की सांस्कृतिक एवं धार्मिक नगरी के रूप में विख्यात है। इसकी प्राचीनता की तुलना विश्व के अन्य प्राचीनतम् नगरों जेरूसलम, रोम, एथेंस, पीकिंस आदि से की जाती है।[1] नारद पुराण[2] में काशी क्षेत्र का विस्तार पूर्व-पश्चिम में 7.5 कि.मी. तथा उत्तर दक्षिण में 1.5 कि. मी. बाताया गया है।

ईश्वर की सत्ता का कभी नष्ट न होने वाला तत्त्व काशी है। यह हिन्दुओं के सभी तीर्थों में श्रेष्ठ एव महातीर्थ है। हिन्दू धर्म को मुख्यतः पाँच सम्प्रदायों में बाँटा गया है–

1. शैव सम्प्रदाय
2. वैष्णव सम्प्रदाय
3. शाक्त सम्प्रदाय
4. सौर सम्प्रदाय
5. गाणपत्य सम्प्रदाय

काशी में इन सभी सम्प्रदायों के मन्दिर स्थापित किये गये हैं। इस अध्याय में सौर, गाणपत्य के साथ-साथ बौद्ध व जैन सम्प्रदाय को भी समर्पित मन्दिरों का वास्तुशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

सर्वप्रथम गणेश जी को समर्पित मन्दिरों का वर्णन पस्तुत है। इन मन्दिरों में तुलसी घाट स्थित **अर्कविनायक मन्दिर** व आदिकेशव समूह का **चिन्ताहरण गणेश मन्दिर** मुख्यतया ध्यातव्य है।

18वीं शती ई. का **अर्कविनायक** मन्दिर तुलसीघाट के उत्तरी भाग में स्थित है। यह मन्दिर काशीखण्ड में वर्णित 56 विनायक मन्दिरों में एक है। **तलछन्द** योजनान्तर्गत बनाया गया यह मन्दिर दो फीट ऊँचे आयताकार जगती पर स्थित है। इसमें गर्भगृह के अतिरिक्त मण्डप भी है। यह मन्दिर उत्तराभिमुख है और मण्डप **डोरिक शैली** के दो स्तम्भों पर आधारित है। उर्ध्वच्छंद योजना में मण्डप के वरण्ड भाग में छज्जा निकला है, जिसके बाद समतल छत है। गर्भगृह की बाह्य भित्ति सादी एवं समतल है, जिसके वरण्ड भाग में मण्डप के ऊपर आमलक, कलश तथा बीजपूरक हैं। गर्भगृह के भीतर चार फीट ऊँची गणेश प्रतिमा है। मुख्य मूर्ति के अतिरिक्त दो अन्य छोटी मूर्तियाँ भी दष्टव्य हैं।

---

1. Diana, L.A. – Benaras City of Light, p. 4
2. ना.पु., पृ. 1825

दूसरा प्राप्त गणेश मन्दिर जो आदिकेशव समूह का है लगभग 19वीं शती ई. का निर्मित है। यह मन्दिर आदिकेशव मन्दिर के परकोटे के बाहर है। मन्दिर का अर्द्धमण्डप चार स्तम्भों पर आधारित है। समतल छत वाले अर्द्धमण्डप के वरण्ड भाग में छज्जा है, जिसके ऊपर मुंडेरियाँ हैं, जो अनेक प्रकार के छिद्रों से अलंकृत पत्थर से निर्मित हैं। अर्द्धमण्डप, के दो स्तम्भों के मध्य दाँतदार मेहराब है। आयताकार गर्भगृह में एक मात्र प्रवेश द्वार है, जो उत्तराभिमुख है। गर्भगृह में प्रकाश के लिए पूर्वी व पश्चिमी भित्ति में गवाक्ष बने हैं गर्भगृह के ललाट पर गणेश हैं तथा द्वार-शाखाएँ पुष्पलताओं से अलंकृत है। गर्भगृह में दो फीट ऊँचे सिंहासन पर महाराज लीलासन मुद्रा में बैठे हुए गणेश की मूर्ति प्रतिष्ठित है। गर्भगृह के भीतरी देव प्रकोष्ठों में सरस्वती, सूर्य एवं अन्नपूर्णा की मूर्तियाँ हैं तथा उसके मध्य अर्घ में शिवलिङ्ग स्थापित है। **निरन्धार प्रकार** का यह मन्दिर उध्वच्छंद योजना में लगभग दो फीट ऊँची जगती पर अवस्थित है। मन्दिर का जंघ भाग सादा है तथा वरण्ड भाग में छज्जा है। मन्दिर का शिखर अंगशिखरों से युक्त व **उत्तर भारतीय शैली** का है। शिखर के चारों ओर रथिकायें हैं, जो गवाक्ष का काम भी करती हैं। मन्दिर के शिखर शीर्ष पर चौकोर, ग्रीवा, आमलक, पद्म पंखुड़ियों, कलश व त्रिशूल सुशोभित हैं।

एक अन्य गणेश मन्दिर जो **"बड़ा गणेश मन्दिर"** के नाम से विख्यात है, बड़ा गणेश मुहल्ला, लोहटिया में स्थित है गलियों के मध्य स्थित इस मन्दिर के गर्भगृह तक जाने के लिए कुछ सीढ़ियाँ बनी हैं। गणेश जी की करीब 10 फुट ऊँची विशाल प्रतिमा मुख्य गर्भगृह में प्रतिष्ठित है। मन्दिर का मुख्य प्रवेश द्वार उ.पू. कोने पर स्थित मालूम पड़ता है। गणेश प्रतिमा का मुख भी मुख्य द्वार की ही तरफ है, जिससे समस्त दर्शनार्थियों पर उनकी कृपा दृष्टि स्वतः ही पड़ती रहती है। साक्षात्कार के क्रम में ज्ञात हुआ कि पहले उस मन्दिर का निर्माण ढंग से ही किया गया था, परन्तु करीब छः सात वर्ष पूर्व मन्दिर में कुछ वास्तु शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार परिवर्तन किया गया, जिसके फलस्वरूप वहाँ की आर्थिक स्थिति में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ मन्दिर के मण्डप में अभूतपूर्व शान्ति व ध्यान योग्य वातावरण प्राप्त होने लगा। गर्भगृह से लगा हुआ ही प्रदक्षिणा पथ है। मन्दिर में प्रतिमा के सम्मुख मण्डप है, जिसमें श्रद्धालु लोग बैठकर ध्यान व उपासना करते हैं। **स्थानीय शैली** की विशेषताएँ इस मन्दिर के मुख्य आकर्षण का केन्द्र है।

भारत में गणेश की मूर्तियों के निर्माण की परम्परा कुषाणकाल से शुरू हुई। गणेश से सम्बन्धित स्वतंत्र गाणपत्य सम्प्रदाय का उद्भव पाँचवीं-छठी शती ई. माना गया है गणेश पूजन की परम्परा ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन धर्मों में भी लोकप्रिय थी। बृहत्संहिता[1] में गजमुख एवं लम्बोदर गणेश के द्विभुज एकदन्त होने का उल्लेख है, जिनके करों में कन्दमूल तथा परशु प्रदर्शित करने का विधान है। रूपमण्डन[2] दन्तश्च परशुं पद्मंमोदकश्च गजाननः में गजमुख देवता को

---

1. बृ.सं., 58/58
2. दन्तश्च परशुं पद्मंमोदकश्च गजाननः।
   गणेशो मूषकारूढ़ो बिभ्राणः सर्वकामदः।। – रूप., 5/15

चतुर्भुज कहा गया है, जिनके करों में मोदक पात्र के अतिरिक्त त्रिशूल, अक्षमाला, परशु, स्वदन्त एवं पद्म में से कोई भी तीन सामग्री प्रदर्शित होगी और मूषक इनका वाहन होगा। काशीखण्ड[1] में 56 विनायकों का वर्णन प्राप्त होता है।

गणपति के उपरान्त अब सौर सम्प्रदाय के मन्दिरों का वर्णन किया जाएगा। इस सम्प्रदाय के आराध्य देव सूर्य हैं। वेदों में इन्हें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद[2] में सूर्य के आर्यमन्, भग वरुण, दश, अंश और मित्र छः रूपों का उल्लेख है। महाभारत[3] में भी सूर्य के बारह नाम बताये गये हैं जो धाता आर्यमान्, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विस्वान्, पुषा, सविता, त्वष्टा तथा विष्णु हैं। सूर्य मूर्तियों का उल्लेख पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[4] प्रायः सभी ग्रन्थों में सूर्य रक्त वर्ण वाले, द्विभुज, तथा सनाल आभूषणों से शोभित एवं सप्त अश्व रथ पर आरूढ़ बताये गये हैं। अग्निपुराण के 51वें अध्याय के प्रथम तीन श्लोक भी सूर्य की प्रतिमा के लक्षण को बताते हैं।

काशी प्राचीन काल से ही बहुदेव पूजा का केन्द्र रहा है। घाटों पर स्थित तीर्थों में 5वीं शती ई. से ही सूर्य तीर्थ के रूप में लोलार्क का उल्लेख मिलता है। काशीखण्ड में काशी क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित चौदह आदित्यों का उल्लेख है, जिनके नाम क्रमशः लोलार्क, उत्तरार्क, साम्बादित्य, द्रुपदादित्य, मयूरवादित्य, गंगादित्य, खखेल्कादित्य, अरुणादित्य, वृद्धादित्य, कशेवादित्य, विमलादित्य, यमादित्य, समन्तवादित्य एवं कर्णादित्य हैं।[5] रूपमण्डनम्[6] में सूर्य के आयतन में स्थापित देवताओं के विषय में भी बताया गया है।

सौर सम्प्रदाय के साथ काशी के सम्बन्ध का क्रमबद्ध विवरण देना सम्भव नहीं है, किन्तु पुराणों से यह स्पष्ट होता है कि यह सम्प्रदाय भी प्राचीन काल में प्रतिष्ठित हो चुका था। सम्भवतः

---

1. का.ख., अ. 5/7
2. ऋ.वे., 2/27/1
3. महा., 3/134/19
4. अ.पु., 51/1-3
5. (क) गृहाः किरीटिनः कार्या रत्नकुण्डलशोभिताः। रूप., 2/24
   (ख) लोलार्क उत्तरार्कश्च साम्बादित्यस्तथवै च।
   चतुर्थो द्रुधदादित्यो मयूरखादित्य एव च।।
   खखोल्कश्चारूणादित्यो वृद्धकेश्वदंज्ञकौ।
   दशमो विमलादित्यो गङ्गादित्यथैव च।।
   द्वादशश्च यमादित्यः काशिपुर्यां घटोद्भव।
   तमोडघिकेभ्यो दुष्टेभ्यः क्षेत्रं रक्षन्त्यमी सदा।। का.खं., 64/44-47
6. सूर्यस्याऽऽयतने स्थात्या वहिकोणादितः क्रमात्।
   कुजो जीवस्तभः शुक्रः, केतवो यज्ञः शनिः शशी।। रूप. 2/25

काशी में शैव धर्म की अपेक्षा सौर धर्म का अस्तित्व अधिक पुरातन है। काशीखण्ड[1] में कहा गया है कि काशी में गभस्तीश्वर मन्दिर में शिवलिङ्ग की स्थापना स्वयं सूर्य देवता के द्वारा हुई है। काशी की वंशावली में कतिपय राजाओं के नाम सूर्य से सम्बद्ध मिलते हैं, जैसे 38वें राजा का नाम **'हर्यश्व'** तथा 43वें नृपति का नाम **'अलर्क'** है। मत्स्यपुराण[2] में तो काशी को **"अलर्क की पुरी"** की संज्ञा दी गई है। स्कन्दपुराण[3] के अनुसार काशी में एक सूर्य मन्दिर था, जिसमें स्थापित देवता का नाम **'लोलार्क** था। मत्स्यपुराण[4] में भी लोलार्क मन्दिर का उल्लेख विश्वेश के आनन्दकानन के पाँच तीर्थों में एक तीर्थ के रूप में किया गया है। काशी के भदैनी क्षेत्र में **लोलार्क मन्दिर** एवं एक लोलार्क-कुण्ड स्थापित किया गया है।

मन्दिर में सूर्य देवता स्थानक समभंग मुद्रा में स्थित हैं। सूर्य देव आजानु, अधोवस्त्र, अत्यांग, ग्रैवेयक, कुण्डल, भुजबन्द, उपनाह एवं किरीट मुकुट धारण किये हैं। मुकुट का ऊपरी भाग कोणाकृति न होकर समतल है। सूर्य के दोनों स्कन्धों पर केश राशि बिखरी है। सूर्य के पार्श्व में दण्ड एवं पिंगल की भाव शून्य त्रिभंगी आकृतियाँ उपलब्ध होती हैं।

मन्दिर के साक्षात्कार से स्पष्ट हो जाता है कि यह गुप्तकाल के अन्त अथवा गुप्तोत्तरयुग की कृति है। अत: इस मन्दिर में **गुप्त शैली** की विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। शास्त्रीय विधान के अनुसार मन्दिर के ललाट-बिम्ब में गर्भगृह स्थित देव प्रतिमा की लघु अनुकृति स्थापित की गई है। मन्दिर के पूर्वी कोने पर एक वर्गाकार पाषाण खण्ड एक वेदिका पर स्थापित है। यह खण्ड लगभग 1/2 फुट ऊँचा है। इसके चारों दिशाओं में चार देवाकृतियाँ प्रदर्शित हैं। प्रथम मूर्ति में उमा-महेश्वर आलिङ्गन स्थानक मुद्रा में अंकित हैं। दक्षिण पार्श्व में एक लम्बा त्रिशूल है, जिसे देवता दाहिने हाथ से पकड़े हुए है। माहेश्वर का यहाँ उर्ध्व लिङ्ग प्रदर्शित हैं जो उत्तर भारतीय मन्दिरों में कम देखने को मिलता है।

इस प्रकार से 7वीं से 14वीं शती के मध्य सूर्य के कुल 5 मन्दिर काशी के विभिन्न घाटों पर प्राप्त होते हैं, जो मुख्यत: **उत्तर गुप्त शैली** और **चोलशैली** के विशेषताओं से युक्त हैं।

इन मन्दिरों के अतिरिक्त काशी के कोतवाल कहे जाने वाले **कालभैरव** और **बटुक भैरव** के मन्दिर भी वास्तु शास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

कालभैरव मन्दिर विश्वनाथ मन्दिर से एक कि.मी. उत्तर पूर्व की ओर कोतवाली के समीप स्थित है। इस मन्दिर का निर्माण सन् 1715 ई. में **बाजीरावपेशवा** द्वारा कराया गया।

---

1. का.ख., अ. 49
2. म.पु., 180/68
3. तस्यार्कस्य मनो लोलम् यदासीत् काशीदर्शने।
   अतो लोलार्क इत्यख्या काश्याम् जात: विववत:।। का.ख. 46/48
4. मत्स्यपुरण, 185/68-70

ब्रह्मा तथा कृतु के विवाद के समय ज्योतिर्लिङ्गात्मक शिव का प्रादुर्भाव हुआ और अपने पाँचवें मुख से ब्रह्मा के अहंकारवश उनका अपमान करने पर उनको दण्ड देने के लिए उसी समय शिव की आज्ञा से भैरव की उत्पत्ति हुई एवं वरदानस्वरूप ब्रह्मा को दण्ड देने का आदेश हुआ।[1] भैरव का सदाशिव ने कालभैरव कहकर सम्बोधित करते हुए यह बतलाया है कि इनसे काल भी डरेगा। इनको **"आमर्दक"** और **"पापभक्षण"** भी कहा जाता है।

केदारघाट पर स्थित **केदारेश्वर मन्दिर** 1898 ई. में पुनिर्मित हुआ है[2]। 16वीं शती के अन्तिम चरण में **कुमारस्वामी द्वारा निर्मित केदारेश्वर मन्दिर** संभवतः औरंगजेब के काल में नष्ट किया गया था। 'कुछ विद्वान इसे काशी नरेश चेतसिंह द्वारा पुनर्निर्मित बतलाते हैं।[3]

मन्दिर एक परकोटे के मध्य स्थित है, जिसमें प्रवेश के लिए दो **प्रवेश-द्वार** पूर्व एवं पश्चिम में हैं। एक द्वार गंगातट से तथा दूसरा मानसरोवर गली की ओर से है। यही मन्दिर का मुख्य प्रवेश द्वार भी माना जाता है। प्रवेश द्वार के ललाट पर गणेश की मूर्ति है। मन्दिर के परकोटे की दीवार से लगा स्तम्भों पर आधारित शिखर विहीन देव प्रकोष्ट हैं। मन्दिर के पूर्वी प्रवेश-द्वार के भीतरी भाग में दो द्वारपालों की आदमकद मूर्तियाँ हैं, जो दक्षिण **भारतीय शैली** की विशेषताओं से प्रभावित हैं।

काशी न केवल हिन्दू धर्म, उसकी एक विशिष्ट एवं विलक्षण शाखा बौद्ध धर्म का भी प्रधान ही नहीं प्रथम प्रवर्तन-पीठ है। Shri Ramakrishna described Kashi as a city not built of Stones, but out of a condensed means of spirituality.

काशी के मुख्य नगर क्षेत्र में तो एक ही **बौद्ध मन्दिर** निर्मित है जो केण्ट रेलवे स्टेशन के समीप स्थित है परन्तु वाराणसी नगर के आठ किलोमीटर उ.पू. दिशा में स्थित सारनाथ उपनगर मात्र भारत ही नहीं अपितु सारे विश्व में प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ के रूप में विख्यात है।

वाराणसी और सारनाथ दोनों ही एक दूसरे के पूरक और अभिन्न हैं। विद्वानों ने तो सारनाथ को **"बौद्धों की काशी"** की संज्ञा से विभूषित किया है। भारत के चार प्रसिद्ध बौद्ध-तीर्थ स्थलों में सारनाथ को सर्वाधिक ख्याति प्राप्त है। बौद्ध सम्प्रदाय के जनक महात्मा बुद्ध ने यहीं अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया था। सारनाथ स्थित संग्रहालयों में उत्कृष्ट वास्तुकलाओं का आश्चर्यजनक संग्रह है। इसके मुख्य हॉल के मध्य में प्रसिद्ध अशोक स्तम्भ का शीर्ष, जो स्वतंत्र भारत का राष्ट्रिय चिह्न भी है, स्थित है। अनेक प्रकार की मुद्राओं में बुद्ध की मूर्तियाँ तथा अन्य प्रकार के शिल्प जो मुख्यतः गुप्तकाल से सम्बन्धित हैं, संग्रहालय की अमूल्य निधि है।

---

1. शुक्ल, पं. कुबेरनाथ, वाराणसी-वैभव, अ. 5, पृ. 102
2. Mutihar, K.A. – Smiling Benaras, p. 97
3. दूबे, जगदीश नारायण - काशी रहस्य, पृ. 25

बौद्ध काल में विहारों के केन्द्रीय स्थान में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की जाती थी। ब्राह्मण मत में भी ऐसी गुफाएँ तैयार की गई, जिनमें हिन्दू देवता, की मूर्ति स्थापित है। प्रारम्भ में चैत्य के आधारपर ही गर्भगृह का नामकरण भी विहार में स्थित प्रतिमा-स्थान में मन्दिर और गर्भगृह को क्रमश: **चैत्य और धातुगर्भ** की संज्ञा प्राप्त थी।

हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के सदृश वाराणसी का जैन धर्म से भी पवित्र गठबन्धन है। काशी हिन्दुओं की भाँति जैनियों का भी प्रमुख तीर्थस्थल है। **तीर्थंकर** या **जिन** जैन धर्म के सर्वोच्च उपास्य देव हैं, जिनकी कुल संख्या 24 बतायी जाती है।[1] काशी को सातवें (सुपार्श्वनाथ), आठवें (चन्द्रप्रभु), ग्यारहवें (श्रेयांसनाथ) व तेइसवें (पार्श्वनाथ जी) तीर्थंकरों की जन्मस्थली भी कहा जाता है।[2] यही कारण है कि काशी में अनेक जैन मन्दिर एवं धर्मशालाएँ निर्मित हैं।

जैन परम्परा में प्राचीनकाल से ही काशी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन परम्परा में पार्श्वनाथ के आठ गण और आठ ही गणधर भी माने गये हैं।[3] किन्तु मोतीचन्द्र ने अपने ग्रन्थ **"काशी के इतिहास"** में केवल चार गण और गणधरों का उल्लेख किया है।[4] पारम्परिक मान्यताओं के अनुसार सुपार्श्वनाथ का जन्म असि के समीप भदैनी मुहल्ले में, पार्श्वनाथ का जन्म भेलुपुर मुहल्ले में, चन्द्रप्रभु का चन्दपुरी में एवं श्रेयांसनाथ का श्रेयांसपुरी सारनाथ में माना गया है।[5] मन्दिरों का वर्णन निम्नवत् है–

(i) सुपार्श्वनाथ मन्दिर

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के जन्म स्थल पर निर्मित यह मन्दिर भदैनी में माँ आनन्दमयी आश्रम के पास गंगा के तट पर स्थित है। इसे **स्यादवाद जैन मन्दिर** के नाम से भी जाना जाता है। मन्दिर में सुपार्श्वनाथ की श्वेत पाषाण की मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यहाँ जैन धर्मानुयायियों की भीड़ बनी रहती है। मन्दिर की व्यवस्था आनन्ददायी है। मन्दिर में मण्डप के साथ-साथ समस्त प्रांगण कुछ दिनों पूर्व ही वास्तु सम्मत परिवर्तित किया गया है।

(ii) श्रेयांसनाथ मन्दिर

वाराणसी नगर के उपनगर सारनाथ में ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के जन्म स्थल पर स्थित यह मन्दिर एक **शिखरविहीन मन्दिर** है। इसमें श्रेयांसनाथ की मूर्ति स्थापित है। यहाँ एक विशाल धर्मशाला भी है। यह राजकीय पुरातत्व संग्रहालय और बुद्धमन्दिर के मध्य में स्थित है। इसे **जैन**

---

1. वाराणसी और जैन धर्म, प्रज्ञा, अंक 18, भाग-2, मार्च, 1973
2. जैन, जगदीशचन्द्र - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 493
3. क.सू., 156
4. मोती चन्द्र - काशी का इतिहास, पृ. 38
5. "काशी की जैनकला" उ.प्र. पत्रिका, काशी अंक, द्वितीय खण्ड, 1986, पृ. 21-24

दिगम्बर मन्दिर के नाम से भी जाना जाता है। साक्षात्कार से पता चला कि इनका जन्म राजा विष्णु की पत्नी रानी रेणू देवी से हुआ था। इस मन्दिर की स्थापना की तिथि दिन व नक्षत्र सभी वास्तु शास्त्रानुसार बतलाये जाते हैं। मुख्य प्रवेश द्वार पर दोनों तरफ द्वारपाल अर्द्धनग्न अवस्था में हाथ में भाले लिए कानों में कुण्डलादि सहित कई प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित हैं।

(iii) पार्श्वनाथ जैन मन्दिर

जैन धर्म के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों **दिगम्बर** और **श्वेताम्बरों** के साहित्य में यह मान्य है कि **तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ** की जन्म नगरी काशी है। आज से लगभग 2855 वर्ष पूर्व नागवंशीय राजा अश्वसेन की पत्नी रानी वामा देवी से पार्श्वनाथ का जन्म भेलूपुरा में हुआ था। भेलूपुर चौराहे से सिगरा जाने वाले मार्ग पर मात्र 15-20 मीटर की दूरी पर सड़क के वाम हस्त भाग में स्थित यह मन्दिर पार्श्वनाथ के जन्म स्थल पर निर्मित है। इस मन्दिर की प्रतिमाएँ तो लगभग 2500 वर्ष पूर्व की हैं, जो आज भी अत्यधिक अद्‌भुत दिखाई पड़ती हैं। ऐसी मान्यता है कि मुगल आक्रमण के समय जैन श्रावकों ने इन प्रतिमाओं को भूमिगत कर दिया था, किन्तु सम्राट जहाँगीर ने अवशिष्ट प्रतिमाओं के प्रभाव में आकर पुनः इसकी प्रतिष्ठा करायी थी। दादाबाड़ी की दीवारों में जड़ी जालियों और उनमें की गई पञ्चीकारी दीवारों पर लोगों का ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहती। जालियों में उत्कीर्ण नौ पद मण्डल, छत्र चामर सहित भगवान पार्श्वनाथ का उपसर्ग वर्णन **तात्कालिक स्थानीय कला** की उत्कृष्टता का द्योतक है।

स्थापत्य एवं वास्तुकला की दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण **जैन मन्दिर** रामघाट पर अवस्थित है, जिसे **बड़ा मन्दिर** के नाम से जाना जाता है। इसकी प्रतिमाएँ अपने ढंग की अनोखी हैं। इस मन्दिर के समीप ही जैनियों का सबसे प्रसिद्ध मठ भी निर्मित है। काशी में जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित जैन भवन, पार्श्वनाथ विद्यालय तथा पार्श्वनाथ रिसर्च इंस्टीट्यूट नामक संस्थाएँ भी हैं, जिनकी वास्तुकला दर्शनीय है। काशी विद्यापीठ मार्ग पर एक विशालकाय केवल्य मन्दिर अवस्थित है, जो किसी भी सम्प्रदाय के लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र बिन्दु प्रतीत होता है।

श्वेताम्बर और **दिगम्बर जैन मन्दिर** जो क्रमशः वच्छराजघाट और जैनघाट पर प्राप्त होते हैं, वे 18वीं शताब्दी के ज्ञात होते हैं। **श्वेताम्बर मन्दिर** 1825 ई. और **दिगम्बर मन्दिर** 1855 ई. में स्थापित हुए हैं। दोनों ही मन्दिर अंगशिखर एवं उरुशृङ्गों से युक्त हैं। इनका शिखर **नागरशैली** में निर्मित हुआ है। मन्दिरों में गर्भगृह और मण्डप भी वास्तु शास्त्रनुरूप प्राप्त होते हैं। काशी में प्राप्त **बुद्ध** और **जैन** मन्दिर मुख्यतः 9वीं शती ई. तदुपरान्त 13वीं714वीं शर्ती ई. के मध्य स्थापित किये गये हैं। बुद्ध की प्रतिमा को पद्मासीन और भूस्पर्श मुद्रा में दिखलाया गया है। जैन मूर्तियाँ कायोत्सर्गमुद्रा में प्राप्त होती हैं।

विश्व की प्राचीन नगरियों में काशी ही एकमात्र ऐसी नगरी है जहाँ की धार्मिक सांस्कृतिक चेतना और गतिविधियाँ प्राचीनकाल से आज तक जीवन्त और गतिमान हैं। ऐसी मान्यता है कि

काशी शिव के त्रिशूल पर स्थित है। शिव की नगरी होने के कारण यहाँ की **स्थापत्य** और **वास्तुकला** अद्वितीय है। एक अमेरिकन लेखक मार्क ट्वेन की उक्ति है कि "Benares is older than history, older than tradition, older even than legent and looks twice as ols as all of them put together."

काशी में घाटों पर छोटे-बड़े आकार के असंख्य मन्दिर हैं, जिनमें विभिन्न **क्षेत्रीय स्थापत्य शैलियों** के दर्शन होते हैं। **शैव सम्प्रदाय** के मन्दिरों के गर्भ गृह में विभिन्न रूप योजना वाले शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित हैं। **शाक्त सम्प्रदाय** के मुख्य मन्दिरों में दुर्गा-कुण्ड स्थित दुर्गा मन्दिर की वास्तु तो अतुलनीय है। ऐसी मान्यता है कि उस मन्दिर में प्रतिष्ठित देवी की प्रतिमा स्वयं ही उत्पन्न हुई है। उसका कोई निर्माता नहीं है।

आधुनिक काल के जितने भी मन्दिर बने हैं या बन रहे हैं उन सभी में वास्तु शास्त्र के अनुरूप कार्य किये जा रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण **वैष्णव सम्प्रदाय** का तुलसी मानस मन्दिर है। काशी में **निरन्धार** और **सान्धार** दोनों ही प्रकार के मन्दिर प्राप्त होते हैं। कुछ मन्दिरों में तो प्रदक्षिणा पथ मन्दिर के बाहर बनाये गये हैं यथा- संकटमोचन मन्दिर, दुर्गा-कुण्ड स्थित दुर्गा मन्दिर आदि। इस समय विश्वनाथ मन्दिर के समीप स्थित ताड़केश्वर मन्दिर में कई वास्तुसम्मत परिवर्तन किये जा रहे हैं। बड़े-बड़े वास्तुविद् और शिल्पकार उचित परिवर्तन करने की दिशा में अग्रसर हैं।

काशी के सर्वप्रमुख मन्दिर विश्वनाथ मन्दिर के **दक्षिणमुखी** प्रवेश द्वार को मन्दिर-वास्तु की दृष्टि से ठीक नहीं माना गया है। अतः उससे लगे हुए ताड़केश्वर मन्दिर में प्रवेश द्वार मुख्यतः उत्तर-पूर्व दिशा में किया जा रहा है। चूँकि नया निर्माण विश्वनाथ मन्दिर का ही विस्तार है, इसलिए इससे विश्वनाथ मन्दिर का वास्तुदोष भी दूर हो जाएगा। इस दोष के कारण मन्दिर की ऐश्वर्य वृद्धि बाधित है, ऐसी मान्यता है। जीणोद्धार के बाद विश्वनाथ मन्दिर परिसर का विस्तार 2700 वर्ग फीट से बढ़कर 8000 वर्ग फीट हो जाएगा।

नवनिर्मित ताड़केश्वर मन्दिर में भगवान शिव की लीलाओं का अंकन भित्तियों पर सजीव प्रतिकृति का रूपायित किया जाना है। जिसमें सती-प्रसङ्ग, एकाकी शिव एवं पार्वती-प्रणय से लेकर शिव-विवाह आदि सभी धार्मिक मान्यताओं को शास्त्र-अनुमोदित विधाओं के अनुसार चित्रित किया जाएगा। फलस्वरूप दर्शकों एवं भक्तों को साक्षात् ऐसा भान होगा मानो ग्राहस्थ्य का युक्तियुक्त स्वरूप कैलाश की तपोभूमि नहीं काशी का माधुर्य प्रासाद है- इसी भाव से भगवान शिव-पार्वती काशी में सदैव विराजते हैं।

ताड़केश्वर मन्दिर के नये पूजा मंडप के उत्तर और दक्षिण में 17 मी. लम्बाई व क्रमशः 2. 25 मी. और 3.30 मी. चौड़ाई के दो बरामदे बनाये जा रहे हैं। इनकी दीवारों पर संगमरमर के चौकोर पत्थरों पर शिव चरित्र से जुड़ी गाथाएँ उकेरी जायेंगी। क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र के प्रभारी डॉ. लवकुश द्विवेदी के अनुसार भित्ति चित्रों में शिव काशी और गंगा के समन्वित स्वरूप

अभिव्यक्त होंगे। सम्पूर्ण कथाक्रम तीन सोपान में होगा। पहले सोपान में काशी आगमन से पूर्व कैलाश पर्वत पर शिव-लीला प्रसंग, शिव विवाह, सती प्रसंग व शक्ति पीठों की स्थापना दिखेंगे। दूसरे सोपान में शिव का काशी आगमन, शिव-पार्वती संवाद, पंचनद तीर्थ, भगीरथ की तपस्या, गंगा-अवतरण होगा तो तीसरे सोपान में काशी माहात्म्य, शिव व राजा दिवोदास से जुड़ी कथाएँ, शिव का काशी छोड़ना, शिव के काशीवास के अनुक्रम में विष्णु गणेश आदि देवताओं के उपक्रम आदि कथाएँ दर्शायी जाएँगी।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि काशी के मन्दिरों में उत्कृष्ट वास्तुकला और स्थापत्यकला का समावेश किया गया है। शोधकार्य के क्रम में ज्ञात हुआ कि कुछ मन्दिरों में जो वास्तुसम्मत नहीं थे, उनमें वास्तुशास्त्र अनुरूप निर्माण कार्य कराये जा रहे हैं, और कुछ की योजनाएँ बनाई जा रही हैं। अधिकांश मन्दिर वास्तु शास्त्रानुकूल ही प्राप्त होते हैं।

वास्तुशास्त्रसम्मत प्रतिमा-विज्ञान

डॉ. सर्वेन्द्र कुमार

प्रतिमा का अर्थ - प्रतिमा का शाब्दिक अर्थ 'प्रतिरूप' होता है अर्थात् - समान आकृति। पाणिनि ने भी अपने सूत्र 'इवप्रतिकृतौ'[1] में समरूप आकृति के लिए प्रतिकृति शब्द का प्रयोग किया है। प्रतिमा विज्ञान के लिए अंग्रेजी में Iconography शब्द प्रयुक्त होता है। Icon शब्द का तात्पर्य उस देवता अथवा ऋषि के रूप है जो कला में चित्रित किया जाता है। ग्रीक भाषा में इसके लिए 'इकन' (Eiken) शब्द प्रयोग हुआ है। इसी अर्थ से समानता रखते हुए 'भारतीय अर्चा', 'विग्रह', 'तनु', तथा 'रूप' शब्द हैं। ऋग्वेद[2] में भी प्रतिमा के लिए 'अर्चा' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रतिमा का प्रयोग वस्तुतः उन्हीं मूर्तियों के लिए किया जाता है जो किसी धर्म से सम्बन्धित होती हैं। इन्हीं के माध्यम से भक्त एवं उपासक अपने भक्तिपूर्ण उद्गार अपने आराध्य देव को समर्पित करता है।

मन्दिर हो या महल, स्तम्भ हो या मन्दिर की थर, शिखर तथा तोरणद्वार सभी में कुछ न कुछ तराशा जाता है। शिल्प में जो भावना और कल्पना है, वही मूर्तिकला है।[3] मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में प्राप्त अवशेषों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में देवों के विविध अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूपों एवं आकारों का प्रसार नहीं हुआ था। भारत में प्रतिमा पूजा के उत्पत्ति बहुत प्राचीन समय से देखी जा सकती है। डॉ० शुक्ल[4] ने भारतीय प्रतिमाओं का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है - ब्राह्मण प्रतिमाएँ, बौद्ध प्रतिमाएँ, जैन प्रतिमाएँ। राव[5] ने ब्राह्मण प्रतिमाओं को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया है- चल और अचल प्रतिमाएं, पूर्ण और अपूर्ण प्रतिमाएं, शान्त और अशान्त प्रतिमाएं। चल प्रतिमाओं के निर्माण में ऐसे द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, जो हल्के हों, इनमें धातु-स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि होता है तथा ये प्रतिमाएं अपेक्षाकृत छोटी होती हैं। अचल प्रतिमाओं के

---

1. पाणिनि अष्टाध्यायी, 5/3/96, Vol. 2, पृ० 378
2. ऋग्वेद, 7/9/19
3. राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 151
4. भ्णारतीय वास्तुकला, पृ० 194
5. Elements of Hindu Iconography, Vol. I, p. 17

निर्माण में पाषाण-प्रयोग स्वाभाविक है और वे बड़ी लम्बी और विशाल होती हैं। चल और अचल प्रतिमाओं में पुनः भेद किया गया है।[1]

1.1 चल प्रतिमाएँ -

- ❖ कौतुक वेर पूजार्थ।
- ❖ उत्सव वेर उत्सवार्थ-पर्व विशेष पर बाहर ले जाने के लिए।
- ❖ बलि वेर दैविक उपचारात्मक पूजा में उपहारार्थ।
- ❖ स्नपन वेर स्नानार्थ।

1.2 अचल प्रतिमाएँ - अचल प्रतिमाएँ गर्भगृह में स्थापित की जाती हैं, सदैव यथा - स्थान स्थापित एवं प्रतिष्ठित रहती हैं। इनके निम्न भेद हैं -

- ❖ स्थानक खड़ी हुईं।
- ❖ आसन बैठी हुईं।
- ❖ शयन विश्राम करती हुईं।[2]

केवल वैष्णव प्रतिमाएँ ही इन मुद्राओं में विभाजित की जा सकती है, अन्य देवों की नहीं। शयन देह मुद्रा विष्णु को छोड़कर अन्य किसी देव के लिए परिकल्पित नहीं की जा सकती।

सामान्यरूप से मूर्ति को उसके वाहन, आयुध, मुद्रा, अलंकरण और भुजाओं की संख्या से पहचाना जाता है।[3]

1.3 वाहन या आसन वस्तु - जिस वस्तु या वाहन पर किसी आकृति को बैठा या खड़ा दिखाया जाता है, उसे आसन या वस्तु कहते हैं। भारतीय मूर्तियाँ चौकी, सिंहासन, चटाई, गज, मृग, अथवा व्याघ्र, चर्म, कमल, शिक्षा, पद्मपत्र, सुमेरु, पशु (हाथी, सिंह, अश्व, वृषभ, महिष, मृग, मेढ़ा, शूकर, गधा, शार्दूल आदि) पक्षी - (मयूर हंस, उल्लूक, गरुड़ आदि) जलचर - (मकर, मीन, कच्छप आदि) इत्यादि पर बैठी या खड़ी दिखायी जाती हैं।[4]

1.4 आयुध - प्रतिमाओं के गुण अथवा शक्ति प्रदर्शित करने के लिए उनके हाथों का उपयोग किया गया है तथा हाथों की संख्या भी बढ़ाई गयी है। इन हाथों में जो वस्तुएँ दिखाते हैं

---

1. भारतीय वास्तुकला, पृ० 195
2. Elements of Hindu Iconography, Vol. I, p. 17
3. Elements of Hindu Iconography, Vol. I, p. 17
4. भारतीय मूर्तिकला, पृ० 88

वे किसी शक्ति, क्रिया या गुण की प्रतीक होती हैं। शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों के अनुसार देवताओं के 36 आयुध हैं, यथा चक्र, त्रिशुल, वज्र, धनुष, कृपाण, गदा, अङ्कुश, बाण, छुरी, दण्ड, शक्ति, (नोंकदार तलवार) मूसल, परशु (फरसा), भाला (कुन्त), रिष्टिका (कटार), खट्वांग (मूठदार डण्डा), भुशुण्डी (छोटा नोंकदार डण्डा), कर्तिका (कैंची), कपाल, सूची (सूजा), खेट (ढाल), पाश (फंदा), सर्प, हल, मुग्दर, शङ्ख,शृंग (बजाने वाला), घण्टा, शत्रु का सिर, खोपड़ी, माला, पुस्तक, कमण्डल, कमल, पानपत्र, योगमुद्रा।[1]

1.5 मुद्रा – मूर्तियाँ आसन, शयन और स्थान तीन प्रकार की बनायी जाती हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में योग, भोग, वीरा और अभिचारिका मुद्रा में भी प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं।[2] अधिकतर खड़ी हुई मूर्तियों की मुख्य मुद्राएँ होती हैं –

- ❖ समपाद दोनों पैर बराबर मिलाकर खड़े हुए।
- ❖ अभङ्ग कुछ तिरछे खड़े हुए।
- ❖ त्रिभङ्ग मस्तक, कमर, और पैर तीनों में तिरछापन।
- ❖ अतिभङ्ग जिसमें शरीर के सभी अवयवों में तिरछापन हो।

इनके अतिरिक्त भी कई और मुद्राएँ हैं जो विशेष मूर्तियों में प्रयुक्त होती हैं, जैसे वराह की मुद्रा को **'आलिङ्य'** मुद्रा कहते हैं। इसमें बाँया पैर उठा हुआ, कटि कुछ तिरछी, सिर उठा हुआ, दाहिना नीचा हाथ अभय मुद्रा में होता है।[3]

देवताओं से सम्बन्धित हस्तमुद्राएँ भी प्रमुख हैं –

- ❖ अभय दाहिनी हाथ की खुली हथेली उठाए हुए।
- ❖ वरद दाहिने हाथ की खुली हथेली नीचे किए हुए।
- ❖ ध्यान मुद्रा दोनों हथेलियों को गोदी में रखे हुए।
- ❖ ज्ञान-मुद्रा उठी हुई दाहिनी हथेली में तर्जनी और अंगूठा मिलाए हुए।

बैठने के आसन भी अनेक हैं। सबसे महत्वपूर्ण आसन पद्मासन माना गया है। इसमें सीध बैठकर दाँये पैर को बाँयी जङ्घा पर और बाँये पैर को दाहिनी जङ्घा पर इस प्रकार दृढ़ता से जमाकर रखते हैं कि पैर की एड़ियाँ कमर को दबाती हैं।[4] देवताओं को मनुष्यों से उच्च श्रेणी का

1. भारतीय वास्तुकला, पृ० 232
2. भारतीय वास्तुकला, पृ० 229
3. Elements of Hindu Iconography, Vol. I, p. 17
4. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 25

माना गया है इसलिए उनके अनेक सिर और हाथ भी हो सकते हैं। ब्रह्मा को सदैव चतुर्मुख ही दिखाया जाता है। शिव को भी कई स्थानों पर पञ्चानन दिखाया जाता है। त्रिमूर्ति में तो हमेशा ब्रह्मा, विष्णु, और महेश के मुख एक साथ ही दिखाये जाते हैं। देवताओं की हाथों की संख्या में भी भेद होता है। ब्रह्मा और विष्णु अधिकतर चतुर्भुज दिखाए जाते हैं। दुर्गा को अष्टभुजी रूप में प्रदर्शित किया जाता है। मुख-भेद में वराहदेव को शूकर के मुख, हयग्रीव देव को घोड़े के मुख और गणेश का मुख, हाथी के सिर के समान आकृति वाला दिखाया जाता है।[1]

1.6 आभूषण एवं वस्त्र - देवताओं की पहचान उनके आभूषणों एवं वस्त्रों के द्वारा भी की जा सकती है। हिन्दू-स्थापत्य में प्रतिमाओं को विविध आभूषणों एवं वस्त्रों से भी सुशोभित करने की परम्परा है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में उल्लेख किया है -

देशानुरूपभूषणवेषालङ्कारमूर्तिभिः कार्या।
प्रतिमा लक्षणयुक्ता सन्निहिता वृद्धिदा भवति।।[2]

देश-काल के अनुसार समाज में आभूषणों एवं वस्त्रों की जो मनुष्यों एवं स्त्रियों में भूषा-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, उन्हीं के अनुरूप देवों की मूर्तियों में भी उनकी परिकलपना की जाने लगी। देववाद में भी वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों के मर्म छिपे हैं, ब्रह्मा-ब्रह्मचारी के रूप में, शिव-सन्यासी के रूप में, विष्णु-राजा के रूप में स्कन्द-सेनानी के रूप में परिकल्पित किए गए हैं।[3]

1.7 देवताओं की मूर्तियाँ - हिन्दूओं में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ ज्यादातर दो सम्प्रदायों की होती है। वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय। इनके अतिरिक्त गणेश, देवी आदि को मानने वाले सम्प्रदायों के देवी-देवताओं की भी प्रतिमाएँ होती हैं। हिन्दुओं द्वारा देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ न केवल मन्दिर और सार्वजनिक स्थानों में, अपितु घर में भी पूजी जाती हैं। प्रत्येक हिन्दू अपने घर में स्वयं के इष्ट देवता और कुलदेवी की प्रतिमा रखता है और विशेष उत्सवों पर सपरिवार उनकी पूजा करता है।[4]

प्रासादमण्डन में देवस्थापना के विषय में कहा गया है कि गणेश, भैरव, चण्डी, नवग्रह, मातृदेवता और कुबेर इन देवों को दक्षिणाभिमुख स्थापित करना चाहिए। इसीप्रकार वारनेश्वर हनुमान जी का मुख नैर्ऋत्य दिशाभिमुख रखना चाहिए। अन्य किसी देवता का मुख इस दिशा में नहीं रखना चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, इन्द्र और कार्तिकेय ये देव पूर्व और पश्चिम मुख वाले होते हैं,

---

1. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 27
2. बृहत्संहिता - अध्याय-58, श्लोक-29, पृ० 686
3. भारतीय वास्तुकला, पृ० 235
4. Elements of Hindu Iconography, p. 8-9

इन्हें दक्षिण तथा उत्तर दिशाभिमुख स्थापित नहीं करना चाहिए।[1] शिवलिङ्ग के सम्मुख कोई भी देव पूजन के रूप में स्थापित नहीं करना चाहिए क्योंकि जैसे सूर्य के तेज से तारों की प्रभा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार दूसरे देवों की प्रभा नष्ट हो जाती है। इसलिए वे देव भोगादि सुख-सम्पत्ति नहीं दे सकते। शिव के सामने शिव, ब्रह्मा के सामने ब्रह्मा, विष्णु के सामने विष्णु, जिनदेव के सम्मुख जिनदेव और सूर्य के सामने सूर्य इस प्रकार आपसे में सजातीय देव स्थापित किये जा सकते हैं। इसी प्रकार चण्डिका आदि देवी के सम्मुख मातृदेवता, यक्ष, क्षेत्रपाल, और भैरव आदि देव स्थापित किए जा सकते हैं। ब्रह्मा तथा विष्णु के देवालय आपस में सम्मुख हों, तो दोष नहीं होता, किन्तु शिव के सामने, दूसरे देव का दृष्टिवेध होता है तो यह दोष कारक है। इस दोष का परिहार उस स्थिति में होता है, यदि शिवालय और अन्य देवों के देवालय इन दोनों के मध्य प्रसिद्ध राजमार्ग हो अथवा दीवार हो।[2]

प्रासाद का जल-निकास किस दिशा में होना चाहिए, इसके विषय में 'प्रासादमण्डन'[3] में बताया गया है कि पूर्व और पश्चिम दिशा के द्वार वाले प्रासाद की नाली उत्तर दिशा में रखना शुभ है, उत्तर और दक्षिणाभिमुख प्रासाद की नाली पूर्व दिशा में रखनी चाहिए। जिन देव के प्रासाद दक्षिण और उत्तर-दिशा के द्वार वाले भी बनाए जाते हैं, इनकी नाली, यदि प्रासाद दक्षिणाभिमुख

1. पूर्वपारास्य देवानां कुर्यान्नो दक्षिणोत्तरम्।
ब्रह्मविष्णुशिवार्केन्द्र-गुहाः पूर्वपराङ्मुखाः।।
नगराभिमुखाः श्रेष्ठा मध्ये बाह्ये च देवताः।
गणेशो धनदो लक्ष्मीः पुरद्वारे सुखावहाः।।
विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशोग्रहास्तथा।
मातरो धनदश्चैव शुभा दक्षिणादिङ्मुखाः।।
नैर्ऋत्याभिमुखः कार्यो हनुमान वानरेश्वरः।
अन्ये विदिङ्मुखा देवा न कर्त्तव्याः कदाचन।। प्रासादमण्डन, अध्याय-2, श्लोक-37-40, पृ॰ 36-37
2. लिङ्गाग्रे तु न कर्त्तव्या अर्चारूपेण देवताः।
प्रभानष्ट न भोगाय यथा तारा दिवाकरे।।
शिवास्याग्रे शिवं कुर्याद् ब्रह्माणं ब्रह्मणोऽग्रतः।
विष्णोरग्रे भवेद् विष्णु-र्जिने जिनो रवौ रविः।।
ब्रह्मविष्णुरेका नाभिर्द्वाभ्यां दोषो न विद्यते।
शिवस्याग्रेऽन्यदेवस्य दृष्टष्टिवेधे महद्भयम्।।
प्रसिद्धराजमार्गस्य प्राकारस्यान्तरेऽपि वा।
स्थापयेदन्यदेवांश्च तत्र दोषो न विद्यते।। प्रासादमण्डन, अध्याय-2, श्लोक-28-31, पृ॰ 33-34
3. पूर्वापरमुखे द्वारे प्रणालं शुभमुत्तरे।
इति शास्त्रविचारोऽयमुत्तरास्या न देवताः।।
मण्डपे ये स्थिता देवा स्तेषां वामे च दक्षिणे।
प्रणालं कारयेद् धीमान् जगत्यांच च चतुर्दिशम्।। वही, श्लोक-35-36, पृ॰ 35-36

है तो बांयी ओर तथा उत्तराभिमुख है तो दाहिनी ओर बनानी चाहिए। इसी प्रकार मण्डप में जो देव स्थित है, उनमें मूलनायक के बांयी तरफ के देवों की नाली बांयी ओर तथा दाहिनी तरफ के देवों की नाली दाहिनी ओर बनाना शुभ है।

'प्रासादमण्डन' में देवों के आयतन (मन्दिर) के विषय में बताया गया है कि सूर्य के पञ्चायतन देवों में बीच में सूर्य उसके प्रदक्षिणा क्रम से गणेश, विष्णु, चण्डीदेवी और महादेव शिव को स्थापित करना चाहिए। साथ ही नवग्रह और 12 गणों की मूर्तियां भी स्थापित करनी चाहिए। विष्णु के पञ्चायतन देवों में बीच में विष्णु को स्थापित करके उसके प्रदक्षिणा क्रम से गणेश, सूर्य, अम्बिका और शिव को स्थापित करना चाहिए। साथ ही गोपियों की तथा अवतारों की मूर्तियां एवं द्वारिका नगरी को स्थापित करना चाहिए। चण्डीदेवी के पञ्चायतन देवों में मध्य में चण्डीदेवी की स्थापना करके, उसके प्रदक्षिणा क्रम से महादेव, गणेश, सूर्य व विष्णु को स्थापित करना चाहिए। साथ ही मातृदेवी, चौंसठयोगिनी आदि देवियां और भैरव आदि देवों की मूर्तियां भी स्थापित करनी चाहिए। शिव के पञ्चायतन देवों में मध्य में शिव उसके प्रदक्षिणा क्रम से सूर्य, गणेश चण्डी एवं विष्णु को स्थापित करना चाहिए। इनकी स्थापना में दृष्टिवेध अवश्य छोड़ना चाहिए।[1]

1.7.1 गणेश – गणेश ओंकार के प्रतीक हैं। आयुध भेद से गणेश के कई नाम एवं कई रूप प्रचलित हैं। 'रूपमण्डन' में गणेश के दो ओर हेरम्ब और वक्रतुण्ड का मूर्तिविधान बतलाया गया है। गणेश का वाहन मूषक है जो धर्म का प्रतीक है। गणेश सामान्यतया चतुर्भुज हैं। गणेश की प्रतिमा का सामान्य विधान 'रूपमण्डन' के अनुसार यह है कि वे मूषिकारूढ़ हैं और उनके चारों हाथों में दन्त, परशु, पद्म, एवं मोदक है। वे गजानन, एकदन्त और द्विनेत्र हैं। 'रूपमण्डन' के अनुसार हेरम्ब एवं वक्रतुण्ड की प्रतिमाएँ त्रिनेत्र बनानी चाहिए। वक्रतुण्ड चतुर्भुज हैं उनके दो हाथों में पाश तथा अङ्कुश है एवं शेष दो हाथों में एक वरद और दूसरा अभयमुद्रा में है। वक्रतुण्ड की प्रतिमा लम्बोदर होती है, जिसे बृहत् कर्ण और चामर सहित बनाने का विधान भी 'रूपमण्डन' में बतलाया गया है।[2]

---

1. सूर्याद् गणेशो विष्णुश्च चण्डी शम्भुः प्रदक्षिणे।
   भानोगष्टहे ग्रहास्तस्य गणा द्वादश मूर्त्तयः।।
   गणेशस्य गृहे तद्वच्चण्डी शम्भुर्हरी रविः।
   मूर्त्तयो द्वादशान्येऽपि गणाः स्थाप्या हिताश्च ये।।
   विष्णोः प्रदक्षिणेनैव गणेशार्काम्बिकाशिवाः।
   गोप्यस्तस्यावतारस्य मूर्त्तयो द्वारिकां तथा।
   चण्ड्याः शम्भुर्गणेशोऽर्को विष्णुः स्थाप्यः प्रदक्षिणे।
   मातरो मूर्त्तयो देव्या योगिन्यो भैरवादयः।।
   शम्भोः सूर्यो गणेशश्च चण्डी विष्णुः प्रदक्षिणे।
   स्थाप्याः सर्वे शिवस्थाने दृष्टिवेधविवर्जिताः।। प्रासादमण्डन, अ०-2, श्लोक-41-45, पृ० 37-38
2. रूपमण्डन, अध्याय-5, श्लोक-15-18, पृ० 187-88

हेरम्ब की प्रतिमा, गणेश के अन्य प्रतिमा भेदों में विशिष्ट है। हेरम्ब पञ्चमुख एवं अष्टभुज हैं। इनके दाहिने हाथों में एक हाथ वरद एवं दूसरा अभयमुद्रा में होता है। शेष दाहिने हाथों के आयुध अङ्कुश एवं दन्त हैं। बायें हाथों के विधान में 'रूपमण्डन' में कहा गया है - **वामे कपालं वाणाक्षं पाश कौमोदकीं तथा**[1]

1.7.2 कार्तिकेय - गणेश शिवगणों के नेता हैं और कार्तिकेय देवसेना के सेनानी। उत्तर भारत में गणेश की पूजा का जो महत्व और प्रचार-प्रसार है वही कार्तिकेय का दक्षिण भारत में । कुमार या कार्तिकेय का सामान्य लक्षण शिखी और शक्ति है। बृहत्संहिता के अनुसार - **स्कन्दः कुमाररूपः शक्तिधरो बर्हिकेतुश्च।**[2]

'रूपमण्डन' के अनुसार खेट नगर में कार्तिकेय की प्रतिमा - द्वादशभुज, खर्वट में चतुर्भुज, वन अथवा ग्राम में द्विभुज बनानी चाहिए। द्वादशभुज कार्तिकेय के दाहिने हाथों में शक्ति, पाश, खड्ग, शर, त्रिशूल एवं एक हाथ या तो वरद या अभयमुद्रा में होता है। बाँये हाथों के आयुध ध नुष, पताका, मुष्टिक, वर्जनी, खेटक एवं ताम्र चूड़ है। दाहिनी भुजा पर केयूर का आभरण होना चाहिए। मयूर कार्तिकेय का वाहन है। चतुर्भुज कार्तिकेय के बांये हाथों के आयुध 'शक्ति' 'पाश' एवं दांये एक हाथ में असि और दूसरा वरद या अभयमुद्रा में होता है। चतुर्भुज कार्तिकेय उत्तरीय भी धारण करते हैं। द्विभुज कार्तिकेय के बांये हाथ में 'शक्ति' और दांये हाथ में 'कुक्कुट' होना चाहिए। इस प्रकार कार्तिकेय की शुभ्र मूर्ति बनानी चाहिए। यह सर्वकामप्रद है।[3]

1.7.3 क्षेत्रपाल एवं बटुक भैरव - क्षेत्रपाल एवं बटुक भैरव शिव के दो रूप हैं जो शाक्तोपसना में बहुत महत्व रखते हैं। दोनों ही रूपों में शिव का बालत्व प्रदर्शित किया जाता है। क्षेत्रपाल को नग्न एवं घण्टाभूषित बनाना चाहिए। इनके दाहिने हाथों के आयुध 'कर्तिका' और 'डमरू' तथा बांये हाथों के आयुध 'शूल' और कपाल बनाने चाहिए।

इनकी शिखा सर्प और मुण्ड समूह से गुथित तथा मुण्डमाला का उपवीत होना चाहिए।[4] बटुक भैरव सामान्यतया द्विभुज और चतुर्भुज माने गए हैं, किन्तु 'रूपमण्डन' में अष्टभुज बटुक भैरव की प्रतिमा का विधान बताया गया है। दाहिने चार हाथों में खट्वाङ्ग, असि, पाश एवं शूल हैं तथा बांये तीन हाथों में तो डमरू, कपाल और भुजङ्ग हैं एवं चौथा वरद मुद्रा में होता है। वाहन

---

1. रूपमण्डन, अध्याय-5, पद्य-16, पृ॰ 187
2. बृहत्संहिता, 57/41, पृ॰ 690
3. हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ॰ 309
4. क्षेत्रपालो विधातव्यो दिग्वासा घण्टभूषितः।
   कार्तिकां डमरूं विभ्रद्दक्षिणे तु करद्वये।।
   वामे शूलं कपालञ्च मुण्डमालोपवीतकम्।
   करोतिकटितोदार सर्पग्रन्थितशेखरः।। रूपमण्डन, अध्याय-5, श्लोक-74-75, पृ॰ 201

के रूप में इनके वर्ण का एक श्वान भी होना चाहिए।[1]

1.7.4 शक्ति या देवी - वैष्णव और शैव सम्प्रदाय के समान शाक्त सम्प्रदाय भी है, जिसमें परमेश्वर की शक्ति की पूजा की प्रधानता है। ये त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश के तेज के साकार रूप हैं। प्रधान शक्ति दुर्गा है, किन्तु त्रिदेव के तेजों के अनुसार तीन महाशक्तियाँ हैं - महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। ये क्रमशः सात्विक, राजसिक और तामसिक शक्तियों का चरम रूप हैं। महासरस्वती के चारों हाथ क्रमशः अक्षमाला, पुस्तक, अभयमुद्रा और पद्म से युक्त होने चाहिए। महालक्ष्मी के दूसरे और चौथे हाथों में पद्म तथा पहले और तीसरे हाथों में क्रमशः अक्षमाला, और पुस्तक होनी चाहिए। महाकाली के पहले तीन हाथ क्रमशः अक्षमाला, पद्म और पुस्तक से युक्त और अन्तिम हाथ अभयमुद्रा में प्रदर्शित होने चाहिए।[2]

दुर्गा शक्ति एवं शौर्य का प्रतीक है। आगम हमें दुर्गा के नौ रूपों से परिचित कराते हैं। राव[3] महोदय ने नवदुर्गा के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इनका रूप, आयुध और वाहन अलग-अलग है। सामान्यतः इनका वाहन सिंह या व्याघ्र है। किसी रूप में दो भुजा किसी में चार और किसी-किसी में आठ और दस भुजाएँ भी हैं। वे नवदुर्गा इस प्रकार हैं - शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री। उत्तर भारत में सभी मन्दिरों में जङ्घा स्थान में इनमें से कुछ रूपों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती है या अलग कुलिकाएँ बनाकर एवं उनमें स्थापित कर उनकी अलग पूजा का प्रबन्ध किया जाता है।[4]

1.7.5 पञ्चलीला - पञ्चलीला-लीलया, लीला, लीलाङ्गी एवं लीलावती हैं। 'लीला' का वर्णन नारायण अथवा वेणुवाद्य-धारी तथा मयूरपिच्छाभरण से भूषित हरि की शक्ति के समान हुआ है तथा उन्हें नारायण से अभिन्न बतलाया गया है। लीला मूर्तियों के विषय में सामान्यरूप से कहा गया है कि ये चतुर्मुखी, वर्ण तप्तकाञ्चन के समान, आभा, बालसूर्य के समान और मुख, रूप तथा नेत्र सुन्दर होने चाहिए। इन्हें हंस-वाहन से युक्त भी कहा गया है।[5]

1.7.6 सप्तमातृकाएँ - ब्राह्मण धर्म में सात-आठ या उससे अधिक मातृकाओं के सामूहिक पूजन का प्रावधान है। सामान्यरूप से सप्तमातृकाओं के अन्तर्गत-ब्राह्मी, माहेश्वरी,

---

1. खट्वाङ्गमसिपाशश्च शूलञ्च दधतः करैः।
   डमरूञ्च कपालञ्च वरदं भुजगं तथा।।
   आत्मवर्णसमोपेत सारमेयसमन्वितम्।
   ध्यात्वा जपेत् सुसंहृष्टः सर्वान् कामानवाप्नुयात्।। वही, श्लोक-76-77, पृ० 201
2. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 36
3. Elements of Hindu Iconography, Vol. I, Part II, p. 356
4. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 36
5. हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ० 188-189

कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी तथा चामुण्डा की गणना की जाती है। इन मातृकाओं के साथ वीरेश्वर (भैरव) तथा गणेश के चित्रण का भी विधान है। सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति का प्रसङ्ग रक्तबीज तथा शुम्भ-निशुम्भ वध से जुड़ा है।[1]

1.7.7 ब्रह्मा - ब्रह्मा की त्रिदेवों में गणना होने के कारण अन्य देवों के साथ या स्वतन्त्र रूप से इनकी मूर्तियाँ प्रत्येक मन्दिर में कहीं न कहीं स्थापित की जाती हैं। इनकी स्थानक तथा आसन, दोनों प्रकार की प्रतिमाएँ बनती हैं। ये 'पितामह' कहलाते हैं। इसीलिए इनको वृद्धरूप में दाढ़ी सहित प्रदर्शित किया जाता है। उनके चारों दिशाओं में चार सिर होते हैं, हाथ भी चार होते हैं। हाथों में वेद, कमण्डल धारण किये हैं। यद्यपि ये स्वयंभू कहे जाते हैं तथापि पुराणों में शेषशायी विष्णु की नाभि से निकले कमल के ऊपर बैठे हुए प्रदर्शित किये जाते हैं। ब्रह्मा की 4 प्रकार की मूर्तियाँ निर्दिष्ट की गयी हैं - कमलासन, विरञ्चि, पितामह तथा ब्रह्मा। इनमें कमलासन का कलि में, विरञ्चि का द्वापर में, पितामह का त्रेता में तथा ब्रह्मा का महत्व कृतयुग में है। ब्रह्मा के बाँये सावित्री एवं दक्षिण में सरस्वती की प्रतिमा स्थापित करने का विधान है।[2]

1.7.8 विष्णु - विष्णु तथा शिव की पूजा हिन्दू-धर्म में सर्वाधिक प्रचलित है। इनमें भी लक्ष्मीनारायण, विष्णु, शेषशायी, वेंकटेश्वर, वरदराज, श्रीरंगनाथ, विठोवा तथा अवतारों (राम, कृष्ण, वराह, नृसिंह, आदि के रूपों में) की पूजा-अर्चना सम्पूर्ण भारत में सर्वाधिक प्रचलित है। जब प्राचीन काल में भागवत धर्म अपने चरमोत्कर्ष पर था, तब विष्णु के रूप में उनकी चतुर्भुज रूप में पूजा होती थी। तदुपरान्त एक समय ऐसा आया जब उनके वराह रूप की पूजा बड़ी लोकप्रिय हो गयी। कुछ समय बाद उनका त्रिविक्रम तथा नृसिंह रूप भी बहुत प्रचलित था। बाद में उनके अवतार राम-कृष्ण के रूप में उनकी पूजा अर्चना लोकप्रिय हुई। विष्णु के विभिन्न रूपों के प्रतिमा लक्षणों को प्रतिमा विज्ञान विषयक अध्ययन की सहजता की दृष्टि से निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया गया है -

- अष्टबाहु हरि तथा जलशयन मूर्तियाँ।
- चतुर्विंशति मूर्तियाँ।
- अवतार मूर्तियाँ।
- चतुर्मुखी मूर्तियाँ - वैकुण्ठ, अनन्त, त्रैलोक्यमोहन तथा विश्वरूप।
- अन्य मूर्तियाँ - गरुड़ध्वज, गोवर्धन, जयन्त, धन्वन्तरि, सुषेण जगन्नाथ - शङ्खशारङ्गादिधारी विष्णु और दिक्पाल रूप विष्णु।

---

1. वही, पृ० 252
2. रूपमण्डन, भूमिका, पृ० 34-35

❖ गरुड़ तथा प्रतिहार मूर्तियाँ।[1]

सामान्यतया विष्णु मूर्तियाँ विष्णु के पर, व्यूह, एवं विभव रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं। विष्णु की मूर्ति चतुर्भुजी होती है। ऊपर के दोनों हाथों में शङ्ख व चक्र तथा नीचे के हाथों में गदा तथा कमल होते हैं। बाद में नीचे के हाथ वरद या अभय तथा कटि मुद्राओं में प्रदर्शित किये जाने लगे। विष्णु के आयुधों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म की ही मुख्य रूप से चर्चा है। राम-कृष्ण की मूर्तियाँ दो भुजा वाली होती हैं। राम का आयुध धनुष-बाण और कृष्ण का बांसुरी और लकुटी है। विष्णु संसार के पालनकर्ता हैं। इसलिए जब-जब साधु-सज्जनों पर भयंकर विपत्तियाँ आती हैं तब-तब उनकी रक्षा और अधर्म का नाश करने के लिए वे पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। इनके सबसे अधिक अंश वाले दो अवतार हुए हैं - राम और कृष्ण। राम का अवतार 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' अवतार था तथा कृष्ण का अवतार 'लीला-पुरुषोत्तम' अवतार था।[2]

विष्णु के आठ अवतार यथा - मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण ही प्रमुख हैं। कालान्तर में बुद्ध और कल्कि को इसमें शामिल कर लिया गया है। हिन्दू जनमानस इन्हीं दशावतारों को प्रमुखता देता है। विष्णु का वाहन गरुड़ है। वह मानवाकार है, किन्तु उसके दो पंख होते हैं। उसकी मूर्ति भगवान विष्णु की मूर्ति के सम्मुख उठी हुई पीठ पर या स्तम्भ के ऊपर निर्मित की जाती है। बाँया पैर थोड़ा टेढ़ा है तथा दूसरा पैर जानु से पीछे मुड़कर पृथ्वी पर स्थित है। इसी को गरुड़ासन कहते हैं।[3] विष्णु की पत्नी लक्ष्मी है, परन्तु किसी-किसी सम्प्रदाय में पृथ्वी को भी उनकी दूसरी पत्नी माना गया है। लक्ष्मी भी चतुर्मुखी हैं और वे कमलासनी हैं। वे विष्णु की शक्ति है तथा ऐश्वर्य की द्योतक हैं। विठोबा के रूप में लक्ष्मी का ही अवतार रुक्मिणी हैं। नारायण की मूर्ति के साथ सामान्यतः लक्ष्मी की मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है तथा तभी उसे पूर्ण माना जाता है। इस प्रकार की युग्म मूर्ति को 'लक्ष्मीनारायण' कहते हैं।[4] सामान्यतः विष्णु की पूजा इसी रूप में होती है।

राम की प्रतिमा अकेले स्थापित नहीं की जाती। वह या तो सीता के साथ या पञ्चायतन के रूप में होती है। जिस प्रकार विष्णु के मन्दिर में उनके वाहन तथा अनुचर के रूप में गरुड़ की प्रतिमा स्थापित की जाती है, उसी प्रकार राम मन्दिर में हनुमान की मूर्ति प्रतिष्ठापित की जाती है, किन्तु हनुमान के स्वतन्त्र मन्दिर भी निर्मित होते हैं, जबकि गरुड़ के पृथक् मन्दिर नहीं निर्मित

---

1. हिन्दू तथा जैन प्रतिमा-विज्ञान, पृ० 30-31
2. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 31
3. वामाग्रे कुञ्चितः पश्चादन्यपादस्तु जानुना।
   पष्टथिवीं संस्थितो यत्र गारुडं स्यात्तदासनम्।। रूपमण्डन, अध्याय-3, श्लोक-51, पृ० 146
4. लक्ष्मीनारायणो देवस्त्रिभिश्चक्रैर्व्यवस्थितः।
   पूजनीयः प्रयत्नेन भुक्तिमुक्तिफलप्रदः।। वही, श्लोक-43, पृ० 144

किये जाते हैं।[1]

विष्णु का इस प्रकार की मूर्तियों द्वारा पूजन व्यक्त पूजन है, परन्तु उनका अव्यक्त पूजन 'शालिग्राम' शिलाओं द्वारा भी किया जाता है। इनमें मुख के भीतर चक्र आदि के चिन्ह होते हैं। प्रायः इनके मन्दिर नहीं बनते। इनकी पूजा गृहस्थ-जन सामान्यतः घरों में ही करते हैं। इनका एकमात्र प्रसिद्ध मन्दिर जम्मू में है।[2]

1.7.9 शिव – प्राचीन काल से ही शिव की पूजा होती आयी है। इनकी पूजा भी व्यक्त और अव्यक्त दो रूपों में की जाती है, किन्तु शिव के अव्यक्त रूप की पूजा सामान्यतः मन्दिरों में होती है। शिव के व्यक्त रूप के पूजन में शिव की प्रतिमा का और अव्यक्त रूप में शिवलिङ्ग का पूजन होता है। विष्णु के व्यक्त पूजन के असंख्य मन्दिर हैं, किन्तु अव्यक्त पूजन के नहीं। इसके विपरीत शिव के अव्यक्त रूप के जितने मन्दिर हैं। उनकी अपेक्षा उनके व्यक्त रूप के मन्दिर कम हैं। शिवलिङ्ग पूजन का बड़ा महात्म्य है। इनमें द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग माने जाते हैं – यथा सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकालेश्वर, ओंकारेश्वर, केदारनाथ, भीमशङ्कर, विश्वनाथ, त्र्यम्बकेश्वर, वैद्यनाथ, नागेश्वर, रामेश्वर तथा घुश्मेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग।[3] प्रलयकाल में शिव के ताण्डव नृत्य की मूर्ति का पूजन व्यक्त पूजन है। इसका प्रचलन दक्षिण भारत में है। व्यक्त शिव-पूजन के मन्दिरों में शिव तथा पार्वती की मूर्तियाँ होती हैं। शिव की अनेक नामों से पूजा होती है सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान, मृत्युञ्जय, विजय, किरणाक्ष अघोरास्त्र, श्रीकण्ठ तथा महादेव। प्रत्येक रूप के आयुधों तथा मुद्रा में भेद है, किन्तु सिर में जटाजूट, चन्द्रमा, तीन नेत्र और त्रिशूल प्रायः सब में होते हैं। किसी-किसी रूप में हाथ में खप्पर, कपाल, डमरु, सर्पों के आभूषण एवं पीठ पर व्याघ्राम्बर या गजचर्म तथा गले में मुण्डमाल भी होती है।[4]

सामान्यतः जटाजूटधारी, त्रिनेत्रेश्वर, नीलकण्ठ, जटाजूट में बालचन्द्र, सिर पर गङ्गा, हाथ में त्रिशूल, सर्पों का हार पहने एवं व्याघ्राम्बर ओढ़े, हुए शिवमूर्ति के सर्वमान्य रूप हैं। उनका वाहन नन्दी (वृषभ) है तथा वे उस पर आसीन या उसके साथ खड़े हुए प्रदर्शित किये जाते हैं। शिव परमयोगी हैं, इसलिए उनकी ध्यानमुद्रा की बहुत सारी मूर्तियाँ मिलती हैं। जहाँ मूर्ति अव्यक्त (शिवलिङ्ग) रूप की है, वहाँ उनका वाहन 'नन्दी' मन्दिर के बाहर उनके सम्मुख बैठा हुआ प्रतिष्ठित किया जाता है। व्यक्त मन्दिर में या उसके समीप पत्नी दुर्गा (अन्नपूर्णा, अम्बिका, गौरी

---

1. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 33
2. अहं ब्रह्मादयो देवाः सर्वभूतानि केशवः
   सदसन्निहतस्तत्र प्रतिष्ठाकर्म नास्त्यतः।।
   शालग्रामशिलाग्रे तु यो जुहोति हुताशनम्।
   एकाहुतिर्हता सम्यक् कल्पकोटि गुणोत्तरा।। रूपमण्डन, अध्याय-3, श्लोक-44-45, पृ० 144
3. मन्दिर संस्कृति, पृ० 198-200
4. हिन्दू तथा जैन प्रतिमा-विज्ञान, पृ० 151-152

आदि के नाम से जानी जाती है।) की मूर्ति भी जो स्थापित की जाती है। सामान्यत: मन्दिर में उनके दोनों पुत्रों (कार्तिकेय तथा गणेश) की भी मूर्तियाँ हैं।[1]

लक्ष्मीनारायण की भांति उमा-महेश या शिव-पार्वती की मूर्तियों की भी पूजा की जाती है, किन्तु लक्ष्मी तथा नारायण की तरह उनकी मूर्तियाँ पृथक्-पृथक् न होकर माँ पार्वती शिव के बांयी तरफ विराजमान हैं। शिव का बांया हाथ उनके कन्धे पर होता है। दांये हाथ में त्रिशूल एवं दूसरे हाथ में सर्प होता है। माँ पार्वती का दाहिना हाथ शिव के कन्धे पर है। इस युग्म मूर्ति के नीचे नन्दी, कार्तिकेय और गणेश होते हैं।[2] शिवलिङ्ग को ब्रह्म का स्वरूप स्वीकार किया गया है। लिङ्ग दो प्रकार के होते हैं। एक चल तथा दूसर अचल। चल लिङ्ग के द्रव्य भेद से कई भेद होते हैं। ये भेद मृण्मय, लोहज, रत्नज, दारुज, शैलज और क्षणिक की संज्ञाओं से जाने जाते हैं। 'रूपमण्डन' में रत्नज, शैलेय, मृण्मय तथा दारुज चल लिङ्गों का विवेचन है। अचल लिङ्गों की कोटि में स्वयम्भू, दैवत, गाणपत्य, असुर, पुराण, राक्षस, मानुष तथा बाण लिङ्ग आते हैं। शैव समाज में बाण लिङ्ग का वही महत्व है जो वैष्णवों में शालिग्राम का। लिङ्ग के ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र भाग विख्यात हैं।

ब्रह्मा भाग चोकोर, विष्णु भाग अष्टकोणात्मक तथा रुद्रभाग गोल होता है। ब्रह्मा भाग नीचे का, विष्णु भाग मध्य का एवं रुद्र भाग ऊपर का होता है। रुद्र भाग को पूजा भाग भी कहते हैं, पीठिका के ऊपर यही भाग उठा होता है। 'लिङ्ग पीठ' में पीठिका निर्माण के विषय में 'रूपमण्डन'[3] में कहा गया है कि जिस द्रव्य का लिङ्ग हो उसी द्रव्य की पीठिका भी होनी चाहिए।

शिव के देवालयों में दुर्गा, कार्तिकेय तथा गणेश के अलावा वीरभद्र और भैरव की भी मूर्तियाँ स्थापित की जाती है। उनके द्वार पर चण्ड तथा प्रचण्ड की मूर्तियाँ द्वारपाल के रूप में होती हैं।

1.7.10 दिक्पाल - मन्दिर वास्तु के अनुसार मन्दिर का निर्माण करते समय दिक्पालों का विशेष ध्यान रखा जाता है। वास्तुशास्त्रसम्मत दस दिशाएँ है - यथा - पूर्व, दक्षिण, उत्तर तथा पश्चिम, पूर्व एवं दक्षिण का कोण-आग्नेय, दक्षिण तथा पश्चिम का कोण - नैर्ऋत्य, पश्चिम व उत्तर का कोण-वायव्य, और उत्तर-पूर्व का कोण - ईशान दिशा कहलाती है। इन आठ दिशाओं के अलावा आकाश एवं पृथिवी के नीचे का भाग पाताल की भी दिशाओं में गणना की जाती है।

---

1. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 35
2. उमामहेश्वरं वक्ष्ये उमया सह शङ्करः।
   मातुलिङ्ग त्रिशूलञ्च धरते दक्षिणे करे।।
   आलिङ्गितो वामहस्ते नागेन्द्रं द्वितीये करे।
   हरस्कन्ध उमाहस्ते दर्पणो द्वितीये करे।। रूपमण्डन, अध्याय-4, श्लोक-27-28, पृ० 159-160
3. रूपमण्डन, भूमिका, पृ० 66-67

प्रत्येक दिशा का एक देवता होता है, जो कि उसका दिक्पाल कहलाता है।

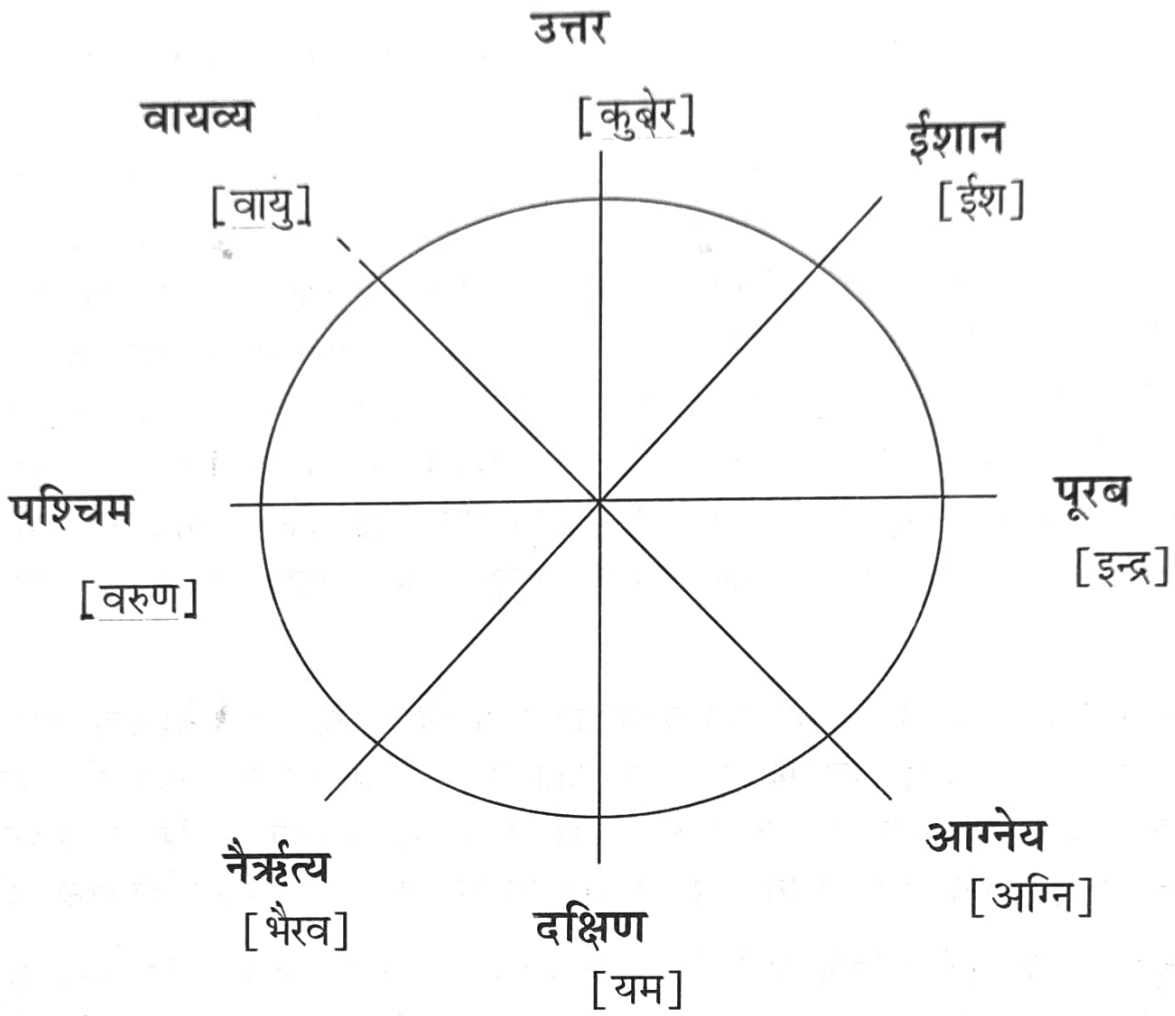

दिशा एवं उनके देवता[1]

शेष आकाश के देवता ब्रह्मा तथा पाताल के देवता अनन्त शेष नाग हैं। भैरव को क्षेत्रपाल के नाम से भी जाना जाता है। इनकी प्रतिमाएँ मण्डोवर की जङ्घा में अन्य देवी-देवताओं के साथ लगायी जाती हैं।[2]

1.7.11 नवग्रह - नवग्रह-सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु हैं। मन्दिरों में इनकी प्रतिमाएँ खम्भों (स्तम्भों), कक्षासनों, वितानों इत्यादि में लगायी जाती हैं। प्राचीनकाल के मन्दिरों में इन्हें मन्दिर-द्वार के ऊपर अथवा अन्य प्रमुख स्थान पर पृथक्-पृथक् या एक पंक्ति में प्रदर्शित देखा जाता है। सूर्य नवग्रहों में प्रथम तथा प्रमुख हैं। सूर्य का महत्व बौद्ध

---

1. इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्।
   कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्।। प्रासादमण्डन, प्रथम अध्याय, श्लोक-15, पृ० 5
2. रूपमण्डन, भूमिका, पृ० 44-45

तथा जैन प्रतिमाशास्त्र में भी है। भाजा की बौद्ध गुफा में सूर्य का अङ्कन है तथा इसी प्रकार जैन गुफा (अनन्त गुफा, उड़ीसा) में भी सूर्य की प्रतिमा निर्मित है। प्रथम शती ईसा पूर्व से सूर्य प्रतिमा निर्माण की ओर लोकधर्म की प्रवृत्ति बढ़ी। गुप्तकाल में सूर्य-पूजा तथा प्रतिमा निर्माण को भी प्रोत्साहन मिला। मध्यकाल में विशेष रूप में बङ्गाल में सूर्य का विष्णु की भाँति महत्व रहा और प्रतिमाएँ निर्मित हुईं।[1] मूर्ति विधान में सूर्य के कई प्रकार प्रचलित हैं। 'बृहत्संहिता'[2] के अनुसार सूर्य स्थानक हैं एवं उदीच्य वेश में हैं।

'रूपमण्डन' में सूर्य-प्रतिमा रथ सहित बनाने का विधान है तथा सूर्य की प्रतिमा चतुर्भुजी होनी चाहिए, जिसमें श्वेत पङ्कज भी हो। उन्हें लाल वस्त्र धारण किये वर्तुल तेज बिम्ब के अन्दर प्रदर्शित करने का विधान है -

सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वाभरणभूषितम्।
द्विभुजञ्चैकवक्त्रञ्च श्वेतपङ्कजधृत्करम्।।

वर्तुलं तेजसो बिम्बं मध्यस्थं रक्तवाससम्।
आदित्यस्यत्विदं रूपं कुर्यात् पापप्रणशानम्।।[3]

1.7.12 अन्य मूर्तियाँ - इनके अतिरिक्त मन्दिर की जङ्घा पर अर्थात् मण्डोवर, महामण्डप, अर्धमण्डप तथा प्रवेश मण्डप भी बाहरी दीवारों पर नाना प्रकार के अलंकरण देवी-देवताओं, अवतारों पौराणिक कथाओं का अङ्कन किया जाना चाहिए। इनमें यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, अप्सराओं तथा देवाङ्गनाओं की मूर्तियाँ भी अंकित की जानी चाहिए।[4] यक्ष मानव जाति के हितैषी एवं कल्याण करने वाले माने जाते हैं। प्राचीन काल में यक्षों की भी पूजा की जाती थी तथा उनके 'चैत्य' नगरों के बाहर निर्मित किये जाते थे। बौद्ध-जैन धार्मिक ग्रन्थों में भी यक्षों का वर्णन है। गन्धर्व आकाशधारी हैं। देवालयों में गन्धर्वों को अप्सराओं के साथ आकाश में भ्रमण करते प्रदर्शित किया जाता है। गन्धर्वों का ऊपरी भाग मानव के आकार तथा नीचे का भाग पक्षी के समान होता है। इनके कन्धे से पंख निकले रहते हैं। जबकि विद्याधर पूर्णरूप से मनुष्य की आकृति होते हैं। विद्याधर यदा-कदा दोनों ओर उड़ते बनाये जाते हैं।

---

1. रूपमण्डन, भूमिका, पृ० 39-40
2. नासाललाट जङ्घोरुगण्डवक्षांसि चोन्नातानि रवेः।
   कुर्यादुदीच्यवेषं गूढं पादादुरो यावत्।। बृहत्संहिता, अध्याय-57, श्लोक-46, पृ० 692
3. रूपमण्डन, अध्याय-2, श्लोक-18-19, पृ० 125
4. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० 39-40

1.8 जैन प्रतिमा विज्ञान

1.8.1 आवश्यक तत्व - 'रूपमण्डन' में तीर्थङ्कर की प्रतिमा के आवश्यक तत्व निम्न प्रकार हैं-

छत्रत्रयं जिनस्यैव रथिकाभिस्त्रिभिर्यता।।
अशोकद्रुमपत्रैश्च देवदुन्दुभिवादकैः।
सिंहासनमसुराद्योगजसिंहा विभूषिताः।।

मध्ये च कर्मचक्रं च तत्पार्श्वयोश्च यक्षिणी।
द्वितालविस्ताराः कार्या बहिः परिकरस्य तु।।

दैर्घ्ये तु प्रतिमा तुल्या तयोरुर्ध्वे तु तोरणम्।
वाहिका बाह्यपक्षे तु गोसिंहरलंकृताः।।

कर्त्तव्या द्वारशाखा च तत्तन्मूर्तिगसंयुता।
तोरणं पञ्चधा प्रोक्तं रथिकार्यं च देवताः।।

ललितं चेतिकाकारं त्रिरथं बलितोदरम्।
श्री पुञ्जं पञ्चरथिकं सप्तावा नन्दवर्धनम्।।

रथिकायां भवेद्ब्रह्मा विष्णुरीशश्च चण्डिका।
जिनौ गौरी गणेशश्च स्वे स्वे स्थाने सुखावहाः।।[1]

- तीन छत्र
- तोरणयुक्त तीन रथिकाएँ
- अशोकद्रुम तथा पत्र
- देव-दुन्दुभि,
- असुर गजसिंह आदि से विभूषित सिंहासन,
- अष्टपरिकर,
- गो, सिंह आदि से अलंकृत वाहिका या यक्ष
- तोरण और रथिकाओं पर ब्रह्मा, विष्णु, चण्डिका, जिन, गौरी, गणेश आदि की मूर्तियाँ।

---

1. रूपमण्डन, अध्याय-6, श्लोक-33-39, पृ॰ 212-213

'बृहत्संहिता' में तीर्थङ्करों की प्रतिमोद्भावना में प्रतिमा के लाञ्छनों[1] अर्थात् जैन प्रतिमाओं की विशेषताओं का सुन्दर वर्गीकरण मिलता है। तीर्थङ्कर विशेष यथा की प्रतिमा में लम्बे लटकते हुए हाथ, श्रीवत्स-लाञ्छन, प्रशान्तमूर्ति, नग्न-शरीर, तरुणावस्था ये 5 सामान्य विशेषताएँ है।[2]

इनके अलावा दक्षिण एवं वाम पार्श्व में क्रमशः एक यक्ष और एक यक्षिणी का भी प्रदर्शन आवश्यक है। तीसरे, अशोक (अथवा आम्र वृक्ष के नीचे बैठकर जिनों ने ज्ञान प्राप्त किया) वृक्ष के साथ-साथ अष्टप्रतिहार्यों (दिव्यतरु, आसन, सिंहासन, आतपत्र, चामर, भामण्डल, दिव्य, दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि एवं दिव्यध्वनि) में से किसी एक का प्रदर्शन भी आवश्यक है। जैनों के देव तथा देवियों की तीन श्रेणियाँ हैं - प्रासाद देवियाँ, कुलदेवियाँ (तान्त्रिक-देवियाँ) तथा सम्प्रदाय देवियाँ। परन्तु जैन धर्म के दो प्रधान सम्प्रदायों दिगम्बर और श्वेताम्बर के देवों तथा देवियों की एक परम्परा नहीं है। तान्त्रिक देवियाँ श्वेताम्बरों की विशेषता है।

1.8.2 तीर्थङ्कर - जैन-धर्म के सभी तीर्थङ्कर एक समान महिमा वाले हैं। तीर्थङ्कर रागद्वेष से रहित हैं। चतुर्विंशति तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं में समता होने पर भी उन्हें उनके लाञ्छन, शासन, देवता, देवी (यक्ष-यक्षिणी) केवल वृक्ष, चामरधारी व चामरधारिणी के आधार पर पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है। सभी तीर्थङ्करों की मुद्रा समान नहीं है। ऋषभनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर इन तीनों की आसन मुद्रा कमलासन है जो इनके इसी आसनमुद्रा में कैवल्य प्राप्ति की सूचक है। शेष तीर्थङ्करों की प्रतिमा का कार्योत्सर्ग-मुद्रा में प्रदर्शन आवश्यक है, क्योंकि उन्हें इसी मुद्रा में निर्वाण प्राप्त हुआ था।[3]

प्रतिमा स्थापत्य में 24 तीर्थङ्करों यथा- आदिनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांशनाथ, वामपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थनाथ, आरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर के अतिरिक्त 24 यक्षों व यक्षिणियों के रूप 16 श्रुतदेवियों (विद्या-देवियों) 10 दिक्पालों, 9 ग्रहों, क्षेत्रपाल, सरस्वती, गणेश श्री तथा शान्तिदेवी के भी रूप प्राप्त हैं। शासन देवताओं के रूप में सर्वदा जिनों के समीप रहने के कारण ही जैन देवकुल में यक्ष तथा यक्षिणियों को जिनों के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।[4]

---

1. लाञ्छन - जिनके आधार पर 'जिनों' की पहचान सम्भव होती है, वे जिनों से सम्बन्धित विशिष्ट लक्षण।
2. आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च।
   दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः।। बृहत्संहिता, 57/45, पृ॰ 692
3. भारतीय वास्तुशास्त्र, पृ॰ 313-315
4. भारतीय वास्तुकला, पृ॰ 316-317

वास्तु शास्त्र में देव प्रतिष्ठा

रवीन्द्र उनियाल

संसार दु:ख का सागर है। सृष्टि में प्राणियों का कोई भी वर्ग नहीं जो पूर्ण रूप से सर्वथा सुखी व संतुष्ट हो। किसी को सामाजिक तो किसी को आर्थिक-बौद्धिक-शारीरिक आदि दु:ख है। दु:ख के कारण को भारतीय वेद उपनिषद् आदि शास्त्रों में अविद्या[1]-माया[2]-जड़ आदि विभिन्न नामो से कहा गया है। बुद्ध ने तो प्रथम आर्या सत्य में जीवन को दु:खमय बताया है।[3] वेद शास्त्रों में दु:ख की निवृति भी संभव बताई गई है[4]। प्राणि वर्ग में मनुष्य ईश्वर की सर्वोच्च रचना इसलिये बन जाता है क्योंकि मनुष्य बुद्धि जीवी होने के साथ ही चिंतनशील, कल्पनाशील आदि विशिष्ट गुणों से भी युक्त है[5]। मनुष्य बुद्धि के द्वारा इन गुणों का प्रयोग कर दु:खों की आत्यान्तिक निवृत्ति तथा सुखों व आनन्द के असीम सागर में डुबकी लगाने की सामर्थ्य युक्त भी है क्योंकि वह स्वभाववश निरन्तर प्रयासरत रहता है।

इसी प्रयासकाल में एक समय आता है जब व्यक्ति का हृदय दैहिकादि त्रिविध तापों के थपेड़ों से मर्माहत हो जाता है। तब मानव मन जागतिक जंजालों से कुछ अंसपृक्त होने के कारण शान्त व निश्च्छल होकर उस परम तत्त्व जिसे वेदान्त में वस्तु तत्त्व कहा गया है[6], में शरणागत हो जाता है और सगुण विशिष्ट साकार ईश्वर के रूप में भक्ति मार्ग के द्वारा भजने के लिए मन्दिर में वेदप्रतिमादि के रूप में प्रतिष्ठित करता है। यहीं से मनुष्य को प्रेम, आनन्द व सच्चे सुख और शान्ति का आभास होने लगता है। भारतीय वैदिक पौराणिक शास्त्रों में इस वस्तु प्रतिष्ठा के निमित्त ही वास्तु शास्त्र का प्रतिपादन हुआ है।

वास्तु शब्द 'वस्' धातु से निवास अर्थ में व्युत्पन्न होता है यथा **''वसन्त्यस्मिन् वास्तु''**[7]। अर्थात् किसी प्राणी, वस्तु या पदार्थ का यथोचित् वास करना, रहना या रखना वास्तु कहलाता है।

---

1. सत्वाशुद्धविशुद्धिभ्याम् मायाविद्ये च ते मते। पंचदशी 1.16
2. श्वेतोश्वेतरोपनिषद् 4.5
3. धम्मपद। 15.10-14
4. धम्मपद। 15.10-15, स्कन्धपुराण. रेवाखण्ड. सत्य.कथा 5,13
5. श्रीमद्भगवद्गीता 2.50
6. वस्तुसच्चिदानान्दाद्वयं ब्रह्म:। (वेदान्तसार 11 पृष्ठ.स. 14, श्रीमद्.गीता)
7. निरुक्त

मत्स्यपुराण में देवताओं के निवास को भी वास्तु कहा है। यथा **''निवसात् सर्वदेवानां वास्तुशास्त्र विधीयते''**[1] इस प्रकार वास्तु, उस सगुण ईश्वर के रूप में ही विभिन्न तत्त्वों की प्रतिष्ठा के निमित्त अत्यावश्यक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

मनुष्य अपनी व्यक्तिगत सुविधा के अनुसार देवतामूर्ति की स्थापना अपने आवास पर व्यवसायिक भवन में और अन्यत्र यहां वहां करता है। इस दृष्टि में तो **''ईशवास्यामिदं सर्वम् यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्''**[2] यह मन्त्र ईश्वर की सर्वात्रोपलब्धि बताता है। फिर भी देवरूप में ईश्वर को कुण्ड स्थान प्रिय है। जहां मन्दिर का निर्माण करके ही देवमूर्तियों को प्रतिष्ठित करना उचित है। जिनके निर्माण से पूर्व वास्तुशास्त्रोक्त देवताओं के अनुराग स्थलों का विचार किया जाता है। देवता के अनुराग स्थलों में ही मन्दिर बनाकर देवता की अचल प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

वास्तुशास्त्र बताता है, जिस स्थान पर नदी-तालाब-झरने हो, फल, पुष्प के वृक्ष हो, अथवा किसी भक्त के द्वारा बनवाये गये विश्रातिस्थल-उद्यान-पुष्पवाटिका-कुंआ आदि उत्तम स्थानों पर ही देवता निवास करते हैं।[3]

वन के किनारे, नदियों, पर्वतों व झरनों के समीप तथा बगीचों से युक्त नगरों में भी देवताओं के मन्दिर बनाकर मूर्तिस्थापन किया जाना उत्तम बताया गया है। ये देवताओं के प्रिय स्थल होते हैं।[4] ब्राह्मण वर्ण की भूमि मन्दिर के लिए प्रशस्त होती है। अर्थात् श्वेत वर्ण की सुगन्धयुक्त, मधुररस वाली, कुशयुक्त, घृत की गन्ध वाली भूमि में मन्दिर का निर्माण करना शुभ होता है।[5]

देवालय में 64 पद वास्तुमण्डल विन्यास

वास्तुशास्त्र प्रत्येक स्थापना के लिए विभिन्न वास्तु मण्डल का विधान करता है। यथा-एकाशीतिपदवास्तु[6], षण्णवत्याधिकशतपदवास्तु[7], चतुषष्टिपदवास्तु[8] शतपदवास्तु[9] इत्यादि। वास्तुशास्त्र

---

1. मत्स्य पुराण 251.14
2. ईशावास्योपनिषद्-1 कण्वसंहिता अ. 40.1
3. सलिलोद्यानुक्तेषु कृतष्वकृतकेषु च।
   स्थानेष्वेतेषु कृतष्वकृतकेषु देवताः।। (बृहद्वास्तुमाला म.नि.प्र.श्लो.स.3)
4. वनोपान्त शैलनदीशैल निर्झरोपान्तभूमिषु।
   रमन्ते देवतानित्यं परेषूद्यानवत्सु च।। (बृ.वा.मा., म.नि.प्र.श्लो. 8)
5. भूमयोब्राह्मणादीनां याः प्रोक्ता वास्तुकर्माणि।। (बृ.वा.मा., देवमन्दिर. नि.श्लो. 9)
6. वास्तुमण्डन 1-113
7. वास्तुराज बल्लभ 2.4
8. वास्तुमण्डन 1-112
9. वास्तुमण्डन 1-115

विभिन्न प्रकार के स्थापना के लिए एक पद से लोर सहस्त्र पद तक वास्तु मण्डल बनाने का विधान बताता है[1]। इस प्रकार देवालय के लिये चतुषष्टिपद वास्तु का विधान है। जिनके सभी दिशाओं के मध्य भाग में द्वार निर्माण शुभ होता है। यथा–

चतुःषष्टिपदं कार्यं देवतायतनं सदा।
द्वारं च मध्यमं तस्मिन् समदिक्स्थं प्रशस्यते।।[2]

देवालय के निमित्त चतुषष्टिपद वास्तु मण्डल का निर्माण करने के लिये सर्वप्रथम पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण क्रम में बनाया जाता है। तदनन्तर उसमें पैंतालिस (45) देवताओं को निम्न विधि से स्थापित करना चाहिए।

64 पदवास्तुमण्डल

शिखी / दिति	पर्जन्य	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	आकाश / अनल
अदिति							पूषा
भृङ्ग		आपवत्स / आप	अर्यमा	अर्यमा	सविता / सावित्र		वितथ
कुबेर		पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान		गृहक्षत्
शल्लाट		पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान		यम
मृग		सान / रुद्रदास	मित्र	मित्र	इन्द्र / जय		गन्धर्व
नाग							भृंगराज
भल्लाट / जयक्षमः	शोष	असुर	रोग	मुख्य	भल्लाट	दौवारिक	मृग / पितर

1. एकपदादितो वास्तुर्यावात् पदसहस्त्रकम्।
द्वात्रिंशद्मण्डलानि स्युः क्षेत्रतुल्याकृति च।। (वास्तुमण्डन. 1.96)
2. बृ.वा.मा., नि.प्र.ल.श्लो.10 अथवा
ग्रामेभूपति मन्दिरे च नगरे पूज्यश्चतुष्याष्ठकै।
रेकाशीतिपदे समस्तभवने जीर्णे नवब्ध्यांशकैः।।
प्रासादेमतु शतीकैस्तु सकले पूज्यस्तथामण्डपे।
कूपेषण्ण्वचन्द्रभागसहिते वाप्पी तडागे वने।। (वास्तुराजबल्लभ 2.4, वास्तुमण्डन. 1.98)

देवालय के प्रकार

संस्कृत वाङ्मय में देवालय के लिए प्रासाद शब्द का भी प्रयोग होता है। अमरकोष में **''प्रासादो देवभूभूजाम्[1]''** अर्थात् राजभवन के रूप में भी स्वीकारा गया है। प्रासाद वह स्थान है जहां सभी बुद्धि विशिष्ट प्राणियों और देवताओं को आनन्द व प्रसन्नता प्राप्त होती है।

देवादीनां नराणां च येषु रम्यतया चिरम्।
मनांसि च प्रसीदन्ति प्रसादस्तेन कीर्तिता:।।[2]

शिल्परत्न में देवालय के लिए **''नानामानविधानत्वात् विमानम्[3]''** कहकर भी विमान की संज्ञा से अभिव्यक्त किया जाता है रामायण में लिखा मिलता है कि **''प्रसाद गृह विमानेषु[4]''** यहां भी विमानेषु पद का अर्थ देवालय के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में देवालय के लिए **'विमान'** शब्द प्रयुक्त होता था। वास्तुशास्त्र में देवालय के तीन भेद प्राप्त होते हैं। (1) नागरशैली देवालय (2) द्रविड़शैली देवालय (3) बेसरशैली देवालय।

(1) नागर देवालय

नागर देवालय के प्रवर्तक विश्वकर्मा है। यह उत्तर भारतीय शिल्प परम्परा से देवालय का विधान करता है। दूसरा भेद द्रविड़ देवालय के नाम से है। इसके आचार्य मय और मानसार को माना जाता है। यह दक्षिण भारतीय वास्तु कला शैली से देवालय का विधान करता है। तीसरा भेद है बेसर शैली देवालय, यह प्राय: वृत्तीय सिद्धान्त पर आधारित है। जिसमें दो कोण होते हैं।[5] इस प्रकार नागर चतरस्त्र, द्रविड़ अष्टास्त्र, तथा बेसर शैली के देवालय वृत्ताकार रूप में निर्मित होते हैं।

नागरं चतरस्त्रं स्यादष्टास्त्रं द्राविडं तथा।
वृत्तं च बेसरं प्रोक्तंमेतत्पीठाकृतितथा।।[6]

प्राचीन वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में देवालय के विभिन्न प्रकार मिलते हैं। जिनमें बीस प्रकार के देवालय प्रमुख व सुप्रसिद्ध है जो अत्यन्त सुन्दर व मनोहर होने के साथ ही शान्त व मन को प्रसन्न करने वाले होते हैं। वास्तुशास्त्र इनके आकार प्रकार व निर्माण का विस्तृत वर्णन करता है। जिनके नाम वास्तुशास्त्र में इस प्रकार हैं। (1) मेरु (2) मन्दर (3) कैलाश (4)विमानच्छद (5) नन्दन (6) समुद्ग (7) पद (8) गरूड़ (9)नन्दिवर्धन (10) कुंजर (11) गुहराज (12) वृष (13)

---

1. अमरकोष. 2.2.9
2. शिल्परत्न 6.1
3. शिल्परत्न प्रथम भाग 16.2
4. रामायण 5.15 पृ. स. 1790
5. भारतीय स्थापत्य पृ.स. 269
6. मानसार 53.53 (27)

हंस (14) सर्वतोभद्र (15) घट (16) सिंह (17) वृत्त (18) चतुष्कोण (19) षोडशाश्रि (20) अष्टाश्रि[1]।

मन्दिर विधान

देवालय के लिए मन्दिर भी कहा जाता है, मन्दिर शब्द **''मन्द किरच्''** धातु से व्युत्पन्न होता है[2]। विश्वकर्मप्रकाश में प्रस्तर निवास को ही मन्दिर कहा गया है[3]। वेदों में मन्दिर के लिये 'हर्म्य' शब्द का प्रयोग भी मिलता है[4]। मन्दिर विशिष्ट प्रमाण युक्त अन्य विभिन्न प्रकार के भवनों से सर्वथा भिन्न होता है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई आदि का एक विशिष्ट प्रमाण और विधान होता है।

वास्तुशास्त्र के अनुसार मन्दिर का विस्तार जितना होगा उससे द्विगुणित मन्दिर की ऊँचाई रखी जानी चाहिए। यथा मन्दिर का विस्तार 32 हाथ है तो ऊँचाई 64 हाथ होगी और ऊँचाई का तिहाई भाग प्रमाण तुल्य मन्दिर का कटि प्रदेश होता है।[5] अर्थात् 21 हाथ 24 अंगुल कटि प्रदेश होगा। मन्दिर विस्तार का आधा सोलह (16) हाथ, गर्भ तथा गर्भ के चारों ओर दीवार होती हैं जिसमें न्यूनतम 1 हाथ भूमि, परिक्रमा के लिए छोड़ी जाती है। और शेष तीन हाथ में दीवाल बनानी चाहिए।

द्वार की ऊँचाई आठ हाथ होनी चाहिए तथा द्वार की ऊँचाई का चतुर्थांश अर्थात् 2 हाथ शाखा विस्तार होता है उसी तरह शाखा के ऊपर नीचे रखने वाला काष्ठ भी रखा जाना चाहिए। शाखाओं का जो विस्तार है। उसके चतुर्थांश शाखाओं की मोटाई होनी चाहिए। वह द्वार 3,5,7,9 शाखाओं से युक्त हो तो उत्तम माना जाता है और शाखा विस्तार यदि तीन से पूरा न हो तो 5 से पूरा कर देना चाहिए। यदि पाँच से पूरा न हो तो सात अथवा नव से पूरा कर देना चाहिए। शाखा के नीचे का जो भाग है उसके चतुर्थांश से प्रतीहारों (नन्दी, दण्ड आदि) को रखें। शेष तीन भागों में हंस आदि मांगलिक पक्षी, श्रीवृक्ष, वास्तुपुरूष दो स्वस्तिक घट रखें। तदनन्तर लता पत्रादि से घर को सुशोभित करना चाहिए। द्वार की ऊँचाई का जो अष्टमांश है। उसको द्वार की ऊँचाई में घटाकर शेष भाग के तीन हिस्से करें और उसमें सपिण्ड प्रतिमा बनाएँ, उसमें भी दो भाग प्रतिमा

---

1. बृहद्वास्तुमाला पृ. 165, 17-19, बृहत्संहिता प्रास.ल. 17-19
2. रामलाल प्राचीन मालवा मे मन्दिर वास्तुकला पृ. 20
3. विश्वकर्मप्रकाश 4.13
4. ऋग्वेद 5, 32-5
5. यो विस्तारो भवेद्यस्य द्विगुस्य तत् समन्नतिः।
   उच्छ्रयाद्यस्तृतीयाशस्तेन तुल्या कटिः स्मृता।।
   विस्तारार्धं भवेद्गर्भो भित्तयोन्याः समन्ततः।
   गर्भ पादेन विस्तीर्णं द्वारं द्विगुणमुच्छ्रतम्।। बृ.वा.मा.दे.प्र.प्र.श्लोक11-12।।

और एक भाग पिण्डिका बनानी चाहिए।[1] जैये–द्वार की ऊँचाई आठ हाथ है उसका अष्टमांश 1 हाथ हुआ उसको आठ में घटाने से 7 शेष हुआ, उसमें चार हाथ सोलह अंगुल प्रतिमा का प्रमाण और उसी का तीसरा भाग 2 हाथ 8 अंगुल पिण्ड का प्रमाण करें। इसी प्रकार सभी प्रकार के मन्दिरों का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार मन्दिर का निर्माण कार्य पूर्ण हो जाने के पश्चात् मन्दिर में शुभ दिन में देव प्रतिमा की प्रतिष्ठा के लिए मुहुर्त का ज्ञान किया जाता है।

मुहुर्त विचार

श्रीप्रदं सर्वगीर्वाणस्थापनं चोत्तरायणे।
गीर्वाण पूर्व गीर्वाण मन्त्रिणो दृश्यमानयोः।।[2]

उत्तरायण में गुरु तथा शुक्र के उदय काल में प्रतिष्ठा करना शुभ होता है। अतः सूर्य के उत्तरायण रहने पर सम्पूर्ण देवताओं की प्रतिष्ठा करना शुभ होता है परन्तु उग्र प्रकृति के देवताओं की प्रतिष्ठा दक्षिणायन में भी करने का विधान है। यथा–

मातृ-भैरव-वाराह-नारसिंह-त्रिविक्रमाः।
महिषासुरसंहत्री च स्थाप्य वै दक्षिणायने।।[3]

उत्तरायण में देवप्रतिष्ठा में अति शुभ होती हैं।[4] द्वादश मासों में प्रतिष्ठा करने के पृथक-पृथक फल है यथा– पौष में प्रतिष्ठा करने से राज्यवृद्धि, माघ में सम्पत्ति, फाल्गुन में द्रव्यलाभ, चैत्र में शुभ फल, बैशाख मे विशेष सुख, ज्येष्ठ में जय, आषाढ़ में यजमान हानि, श्रावण में राज्य तथा राष्ट्रहानि, भाद्रपद में अपमान, आश्विन में राज्यहानि, कार्तिक व मार्गशीर्ष में शत्रुवृद्धि

---

1. उच्छ्रयात् पादविस्तीर्ण शाखा तद्वदुदुम्बरः।
   विस्तार पादप्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्।।
   त्रिपंचसप्तनवभिः शाखाभिस्तत् प्रशस्यते।
   अधः शाखाचतुर्भागे प्रतिहारो निवेश्यते।।
   शेषं मंङ्गल्य विहगैः श्री वृक्षैः स्वस्तिकैः घटै।
   मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशेभयेत्।।
   द्वारमानाष्टभागोना प्रतिमा स्यात् सपिण्डिका।
   द्वौ भागौ प्रमिमा तत्र तृतीयाश्च पिण्डिका।। बृ.वा.मा.म.नि.प्र. 16
2. नारद संहिता अ.28 श्लो-1
3. बृ.वा.मा.दे.प्र.प्र.श्लो-8
4. विचैत्रेष्वेवमासेषु माघादिषु च पञ्चषु।
   शुक्लपक्षेषु कृष्णेषु तदानि पञ्चषु स्मृतम्।।

होती है। एवं पौष मास में मकर संक्रान्ति के पश्चात् ही प्रतिष्ठा करना ही शुभ है।[1] वास्तुशास्त्र में विभिन्न देवताओं के लिए विभिन्न विशिष्ट मासों में प्रतिष्ठा करना शुभ फलदायक होता है। यथा–

श्रावणे स्थपयोलिङ्गमाश्विने जगदम्बिकाम्।
मार्गशीर्षे हरिं चैव सर्पान् पौषेऽपि केचन।।[2]

अथात् श्रावण में शिवलिंग, आश्विन में भगवती जगदम्बा, मार्गशीर्ष में विष्णु, पौष में शेषनाग की स्थापना करना अधिक शुभ होता है।

पक्ष और तिथि विचार–

प्रतिपदा को छोड़कर सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष प्रतिष्ठा में शुभ होता है। और कृष्ण पक्ष में दशमी तिथि तक ही देवस्थापना के लिए ग्राह्य है।[3] जिस तिथि का जो स्वामी होता है उस तिथि में उस देवता की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, द्वितीय से दो (2-3) पंचमी से तीन (5-6-7) दशमी से चार (10-11-12-13) तिथियाँ एवं पूर्णिमा में प्रतिष्ठा करना शुभ है।[4]

वर्ण भेद से तिथि विचार–

ब्राह्मणानां द्वितीय च तृतीय चातिशोभना।।
क्षत्रियाणां पञ्चमी तु सप्तमी शोभनाप्रद।
वैश्यानां दशमी प्रोक्ता शूद्राणाञ्च त्र्योदशी।।[5]

---

1. पौषे राजविवृद्धिः स्यान्माघे मासे तु सम्पदा।
   फाल्गुने द्रव्यलाभश्च चैत्रे मासि शुभावहः।।
   अतीव सौख्यं वैशाखे ज्येष्ठे मासे जयावहः।
   आषाढे स्थापितो देवो यजमान विनाशिनः।।
   सौरमानेन विज्ञेयः श्रवणे राज्यराष्टहा।
   भाद्रसन्मानहानिस्यादश्विनेपि च राज्यहा।।
   कार्तिकेशत्रुविद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे तथैव हि।
   सर्वेषामेव वर्णानां वसन्तशोभनोभवेत्।। (बृ.वा.मा.देव.प्र.श्लो. 4-7)
2. बृ.वा.मा.देव.प्रति. श्लो. 9
3. बलक्षपक्षाः शुभदः समसतःसदैव तत्रद्यदिनं विहाय।
   अन्त्यत्रिभागं परिहृत्य कृष्णपक्षोपि शस्तःखलुपक्षयोस्तु।। (बृ.वा.मा.देव.प्र.श्लो. 10)
4. दिनेषु यस्य देवस्य य तिथिस्तत्र तस्य च।
   द्वितीयादिद्वयोः पञ्चम्यादिस्तसृषु क्रमात्।।
   दशम्यादेश्चतश्रृषु पौर्णमास्यां विशेषतः। (बृ.वा.मा.देव.प्र.श्लो.11)
5. बृ.वा.मा.देव.प्र.श्लो. 13

अर्थात् ब्राह्मणों के लिए द्वितीया-तृतीया, क्षत्रियों के लिए पंचमी-सप्तमी, वैश्यों के लिए दशमी और शूद्रों के लिए त्रयादशी तिथियाँ प्रतिष्ठा कार्य में शुभ होती है।

दिवस ज्ञान विचार

प्रत्येक दिवस में भी प्रतिष्ठा करने से विभिन्न फलों की प्राप्ति होती हैं। रविवार को प्रतिष्ठा करने से यश, सोमवार को प्रतिष्ठा करने से कल्याण, मंगलवार को प्रतिष्ठा वृद्धि करने वाली, गुरुवार को प्रतिष्ठा ज्ञान देने वाली, शुक्रवार को प्रतिष्ठा लक्ष्मी देने वाली तथा शनिवार को प्रतिष्ठा स्थिरता देने वाली होती है।[1]

वर्ण भेद से भी प्रतिष्ठा में दिवस विचार किया जाता है। जैसे ब्राह्मण वर्ग को गुरुवार व शुक्रवार को, क्षत्रिय वर्ग को रविवार तथा सोमवार को वैश्यों को बुधवार तथा शूद्रों को शनिवार के दिन प्रतिष्ठा करनी चाहिए।[2]

प्रतिष्ठा में नक्षत्र विचार–

हस्तत्रये मित्रहरित्रये च पोष्णद्वयादित्यसुरेयभेषु।
तिस्त्रोत्तराधातृशशांङ्कभेषु सर्वामरस्थापनमुत्तमं स्यात्।।[3]

अर्थात् हस्त, चित्र, स्वाति, अनुराधा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, रेवती, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, तीनों उत्तरा (उ.फा., उ.षा., उ.भा.) और रोहिणी में प्रतिष्ठा करने से शुभ फल की प्राप्ति होती है।

ब्राह्मण व क्षत्रियों को स्थिर राशि तथा वैश्य व शूद्रों को द्विस्वभाव राशियों में प्रतिष्ठा करना शुभ है।[4] इसी प्रकार पूर्वाह्न में प्रतिष्ठा करना श्रेष्ठ होता है एवं मध्याह्न में मध्यम और सायंकाल

---

1. कीर्तिप्रदक्षेमकरं कृशानुभीतिप्रदं वृद्धिकरं दृढश्च।
   लक्ष्मीकरं सुस्थिरदं त्विनादिवारेषु संस्थानपदमामनन्ति।। –वहीं श्लो. सं. 14
2. विप्राणांशुभदौवारो स्थापनेगुरूशुक्रयोः।
   वारेदिवाकरेन्दौश्च क्षत्रियाणां च सुखावहौ।।
   वैश्यानांबुधवारः स्यात्सुरसंस्थापने शुभाः।
   मंदवारस्तु शूद्राणां प्रतिष्ठायां शुभावहः।।
   जीवाशुक्रबुधानां च सर्वेषां शोभनावहाः।
   पापग्रहाणां वाराश्च बलिनः शुभदाः स्मृताः।। –वहीं श्लो. सं. 15-17
3. बृ.वा.मा., देव प्रति.श्लो. 18
4. ब्राह्मण क्षत्रियाणां च शोभनाः स्थिर राशयः।
   उभयोराशयोर्वैश्य शूद्राणां शोभनाः स्मृताः।। –बृ.वा.मा, देव. प्रति.श्लो.21

में प्रतिष्ठा करना अधम है। चन्द्र यदि अशुभ हो और स्वगृही भी हो तो प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए। रात्रि में प्रतिष्ठा करना वर्जित है।[1] अतः रात्रि में प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए। रिक्ता तिथि (4.9. 14) एव अमावस्या, निन्धयोग, वैनाशिक नक्षत्र और महादोष युक्त दिनों को छोड़कर यदि ताराबल युक्त चन्द्रमा हो तो देव प्रतिष्ठा शुभ होती है।[2] जन्म नक्षत्र से 10वें नक्षत्र का नामकर्म है, सोलहवें का संघात हैं, अठ्ठारवें का नाम सामुदाय है, तेईसवें का नाम विनाश है, और पच्चीसवें का नाम मानस है। इनमें देव प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए। ये सभी नक्षत्र वैनाशिक नक्षत्र कहे जाते हैं।[3]

पंचागशुद्धि (तिथि, वार, नक्षत्र करण, योग) के दिन पूर्वाह्न और शुभ मुहुर्त में यथा जब लग्न पर शुभ ग्रहों की दृष्टि या योग हो, जन्म राशि या जन्म लग्न से अष्टम लग्न न हो, अष्टम स्थान शुद्ध हो और केन्द्र (1,4,7,10) व त्रिकोण (5,9) व एकादश स्थान में शुभ ग्रह हो और चन्द्रमा, सूर्य, मंगल, शनि, तीसरे, छठे, ग्यारहवें में हो तो प्रतिष्ठा करने से कर्ता को पुत्र, धन, सुख, सम्पत्ति व आरोग्यतादि की प्राप्ति होती है।[4]

शुक्र जिस राशि अथवा नवांश में हो उसी में यदि चन्द्रमा केन्द्र पंचम या एकादश स्थान में हो जाय तो देव प्रतिष्ठा काल में उपरोक्त दोष होने पर भी शान्ति हो जाती है।[5]

चन्द्र के ताराबल में पूर्वाह्न (सूर्योदय से मध्य दिन तक) में कर्ता की राशि से अष्टम लग्न न हो तथा सभी राशियाँ शुभग्रहों के योग तथा दृष्टि से उत्तम होती है[6] तथा शुभ ग्रह से युक्त तथा

---

1. पूर्वाह्ने चोत्तमं प्रोक्तं मध्याह्ने मध्यमं बुधैः।
   सांयाह्ने न मया प्रोक्त स्वगृहे चा शुभे विधौ।।
   कदाचिन्नश्यापि प्रोक्तं प्रतिष्ठा च कृते युगे।
   कलौ युगेऽपि दोषाय प्रतिष्ठा निशि मानवैः।। बृ.व.मा., देव. प्रति. श्लो. 22-27
2. रिक्तावमायुक्तदिनेषुनिन्ध योगेषु वैनाशिक वर्जितेषु।
   दिनेमहादोष विवर्जितेषु शशांङ्कताराबलसयुंतेषु।। बृ.वा.मा., देव. प्रति. श्लो. 24
3. जन्मभादशमं कर्म संघातर्क्षच षोडशम्।
   अष्टांशः समुद्रायं त्र्योविंश विनाशनम्।।
   मानासं पञ्चविशर्क्ष नाचरेच्छुभभेषु तु।
   वैनाशिकानि मतिमान्नुक्षाणि परिवर्जयेत्।। बृ.वा.मा., देव. प्रति. श्लो. 25-26
4. पंचंगशुद्धे दिवसे दिनस्य पूर्वार्धभागेशुभदे मुहूर्ते।
   शुभग्रहैवीक्षित संयुते वा न नैधने नैधने शुद्धिलग्ने।
   केन्द्रत्रिकोणभवमूर्तिषु सद्ग्रहेषु चन्द्रार्क भौमशनिषु त्रिषडायगेषु।
   सानिध्यमेति नियतं प्रतिमासु देवःकर्तुः सुतार्थ सुखसम्पद रोगता च।। -बृ.वा.मा, देव. प्रति.श्लो. 27-28
5. बृ.वा.मा, देव. प्रति. श्लो. 29
6. नारद संहिता अध्याय 28 श्लो-6, बृ.वा.मा, देव, प्रति.श्लो 30-32

दृष्ट लग्न देव प्रतिष्ठा में शुभ फलदायक होता है। यदि लग्न गुरु से दृष्ट हो तथा पंचम भाव व अष्टम भाव शुद्ध हो तो देव प्रतिष्ठा शुभ होती है।

द्वादश भाव विचार

लग्न में क्रूर ग्रह (सू.म.श.रा. के. तथा क्षीण चन्द्र) प्रतिष्ठा कर्ता के लिए मृत्यु तुल्य कष्ट तथा शुभ ग्रह शुभ लग्न में धन-धान्यादि व सभी सुखों को देने वाले होते हैं।[1] द्वितीय भावस्थ पापग्रह अशुभ फलदायक व शुभ ग्रह व शुभ चन्द्रमा धन धान्यादि से पूर्ण करते हैं। तृतीय स्थान में सभी ग्रह कुटुम्ब तथा सुखादि की वृद्धि करते हैं।[2] चतुर्थ भावस्थ शुभग्रह शुभ फलदायक होते हैं, परन्तु क्रूर ग्रह व चन्द्रमा दु:ख देते हैं पंचम भावस्थ पूर्ण चन्द्रमा पुत्रदायक और क्षीण चन्द्रमा पुत्र नाशक होता है। षष्ठ भाव में पापग्रह शत्रुनाशक तथा शुभग्रह शत्रु को बढ़ाते हैं।[3] सप्तम भावस्थ पापग्रह मृत्युदायक तथा शुभग्रह एवं चन्द्रमा शुभ फल देने वाले होते हैं। तथा अष्टम स्थान गत सभी ग्रह कर्ता के लिए मृत्यु कारक होते हैं।[4] नवम भावगत पापग्रह मृत्यु दायक तथा शुभग्रह एव शुभ चन्द्रमा शुभफल को देते हैं। दशम भाव में बैठे हुए पापग्रह कार्य को नष्ट करने वाले तथा शुभ ग्रह व पूर्ण चन्द्रमा शुभ फलदायक होता है।[5] एकादश स्थान में सभी ग्रह लाभप्रद होते हैं तथा व्यय स्थान में सभी ग्रह निरन्तर व्यय करने वाले होते हैं।[6]

प्रतिष्ठा में मूर्तिमुख दिशाज्ञान

प्रतिष्ठा से पूर्व देवप्रतिमा के मुख दिशा का विचार करना आवश्यक है। अत: वास्तुराज वल्लभ ने देव प्रतिष्ठा में देवताओं के मुखदिशा का विस्तृत वर्णन किया है।

ब्रह्माविष्णुशिवेन्द्रभास्करगुहाः पूर्वापरस्याः शुभाः।
प्रोक्तौ सर्वदिशामुखो शिवजिनौ विष्णुविधाता तथा।।

---

1. नारद संहिता अध्याय 28 श्लो-10
2. नारद संहिता अध्याय 28 श्लो-11
3. चतुर्थे सुखदा, सौम्या:क्रूराञ्चन्द्रश्च दु:खदा:।
   हानिदा: पञ्चमे क्रूरा:सौम्या:पुत्र सुखप्रदा:।
   पूर्ण:क्षीण:शशी तत्रपुत्रदा:पुत्रनाशन:।
   षष्ठे शुभा:शत्रुदा:स्यु पापा:शत्रुक्षयप्रदा:।। (नारद संहिता अध्याय 28 श्लो-12-13)
4. व्याधिदा:सप्तमेपापा:सौम्या सौम्य फलप्रदा:।
   अष्टमस्थानगा: सर्वे कर्तुमृत्युप्रदाग्रहा:।। (नारद संहिता अध्याय 28 श्लो-15)
5. धर्मे पापा: घ्नन्ति सौम्या: शुभदाशुभदा:शशी।
   भङ्गदा:कर्मगा:पापा:सौम्यश्चन्द्रश्च कीर्तिदा:।। (नारद संहिता अध्याय 28 श्लो.-16)
6. नारद संहिता अध्याय 28 श्लो-17

चामुण्डा ग्रहमातरो धनपतिर्द्वैर्मातुरे भैरवो।
देवो दक्षिणदिङ्मुखः कपिवरो नैऋत्यूवक्त्रो भवेत्।।[1]

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, सूर्य, कार्तिकेय की पूर्व अथवा पश्चिम मुख स्थापना करनी चाहिए। इनमें भी शिव, जिन विष्णु का मुख किसी भी दिशा में करने पर दोष नहीं है। सूर्यादि नवग्रह, चामुण्डा, मातृगण, कुबेर, गणेश, भैरव की स्थापना दक्षिण मुख तथा हनुमान जी की नैऋत्य मुख स्थापना करनी चाहिए।[2] सभी देवों का मुख पूर्व पश्चिम में हो परन्तु दक्षिण व उत्तर में नहीं रखना चाहिए। नगर की ओर मुख होना श्रेष्ठ तथा विपरीत मुख नगर के लिए नाश कारक होता है।[3]

देव प्रतिष्ठा उपरोक्त गुणों व लक्षणों से युक्त होने पर विधि विधानानुसार करनी चाहिए। क्योंकि कहा है कि विधिहीन प्रतिष्ठा विनाश कारिणी होती है।

अर्थहीनाश्च कर्तारः मन्त्रहीना तु ऋत्विजम्।
श्रियं लक्षणहीना तु न प्रतिष्ठा समो रिपुः।।[4]

अर्थात् द्रव्यहीन प्रतिष्ठा यजमान का, मन्त्रहीन प्रतिष्ठा आचार्य का और लक्षणा हीन प्रतिष्ठा लक्ष्मी का नाश करती है। अतः प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

पंचदेव प्रतिष्ठ विधि

प्रतिष्ठा विषयक पूर्वोक्त सभी बातों का अच्छी प्रकार विचार कर ज्योतिष निर्धारित शुभ मुहुर्त में भूमि का पूजन करें तदनन्तर यजमान नित्यकर्मादि को करके पूजा स्थल में पत्नी को दायें भाग में बिठाकर स्वयं पत्नी के बायें भाग में बैठे फिर सर्वप्रथम **''ॐ केश्वाय नमः, ॐ नारायणाय नमः ॐ माधावाय नमः''** से तीन बार आचमन कर प्राणायाम कर ले एवं दिग् रक्षणादि पंचाग पूजन करें तत्पश्चात् स्वस्तिवाचन एवं गणपति की प्रार्थना कर संकल्प करें। यथा-

---

1. वृहद्वास्तु. देवप्रतिष्ठा श्लो.36,पृ. 178
2. राजबल्लभ 4.14
   गणेशो भैरव श्चण्डी नकुलीशो ग्रहस्तथा
   मातरो मूर्तियो देव्या शुभादक्षिणादिग्मुखा
   हनुमान वानरःश्रेष्ठो नैऋत्याभिमुखो भवेत्।।
   गणेशो धनदो लक्ष्मी पुरद्वारे सुखावहाः।। (वास्तुमण्डन 3, 29-30)
3. पूर्वापरमुखादेवा देवा कार्या नो दक्षिणोत्तराः
   नगराभिमुखाश्रेष्ठाः भङ्गदास्ते पराङ्गमुखाः।। (वास्तुमण्डन 3, 28)
   राजबल्लभ 4.12 अथवा अपराजितापृच्छ 72.17-19
4. वृहद्वास्तु. देवप्रतिष्ठा श्लो.36,पृ. 178

ॐ विष्णुर्विष्णुर्विष्णुः। श्रीमद्भगवतो महापुरूषस्य विष्णोराज्ञादि..... .....श्रीगणपति-विष्णु-दुर्गा-सूर्य-शिवमूर्तिनां पञ्चदेवानां प्रतिष्ठामहं करिष्ये।

किसी भी कार्य में संकल्प का विशेष महत्व है क्योंकि संकल्प के बिना कर्म का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता और जो धर्मकार्य करते हैं उसका आधा क्षय हो जाता है।[1] संकल्प में तिथि नक्षत्र मासादि का उच्चारण करना चाहिए।[2]

संकल्प के अनन्तर गणेशाम्बिका पूजन, कलश स्थापन, पुण्याहवाचन और वरुण पूजन, षोडशमातृका पूजन, सप्तघृतमातृका पूजन, आयुष्यमन्त्रजप, नान्दीश्राद्ध, आचार्यावरणादि को विधिवत् सम्पन्न करना चाहिएं।

मण्डप प्रवेश व भूमि पूजन

गणेशादि देवताओं का पूजन करने के अनन्तर, प्रतिष्ठा मण्डप में आचार्य ब्राह्मण सुहागिनी स्त्रियाँ, यजमान, मंगलघोष, मन्त्रपाठ एवं जलकलशादि के साथ प्रतिष्ठा मण्डप की प्रदक्षिणा करते हुए पश्चिम द्वार पर सर्वप्रथम गंधादि से भूमि का पूजन करें।[3] तदनन्तर यजमान मण्डप की पुनः प्रदक्षिणा कर स्वयं पश्चिम द्वार तथा धर्मपत्नि दक्षिण द्वार से मण्डप में प्रवेश करें।[4] अग्निकोण में गोधूम (गेहूँ) के नैऋत्य कोण में एक हाथ मात्र की वास्तु वेदी के समीप आकर अपने आसन पर पूर्वाभिमुख हो आचमन व प्राणायाम करें।[5] तदन्तर आचार्य सङ्कल्प कराते हुए पूजन प्रारम्भ करे।[6]

मण्डपाङ्गवास्तुपूजन

सङ्कल्प – **देशकालौ सङ्कीर्त्य-अस्मिन् कर्मणि कुण्डमण्डपादिषु हीनादिकाङ्गतादि वास्तुदोषसूचित सर्वारिष्ट निर्वहणार्थं पञ्चदेव (गणपति-विष्णु-दुर्गा-सूर्य-शिव) प्रतिष्ठा कर्मणि मण्डपाङ्गवास्तुपूजनं करिष्ये।**

फिर चौसठपद वास्तुचक्र में देवताओं का आवाहन पूजन कर ताम्र कलश में वास्तु प्रतिमा

---

1. संङ्कल्पेन विना कर्म यत्किचित्कुरूपते नरः।
   फलं चाप्याल्पकं तस्य धर्मस्यार्ध क्षयो भवेत्।। –पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 16, विष्य पुराण
2. मासफल तिथीनां च निमित्तनां च सर्वशः।
   उल्लेखनपूर्वकुर्वाणो न तस्यफलभग्भवेत्।। –पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 16, देवल स्मृति
3. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 30
4. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 30
5. श्रीप्रभुविद्या प्रतिष्ठाणेव पृ.सं. 160
6. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 80

का अग्न्युत्तारण करें। आचार्य वास्तुदेवता की मूर्ति को शुद्ध पात्र में रखकर घृत से उनका अंजन कर पञ्चामृत की धारा के साथ मन्त्रों का उच्चारण करते रहें।[1] फिर वास्तुप्रतिमा को बाएँ हाथ में रखकर दाएँ हाथ से आच्छादन करते निम्न मन्त्र से प्रतिष्ठा करें।

वास्तुप्रतिमा प्राणप्रतिष्ठा मन्त्र

ॐ आँ ह्रीं क्रों। यँ रँ लँ शँ षँ सँ हँ क्षँ हँ सः सोऽहं अस्याः वास्तुमूर्तेः प्राणा इह प्राणाः। ॐ इह प्राणाः। ॐ आँ ह्रीं क्रों यँ रँ लँ शँ षँ सँ हँ क्षँ हँ सः सोऽहं अस्याः वास्तुमूर्तेः जीव इह स्थितः। ॐ आँ ह्रीं क्रों यँ रँ लँ शँ षँ सँ हँ क्षँ हँ सः सोऽहं अस्या वास्तुमूर्तेः वाङ्मनस्त्वक्चक्षुः श्रोत्रजिह्वा घ्राणपाणिपादपायु उपस्थानि इहैवागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।[2]

तदनन्तर वास्तुप्रतिमा को वास्तुकलश में स्थापित कर षोडशोपचारादि से विधिवत् पूजन करना चाहिए।

मण्डपाङ्गस्तम्भ पूजन

प्रतिष्ठा मण्डप के चतुर्दिक सोलह स्तम्भों का पूजन अवश्य किया जाता है। इनमें देवता स्थित होकर कार्य को निर्विघ्नतापूर्वक रक्षा करने वाले होते हैं।[3] सभी सोलह स्तम्भों में सोलह कलशों का स्थापन कर उन पर तत्-तत् देवों का स्थान अंकित करना चाहिये।

प्रतिष्ठा मण्डपाङ्ग प्रसाद द्वार पूजन

पूर्वदिशा में दो कलशों को द्वार के दोनों ओर स्थापित कर, पहले दक्षिण कलश पर प्रशान्तयै नमः, दूसरे बायें कलश के ऊपर **शिशिरये नमः** एवं दोनों कलश के मध्य में तीसरा कलश स्थापित कर **'ऐरावताय नमः'** के द्वारा अथवा मूल मन्त्रों से स्थापन और पूजन करें तथा **'द्वारश्रियै नमः'** से ऊपर व **'देहल्यै नमः'** से अधोभाग, में, दक्षिणदिशा में गणपति तथा बायीं दिशा में स्कन्धदेव और द्वार के दो अन्य कलशों में गंगा तथा यमुना का पूजन कर पीली पताका और पीली ध्वजा का पूजन कर बलि दें। तदनन्तर अग्निकोण में आयें एवं कलश पर पुण्डरीक तथा अमृत का पूजन करें। इसी प्रकार दक्षिण द्वार पर पूर्व की भाँति तीनों कलशों का स्थापन कर क्रमशः पर्जन्यादि देवों का पूजन करें। पुनः ध्वजा-पताका का अर्चन कर यजमान से बलि पदान करावें। फिर पश्चिम द्वार पर जाकर पुनः पूर्व की भाँति तीन कलश स्थापित कर, पुष्पदन्तादि

---

1. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 103, श्रीप्रभुविद्या प्रतिष्ठाणेव पृ. सं. 190
2. पञ्चदेवाप्रतिष्ठारहस्य पृष्ठ 103, पं. अशोककुमार गौड़, 2013, एवं ॐ मनोजूतिर्जुषतामाजस्य बृहस्पर्तियज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञ ᳪ समिमंदधातु। विश्वे देवास इह मादयन्तामों 3 प्रतिष्ठा।। -यजुर्वेद संहिता 2.13
3. विविहोत्सवयज्ञेषु मण्डपं कल्पयेत् बुधैः।
सर्वविघ्नविनाशाय सर्वेषां चित्त शुद्धये।। -पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 122

देवतओं का सविधि स्थापन व पूजन करायें एव द्वारं शाखाओं पर नन्दनी आदि देवताओं का पूजन करें तथा पुनः ध्वजा पताका का अर्चन यजमान से बलि प्रदान करायें।[1]

सर्वतोभद्रमण्डल देवता पूजन

आचार्य यजमान के साथ सर्वतोभद्रमण्डल में ब्रह्मादि देवों का उन्हीं के नाम मन्त्रों से आवाहन स्थापन व पूजन करें। तदुपरान्त सर्वतोभद्रमण्डल के मध्य में सिंहासन या किसी शुद्ध पात्र में पहले चतुर्देव (गणपति-विष्णु-दुर्गा-सूर्य) की स्वर्ण प्रतिमाओं का स्थपन व पूजन करें। सर्वतोभद्रमण्डल में सत्तावन देवों का पूजन होता है।[2] किन्तु लिङ्गतोभद्र में आठ देवता अधिक होने से यह पैंसठ देवतायुक्त होता है। जिसमें शिव-हनुमान-भैरव प्रमुख रूप से पूज्य हैं।[3] लिङ्गतोभद्र के निर्माण हो जाने पर श्वि का पूजन किया जाना चाहिए।

पञ्चदेवपीठपूजा

सर्वतोभद्रादि पूजन के अनन्तर आचार्य पञ्चदेवों की पीठपूजा के लिए एक वेदी पर पञ्चदेवों के यन्त्रों का निर्माण कर क्रमशः गणपति, विष्णु, दुर्गा, सूर्य और शिव का पूजन करें तथा सर्वोषधी के द्वारा पञ्चदेवों की प्रतिमाओं का स्नान कर पुनः उद्वर्तन का लेपन तथा सप्तधान्य की पिट्ठी का लेपन कर शुद्ध जल से स्नान कराये।[4] फिर प्रतिमाओं को शुद्ध जल के द्वारा साफ कर अग्न्युत्तारण करें।

अग्न्युत्तारण

सङ्कल्प-देशकालौ सङ्कीर्त्य करिष्यमाण पञ्चदेव (गणपति-विष्णु-दुर्गा-सूर्य) प्रतिष्ठाकर्मणि अवघातादिदोषपरिहारार्थं सुवर्णमय श्रीपञ्चदेवप्रतिमाया सान्निध्यर्थं च अग्न्युत्तारणं करिष्ये।

इस प्रकार सङ्कल्प के उपरान्त किसी बड़े पात्र में सुवर्ण से निर्मित गणपति-विष्णु-दुर्गा-सूर्य एवं शिव की प्रतिमा का पञ्चामृत लेपन पूर्वक पान के पत्ते से स्नान करायें। फिर प्रतिमाओं को हाथ से स्पर्श कर निम्न मन्त्र **ॐ आँ ह्रीँ क्रोँ यँ रँ वँ शँ.....।**[5] को पढ़कर गणपत्यादि

---

1. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 121-128
2. श्रीप्रभुविद्या प्रतिष्ठाणेव पृ.स. 133-148
3. श्रीप्रभुविद्या प्रतिष्ठाणेव पृ.स. 151
4. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 141
5. मन्त्र - ॐ आँ ह्रीँ क्रोँ यँ रँ लँ वँ शँ सँ हँ अस्तां मूर्तौ प्राणा इह प्राणाः ॐ आँ ह्रीँ क्रोँ अस्यां मूर्तौ जीव इह स्थितः ॐ आँ ह्रीँ क्रोँ अस्यां मूर्तौ जीव इहस्थितः। ॐ आँ ह्रीँ क्रोँ अस्यां मूर्तौ सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनस्त्वक्चक्षुश्रोत्रजीह्वाघ्राणपाणिपादपायूपस्थानि इहैवागस्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा। (श्रीप्रभूविद्यार्णव पृ. 255)

पञ्चदेवों की प्रतिमाओं में जीव सम्पूर्ण इन्द्रियों वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-श्रोत्र-घ्राण-त्वक् एवं मन ये सभी इन पञ्चदेवों की प्रतिमाओं में चिरकाल तक सुखपूर्वक विराजित रहे। फिर उन मूर्तियों को स्वर्ण या रजत के सिंहासन पर सपत्नीक यजमान उनका अर्चन करें।

अग्निस्थापन

आचार्य आवाहित देवताओं का यजमान से पूजन करवा कर कुण्ड में स्वर्ण खण्ड या पञ्च रत्न छोड़ें और कुण्ड को वस्त्र से ढक दें। फिर आचार्य अग्निसाधन भूत अधर अरणी के पूजन हेतु यजमान पत्नी को दे। यजमान और यजमान पत्नी गन्धादि से अरणि का पूजन करें।[1] आचार्य यजमान से अग्निस्थापन का सङ्कल्प कराये।

सङ्कल्प–**देशकालौ सङ्कीर्त्य-सपत्नीकोऽहं अस्मिन् सनवग्रहमखे पञ्चदेवप्रतिष्ठाकर्मणि पञ्चभूसंस्कारपूर्वशतमङ्गला नामाग्निस्थापनं करिष्ये।**

तदनन्तर अग्निमन्थन प्रारम्भ होते ही सभी ब्राह्मण गणपतिसूक्त, दुर्गासूक्त, सूर्यसूक्त, रुद्रसूक्त एवं अग्निस्तुति परक मन्त्रों का उच्चारण करते रहे। ब्राह्मण और यजमान अग्निमन्थनकर्म तब तक करते रहे जब तक अरणि से अग्नि उत्पन्न न हो जाय अग्नि उत्पन्न होने पर यज्ञकुण्ड में पञ्चभूसंस्कार कर मेखलापूजन, कण्ठपूजन, नाभिपूजन एवं विश्वकर्मा पूजन क्रमशः कर शतमङ्गला नामक पवित्र अग्नि का स्थापन करें।[2]

नवग्रहादिदेवता पूजन

अग्नि स्थापन के अनन्तर प्रतिष्ठा मण्डप के ईशानकोणीय स्तम्भों के पार्श्व में चौकी पर सफेद वस्त्र के ऊपर नवग्रह-अधिदेवता-पञ्चलोकपाल-दशदिकपालादि[3] का स्थापन व पूजन के लिए सङ्कल्प करें, फिर नवग्रहादि देवताओं का स्थापन कर षोडशोपचार से आवाहन और पूजन करें। इसी प्रकार मण्डप के आग्नेयकोण में भी चौंसठ (64) योगिनीयों का चौकी के ऊपर श्वेत वस्त्र पर निर्माण कर सर्वाधिक पूजन करें।[4] और फिर क्षेत्रपाल देवता के लिए भी प्रतिष्ठामण्डप के वायव्य कोण[5] में चौकी पर नवकोष्ठकों का निर्माण कर क्षेत्रपाल देवता का भी आवाहन स्थापन एवं पूजन करना चाहिए।[6] उपरोक्त सभी चौकियों में तत्-तत् देवताओं का कलश स्थापन कर

---

1. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 143
2. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 143
3. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 143-148
4. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 168
5. आग्नेयं मातृकावेदी वास्तुवेदी च नैऋतीं,
   क्षेत्रपालस्य वायव्यामीशान्यां च नवग्रहः। पूजाकर्मप्रदीप मण्डपविधान पृष्ठ 152
6. श्रीप्रभुविद्याप्रतिष्ठार्णव पृ. 301

प्रतिमाओं का अग्न्युत्तारण कर स्थापन और पूजन विधिवत् करना चाहिए।

उपरोक्त सभी देवताओं का आवाहन स्थापन और पूजन एवं प्राणप्रतिष्ठा कर्म के हो जाने पर हवन कुण्ड में स्थापित शतमङ्गला नामक अग्नि का पूजन कुशकण्डिका एवं पात्रसान अवश्य करें[1] फिर आवाहित देवताओं के हवन हेतु सङ्कल्प करें।

सङ्कल्प– देशकालौ सङ्कीर्त्य अस्मिन् पञ्चदेवप्रतिष्ठाकर्मणि इमानि हवनीयद्रव्याणि या या भक्ष्यमाण देवतास्ताभ्यास्ताभ्यो मया परित्यक्तं न मम यथा दैवतानि सन्तु॥

तदनन्तर सर्वप्रथम अग्नि के लिए घृत की तीन आहुति प्रदान करें। फिर गणेश अम्बिका से प्रारम्भ कर सभी आवाहित देवताओं। (वरुणदेव, षोडशमातृका, नवग्रह, सर्वतोभद्र, चतुष्षष्टि, वास्तुपुरुषादि) का होम करना चाहिए। तत्पश्चात् पञ्चदेव–गणपति–विष्णु–दुर्गा–सूर्य–शिव का प्रधान होम सहस्रनामावली से करें।[2] **ॐ गणेशवरायस्वाहादि** सहस्रनामों से गणपति का **ॐ विश्वस्तै स्वाहादि** के द्वारा विष्णु के सहस्रनाम से विष्णु का, **ॐ दुँ दुर्गायै स्वाहादि** सहस्रनामावलि से सूर्य का, एवं **ॐ विश्वजिते स्वाहादि** सहस्रनामावलि से सूर्य का, एवं **ॐ स्थिराय स्वाहादि** सहस्रनामावलि से शिव का प्रधान होम किया जाना चाहिए। मूल मन्त्र या श्लोकों से हवन किया जा सकता है।

जलाधिवासादिकर्म

तदुपरान्त आचार्य पञ्चदेवों की मूर्तियों के निर्माण करने में हुए प्राणिवधादिदोष निवारण के लिए **'सङ्कल्प–घृतेन तिलैः वा होमं करिष्ये'** सङ्कल्प करें पञ्चदेवताओं के मन्त्र से घृत की दो सौ आहुतियाँ दे। पूर्णाहुति के पश्चात् मूर्ति का कुशाओं द्वारा समार्जनकर शहद शुद्धघृत से मूर्तियों का अंजन करवाकर पञ्चदेवों की प्रतिमा ब्रणभङ्ग कर पूजन व पञ्चगव्य से पृथक्–पृथक् स्नान करवाकर पुनः यजमान पूजन करें। फिर जलद्रोणी में पञ्चदेवताओं की मूर्ति का अधिवासन करे। यह अधिवासन स्नान मण्डप में भी हो सकता है।[3] शय्यामर्चाधिवासः के लिए आचार्य एवं ब्राह्मण प्रतिमाओं के समक्ष पञ्चदेवों के सूक्तों का उच्चारण एवं मन्त्रपाठ करते हुए गणेशादि देवों को निद्रा से जगावें।[4] फिर यजमान से क्रमानुसार प्रतिमाओं को उठवाकर रथ में रखवायें फिर आचार्य, ब्राह्मण,

---

1. श्रीप्रभुविद्याप्रतिष्ठार्णव पृ. 315
   (क) एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः (अर्थात् लौकिक हवन कर्म में कुशकण्डिका सर्वत्र आवश्यक है) (पारस्करगृह्यसूत्र 1.1.27)
   (ख) उपयमन प्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम्। पारस्करगृह्यसूत्र 1.9.1
2. यस्य देवस्य यो होमस्तस्य मन्त्रेण होमयेत्। (यज्ञमीमांसा पृ. 300)
3. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 297
4. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 297

यजमान सुहागिनी स्त्रियों के सहित मङ्गल घोष जल कलश व मन्त्रपाठ के साथ ग्राम की प्रदक्षिणा करते हुए प्रतिष्ठा मण्डप के पश्चिम द्वार मण्डप में प्रवेश कर वेदी के पश्चिम में भद्रपीठ पर प्राङ्मुख पञ्चदेवों के रखें और स्वयं उत्तराभिमुख हो यजमान अपनी शाखा से विधिपूर्वक मधुपर्क निवेदित करें।[1] तदनन्तर पञ्चदेव प्रतिष्ठा विहित न्यासों को प्रणव न्यास से प्रारम्भ कर सभी वेदताओं का षोडश न्यास कर अन्त में निवृत्ति न्यास कार्य करना चाहिए।[2]

न्यास करने के अनन्तर होम प्रारम्भ करें सर्वप्रथम एककुण्डीपक्ष होम तदनन्तर शान्ति पौष्टिकहोम, वेदादिहोम, मूर्त्यादिहोम, महाव्याहृतिहोम, प्रधानपञ्चदेवतालिङ्गकहोम तत्-तत् देवों के मन्त्रों की एक हजार आठ अथवा एक सौ आठ आहुतियाँ क्रमशः देनी चाहिए।[3] तदनन्तर प्रतिष्ठा स्थल में पिण्डिका स्थल में पिण्डिका (गड्ढे) में वृष वास्तुदेव की प्रतिमा को मिट्टी के भाण्ड में स्थापित करें[4] आधारशक्तये नमः इत्यादि मन्त्रों से पिण्डिका (गड्ढे) में भूमि का पूजन कर चाँदी या स्वर्ण के कूर्म का स्थापन करे। साथ में पिण्डका के अन्दर नव रत्नों पञ्चरत्नों को स्थापित करना चाहिए तदनन्तर पारद के अतिरिक्त गुगल, शहद, पायश के अनुलेपन से रत्नों को स्थिर कर **'ॐ कवचाय हुम्'** मंत्र से अवगुण्ठन कर और **'ॐ स्त्राय फट'** से संरक्षण करना चाहिए। पुनः **ॐ मनोजूतिर्जूषतामाज्यस्यादि.....।** से प्रतिष्ठा कर, मण्डप के बाहर इन्द्रादि दश दिग्पालों के लिए बलि प्रदान कर आचमन कर लेनी चाहिए[5] फिर पायस् आदि से पिण्डिका की शुद्धि कर स्वर्णकमल को पिण्डिका में सर्वप्रथम रखकर पञ्चदेवों की प्रतिमाओं को मुहूर्त के निकट आ जाने पर ईश्वर का चिन्तन व मन्त्र पाठ के साथ यव या यवार्ध स्वर्णाशलाकान्तरित पञ्चदेवों की मूर्ति को पिण्डिकाओं में स्थिर करें[6] फिर प्रतिष्ठाविषयक मन्त्रों **ॐ मनोजूति.....। अथवा ॐ ध्रुवोयं यजमानोस्मिन्नायतनेप्रजयापशुभिर्भूर्यात्। घृतेन द्यावा पृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्यच्छदिरसि विश्वजनस्यछाया। ॐ आत्वाहर्षमन्तरभूद्ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः। विशस्त्वा सर्वार्वावाञ्छान्तुमात्व- द्रष्टामधि भ्रशत्। ॐ ध्रुवासिधरुणास्तृताविश्वकर्मणा। मात्वासमुद्राऽउद्वधीन्मसुपर्णोव्यथमाना- पृथिवीन्दृर्ढह।** को पढ़कर कहे– **'स्थिरो भवः शाश्वतो भव'।**[7]

तदनन्तर शिल्पी को पूजनादि से प्रसन्न कर शिल्पकार से वज्रलेपादि के द्वारा प्रतिमाओं को सुदृढ़ करवा लें। पुनः कथमपि चालन न करें। प्रतिष्ठा काल में सभी ब्राह्मण पञ्चदेवतरपरक मन्त्रों का पाठ करते रहें।

---

1. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 298
2. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 300-315
3. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 316-324
4. श्रीप्रभूविद्याप्रतिष्ठार्णव पृ. 445-446
5. श्रीप्रभूविद्याप्रतिष्ठार्णव पृ. 459
6. श्रीप्रभूविद्याप्रतिष्ठार्णव पृ. 463
7. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य ध्रुवसूक्त पृ. 325

प्राणप्रतिष्ठा

अब मूर्तियों के शिर या हृदय को स्पर्श कर प्राण प्रतिष्ठा मन्त्र और प्राणसूक्त से प्राण प्रतिष्ठा इस प्रकार करें।

विनियोग

अस्या प्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्राह्मविष्णरुद्र ऋषयः, ऋग्यजुः समातानि छन्दांसि क्रियामपवपुः प्राणाख्या देवता आं बीजं ह्रीं शक्तिः क्रौं कीलकं प्राणप्रतिष्ठायां विनियोगः।

मन्त्र

ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः गणपति, विष्णु, दुर्गा, सूर्य, शिव देवस्य प्राणा इह प्राणाः। ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः गणपति, विष्णु, दुर्गा, सूर्य, शिव देवस्य जीव इह स्थितः। ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः गणपति, विष्णु, दुर्गा, सूर्य, शिव देवस्य सर्वेन्द्रियाणि। ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः गणपति, विष्णु, दुर्गा, सूर्य, शिव देवस्य वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रजिह्वाघ्राणप्राणा इहागत्य स्वस्तये सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।[1] प्राण प्रतिष्ठा के पश्चात् सभी ब्राह्मण प्राणसूक्त का पाठ करें।

प्राणसूक्त

ॐ प्राणो रक्षति विश्वमेजत्। इयो। भूत्वा बहू बहूनि। स इत्सर्वं व्यान शे। यो देवषुः विभूरन्तः। आवृदुदात्क्षेत्रियध्वगद्धषा। तमित्प्राणं मनसेपशिक्षत। अग्रं देवानाभिदमत्तु नोहवि'। मनसश्चित्तेदम्। भूतं भव्यं च गुण्यते तद्धि देवेष्वग्नियम्।

आ न एत्तु पुरश्चरम्। सह दैवैरिमर्ढहवम्। मनश्श्रेयसि श्रेयसि। कर्मन् यज्ञपर्त्ति दधत्। जुषतां मे वागिदर्ढ हविः। विराड देवी पुरोहिता हव्यावाऽनपायिनी। यमारूपायिनी बहुधा वदन्ति। पेशाँसि देवाः परमे जनित्रे। सा नो विराढनपस्फुरन्ती।

वाग्देवी जुखतामिदर्ठहविः। चक्षुर्देवानां ज्योतिरमृते न्यक्तम्। अस्य विज्ञान बहुधा निधीयते। तस्य सुम्नमशीमहि। मानो हासीद्विचक्षणम्। आयुरिन्नः प्रतीर्यताम्। अनन्धाश्चक्षुषा वयम्। जीवा ज्योतिरशी महि सुवाज्योतिरुत्तमृतम्। श्रोत्रेण भद्रमुत शृण्वन्ति सत्यम्। श्रोत्रेण वाचं बहुधोद्यमानाम्। श्रोत्रेण मोदश्च श्रूयते। श्रोत्रेण सर्वा दिश आ शृणोमि। येन प्राच्या उत दक्षिणा। प्रतीच्यै दिशश्रृणवन्त्युत्तरात् तदिच्छ्रोत्रं बहुधोधामानम्। आरान्त नेमिः परिसर्वं बभूव। अग्नियमनपस्फुरन्ती सत्यर्ठसप्त च।।[2]

---

1. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 325
2. तैत्तिरीयब्राह्मण 2/1 पृ. 225-229

तदनन्तर प्रार्थना करें–

अस्यै प्राणाः प्रतिष्ठन्तु अस्ये प्राणाः क्षन्तु च।
अस्यै देवत्वमर्चायै स्वाहेति याजुरीयेत्।।[1]

फिर निम्न मन्त्र से पञ्चदेवताओं का सजीव ध्यान करें–

ॐ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतोवाहुरुत विश्वतस्पात्। स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्धावाभूमीजनयन् देव एकः।[2]

पञ्चदेवों की प्रतिष्ठ के अनन्तर तत्-तत् देवताओं के वाहन और उनके पार्षदों का भी उचित विचार कर देवप्रतिमाओं के समीप स्थापन करना चाहिए। सभी पार्षदों का भी उपरोक्त विधि से पूजन प्राणप्रतिष्ठा कर स्थापन किया जाना चाहिए।[3] तत्पश्चात् पञ्चदेवों (गणेश, विष्णु, दुर्गा सूर्य, शिव) का पञ्चायतन बनाकर पञ्चदेवों का पुनः पृथक्-पृथक् षोडशोपचार से पूजन कर प्रतिमाओं का शृङ्गार करना चाहिए। कङ्कण, छत्र, चँवर, जलकलश रेशमीवस्त्र विभिन्न प्रकार के भक्ष्य पदार्थ मिष्ठान्न फल सुगन्धित पुष्प अङ्गप्रत्यङ्ग के आभूषण व देवताओं की प्रिय सभी वस्तुओं को प्रदान करना चाहिए। तत्पश्चात् यज्ञस्थल में जाकर अग्नि का पूजन कर स्विष्टकृद्होम, भूरादिनवाहुति, पञ्चवारुणहोम, प्रायश्चित् हो मादि करें। अब क्षेत्रपाल बलिदानादि कर्त कर पूर्णाहुति करें। फिर वसोधाराहोम, अग्निप्रदक्षिणा, पूर्णपात्र दान, हवनीभष्मधारण एवं गोदान सङ्कल्प आचार्यदक्षिणा सङ्कल्प, प्रधानपीठदान सङ्कल्प, ब्राह्मणभाजनसङ्कल्प[4], श्रेयोदान कलशजलाभिषेक आदि सभी कर्म कर लेने चाहिए अन्त में आवाहित देवों का विसर्जन करना चाहिए।[5] अचल प्रतिमा का विसर्जन नहीं किया जाता।[6] देवताओं की प्रतिष्ठा ज्योतिष व वास्तु को जानने वाले अच्छे कर्मकाण्डी देवाचार्य से ही करवानी चाहिए क्योंकि अपूर्ण व विधिहीन प्रतिष्ठा यजमान, ब्राह्मण व उस नगर के लोगों के लिए भी अकल्याणकारी होती है।[7]

---

1. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 326
2. शुक्लयजुर्वेदसंहिता 17/19
3. पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 332
   (क) ॐ वर्षाहूर्ऋत् ..... मन्त्र से गणपति के वाहन मूषक का. शुक्लयजुर्वेदसंहिता पृ. 24-39
   (ख) ॐ अग्न इन्द्र ..... मन्त्र से गणपति के वाहन गरुढ़ का. शुक्लयजुर्वेदसंहिता पृ. 24-48
   (ग) ॐ खड्गोवैश्वदेवः ..... मन्त्र से गणपति के वाहन सिंह का. शुक्लयजुर्वेदसंहिता पृ. 24-47
   (घ) ॐ वासतरर्ठ. हा भव ..... मन्त्र से गणपति के वाहन अश्वरथ का. शुक्लयजुर्वेदसंहिता पृ. 9
   (ङ) ॐ आशुः शिशनो ..... मन्त्र से गणपति के वाहन नन्दी का. शुक्लयजुर्वेदसंहिता पृ. 17-33
4. इति प्रार्थ्य यथाशक्तिः दक्षिणामर्चकाय च
   दधातदग्रे विप्रेभ्यो भोजनं च स्वशक्तिः।। ना.सं. ब. 32/18
5. पूजा स्विष्टं नवाहुत्यो बलिः पूर्णाहुतिस्तथा
   श्रेयः सम्पाद्य दानं च ह्यभिषेको विसर्जनम्।। पञ्चदेवप्रतिष्ठारहस्य पृ. 403
6. नित्यकर्मपूजाप्रकाश पृ. 184
7. नारदसंहिता अ. 28 श्लो. 11

प्रतिमा निर्माण कला

योगेन्द्र कुमार शर्मा

जो हमारा पालक, उत्पन्न करने वाला, विश्वरूप से जगत को धारण और पोषण करने वाला है, विश्व के सारे धामों लोकों और उत्पन्न होने वाले पदार्थों को जानता है। जो समस्त देवों के नाम रखकर उनको उनके स्थान पर रखने वाला अकेला अद्वितीय है। उसे अन्य सब प्राणी कोन परमेश्वर हैं? पूछते-पूछते प्राप्त करते हैं।[1]

वास्तुशास्त्र की निर्माण प्रक्रिया विश्व निर्माण से ही प्रारम्भ होती है इसलिये वैदिक ऋषि इस चिन्तन में सलग्न हैं कि इस विश्व को किसने बनाया? और कैसे बनाया, तथा किस पदार्थ का उपयोग किया गया? इत्यादि। उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि वास्तु में दैवी अवधारणा ऋग्वैदिक काल से ही उपलब्ध होती है। ऋग्वेद में वास्तु[2] वास्तोः[3] वास्तूनि[4] तथा वास्तुप[5] जैसे अनेक शब्दों का विवरण मिलता है।

ऋग्वेद में वास्तोष्पति से गृह के स्तम्भों को सुदृढ़ बनायें रखने का अनुरोध किया गया है।[6] एक अन्य प्रसंग में इन्हें वास्तुकृतियों में प्रविष्ट रोगों का नाशक भी बताया गया है[7]। वास्तोष्पति को देवताओं द्वारा गढ़कर तैयार करने की बात कही गयी है।[8] जबकि वास्तोष्पति सूक्त[9] में इनको रोग नाशक धन-धान्य वृद्धि कारक एवं योग क्षेम में सहायक बताया गया है। सनातन वाङ्मय में वास्तु के दैवीय चिन्तन का परिणाम यह हुआ कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वास्तु संरचनायें देव भावना के साथ पूजित एवं निर्मित की जाने लगी। वैदिक अवधारणा में वास्तु के चिन्तन में स्थायी जीवन को आधार प्रदान करने वाला एक पक्ष स्तम्भ का रहा है। स्तम्भसूक्त[10] में देवीय भावना से

1 यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या -(ऋग्वेद 10-82-03)

2 ऋग्वेद -5.41.08 , 7.54.1-3 , 8.17.14

3 ऋग्वेद -1.154.6

4 ऋग्वेद -5.54.1-3

5 वाज. संहिता - 16-39

6 ऋग्वेद -8.17.14

7 ऋग्वेद -7.55.1

8 ऋग्वेद -10.16.7

9 ऋग्वेद-7 .54

10 अथर्ववेद-10.7

ओत प्रोत 44 मन्त्रों में स्तम्भ के महत्व को प्रदर्शित किया गया है। ऋग्वेद काल से ही यह अवधारणा विकसित हो गयी कि जिस प्रकार गृह का छादन स्तम्भ पर टिका है ठीक उसी प्रकार यह द्युलोक ब्रह्म के सहारे टिका हुआ है[1]। सर्वविदित है कि गृह के विभिन्न भाग स्तम्भों पर ही टिके रहते थे और आज भी टिके रहते हैं तथा आगे भी टिके रहेंगे। हमारे स्थापत्य में विद्वानों का मानना है कि वैदिक चिति (वेदी) से ही वास्तु-पूजन का प्रारम्भ हुआ। शुल्वसुत्रों में वेदी रचना के जो मान उन्मान निवेश आदि प्रक्रियायें दी गयी हैं उन सबसे वैदिक ऋषि भली भाँति परिचित थे। परवर्ती विधानों से स्पष्ट हो गया कि यज्ञ-वेदी का अधिष्ठान ही मन्दिर (प्रासाद) वास्तु के रूप में परिणत हुआ, अतः स्पष्ट है कि मन्दिर वास्तु का आधार वैदिक कालीन यज्ञ वेदी ही है।[2]

वस्तुतः वास्तुशास्त्र के तीन अंग मुख्य रूप से स्वीकार किये हैं -वास्तु, शिल्प एवं चित्र[3]। ये तीनों परस्पर एक दूसरे के उपकारक हैं। भारतवर्ष में कला उपलक्षणात्मक रूप में पल्लवित हुई । उपलक्षण (प्रतीक) की अवधारणा के रूप में ही चित्रण एवं मूर्तिकला का विकास हुआ[4]। भारतीय चिन्तन धारा में वास्तुशास्त्र एक सुदृढ़ एवं वैज्ञानिकता से परिपूर्ण परम्परा है जो आदि काल से चली आ रही है। आज समाज में इस शास्त्र की सर्वाधिक चर्चा होती है परन्तु सम्यक शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में हमारा समाज कुछ दिक् भ्रमित लगता है। आज इस शास्त्रीय तथा समुज्ज्वल वैज्ञानिक परम्परा से लोगों को अवगत किया जाये तो इस शास्त्र के जिज्ञासुओं तथा अनुरागियों को सर्वाधिक लाभ होगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह लेख लिखा जा रहा है जिससे की वास्तव में प्रतिमा निर्माण के पीछे क्या कला व सोच रही होगी जिसको कि आज तक हमारा समाज सतत पूजता आ रहा है।

वस्तुतः भारतवर्ष में कोई भी कार्य विना देव कल्पना के प्रारम्भ नहीं होता, कोई भी शास्त्र पढ़ने योग्य नहीं माना जाता और न ही कोई कला उपयोगी होती है, अतः कह सकते हैं कि सर्वत्र देव भावना ही समाहित होती है, जैसे - वास्तु में वास्तुपुरुष, संगीत में नादब्रह्म, आलेख में जगन्नाथ के चित्र-पट, अध्ययन में माँ सरस्वति, धन-सम्पत्ति में माँ लक्ष्मी, शौर्य में माँ शक्ति तथा नृत्य में नटराज शिव इत्यादि।[5]

प्राचीनकाल में पत्थर या धातु की प्रतिमाएँ नहीं बनती थीं, वे प्रायः मिट्टी की या फिर लकड़ी की होती थीं। वैदिक काल में यज्ञ के समय लकड़ी के यंत्र प्रयोग में आते थे तथा ईटों की वेदियां बनती थी। वैदिक ऋचाओं में लकड़ी का बड़ा महत्व है। यहाँ तक लिखा है कि

---

1 ऋग्वेद - 4.5.1

2 द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल-भारतीय स्थापत्य, पृष्ठ सं. 239

3 वास्तुशास्त्र विमर्श द्वितीय पुष्प सम्पादकीय पृष्ठ 9

4 एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा यतः।
मनोहरतरं कुर्यान् नाना चित्रैर्विचित्रितम् ।। शिल्परत्नम्

5. वास्तुशास्त्र विमर्श सम्पादकीय पृष्ठ ix पञ्चमपुष्प।

विश्वकर्मा ने किस लकड़ी से पृथ्वी तथा आकाश को गढ़ा -**किमस्विद्वनं कौ सवृक्षासयतोद्यावा पृथ्वी निष्टतक्षुः**[1]।

वृहत्संहिता में पूरे ब्योरे के साथ दिया है की किस प्रकार की काष्ट से किस वर्ण की प्रतिमा बनायें, तद्यथा-

देवदार, चन्दन, शमी, तथा मधुक	- विप्र वर्ण के लिये ।
अरिष्ट, अश्वत्थ, खदिर, तथा विल्व	- क्षत्रिय वर्ण हेतु ।
जीवक, खदिर, सिन्धूक तथा स्पन्दन	- वैश्य वर्ण के लिये ।
तिन्दुक, केशर, सरज, अर्जुन, शाल, अमड़ा	- शूद्र वर्ण हेतु लकड़ी[2]।

लकड़ी काटने के पहले वृक्ष की उपासना का भी बड़ा महत्व था[3]। भविष्यपुराण में तो प्रतिमाविधि पर बड़ा अच्छा विवेचन उपलब्ध है[4]। विष्णुधर्मोत्तर में देवालयों के निर्माण में काम आने योग्य लकड़ी के परीक्षण का विधान है[5]। मत्स्यपुराण में दार्वाहरण विधि पर विस्तार से लिखा है[6]। महाकवि भोजदेव नरेश ने भी लकड़ी की प्रतिमा का उल्लेख किया है[7]।

सामान्यतया तीन प्रकार की प्रतिमाओं का निर्देश मिलता है जिसमें सात्विक, राजसी तथा तामसी प्रतिमाएं हैं, जहां पर जैसी आवश्यकता हो वहां पर वैसी प्रतिमा की पूजा करनी चाहिये[8]। सात्त्विकी प्रतिमा के लक्षणों में जो प्रतिमा योगमुद्रा से युक्त, स्वाभाविक अवस्था में स्थित, वरदान तथा अभयदान देने वाली मुद्रा से युक्त हाथों वाली एवम् इन्द्रादि देवता जिसकी स्तुति तथा नमन कर रहे हैं[9] तथा जो प्रतिमा किसी वाहन पर बैठी हुई तथा नाना आभूषणों से युक्त होती है एवं जिसके हाथों में अस्त्र, शस्त्र तथा वर और अभयदान की मुद्रा बनी हुई हो वह राजसी होती है[10]

---

1. ऋग्वेद-10.81.4
2. वृहत्संहिता -वनप्रवेशाध्यायः (58) सुधाकर द्विवेदी संस्करण ।
3. नमस्तेः वृक्ष पूजयेम विधिवत् सम्प्रगृह्यताम् - वृहत्संहिता 58.10-11
4. भविष्यपुराण, प्रथम ब्रह्मपर्व, अध्याय 131-
5. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, देवालयार्थ दारूपरीक्षणम्, खण्ड-3 अध्याय 89,
6. वास्तुविद्यानुकीर्तनम् -मत्स्यपुराण, अध्याय 257
7. प्रतिमानामथ ब्रूमो लक्षणं द्रव्यमेव च - भोज, ।। खण्ड, श्लोक 1
8. सात्त्विकी राजसी देवप्रतिमा तामसी त्रिधा ।
   विष्ण्वादीनां च या यत्र पूज्या तु तादृशी ।। शुक्रनीति अध्याय 4, श्लोक 80
9. योगमुद्रान्विता स्वस्था वराभयकारान्विता ।
   देवेन्द्रादिस्तुतनुता सात्त्विकी सा प्रकीर्तिता ।। शुक्रनीति अध्याय 4, श्लोक 81
10 तिष्ठन्ति वाहनस्था वा नानाभरणभूषिता ।
   या शास्त्रास्त्राभयवर-करा सा राजसी स्मृता ।। शुक्रनीति अध्याय 4, श्लोक 82

तथा जो प्रतिमा शस्त्र तथा अस्त्रों से दैत्यों को मारने वाली, उग्र रूप को धारण किये हुई, सदा युद्ध के लिये उत्सुक रूप में होती है, वह तामसी प्रतिमा होती है[1]।

वस्तुतः जिस प्रकार की मिट्टी का प्रयोग प्रतिमा के लिये होता था वह भी साधारण मिट्टी नहीं होती थी। उसमें लोहा तथा पत्थर भी पीसकर मिलाते थे ऐसी मजबूत मिट्टी का प्रयोग यूनानी लोग अपनी मूर्तीयाँ बनाने में करते थे। तीसरी से पाँचवी सदी में प्राप्त गान्धार देश की मूर्तियाँ भी ऐसी ही मिट्टी की होती थी[2]। हयशीर्ष-पंचरात्र में पाषाण शब्द आया है, पर लकड़ी का महत्व अधिक अवश्य था। आज भी बंगाल में नित्य पूजा में उपयोग वाली मूर्तियाँ लकड़ी की बनायी जाती हैं। मन्दिरों की तरफ दृष्टिपात करने से पता चलता है कि पुरी में भगवान जगन्नाथ, सुभद्रा, बलराम की विशाल प्रतिमाएं लकड़ी की ही हैं। वे हर बाहरवें साल बदल दी जाती हैं तथा पुरानी मूर्तियाँ भूमि में दबा दी जाती हैं। प्राचीन लकड़ी की प्रतिमाएं अब इसलिये नहीं मिलती कि वे समय पाकर नष्ट भ्रष्ट हो गयी हैं।[3]

सनातन, बौद्ध, जैन धर्मों में से प्रत्येक में प्रतिमा निर्माण का निश्चित विज्ञान था। प्रतिमाएं विना नाप तोल (जोख) अशुद्ध समझी जाती थी। यदि शास्त्र विरुद्ध मूर्ति का मुख बना हो तो गृहपति अथवा वृद्ध की मृत्यु होगी[4]।

सामान्यतः प्रतिमाओं की नाप-जोख अंगुली में दी गयी है। एक अंगुली का नाप हथेली का चौथाई भाग होता था[5]। पुराना मापदण्ड, जहां तक प्रतिमाओं का सम्बन्ध है, एक समान नहीं हैं । पहले तो शिव को जिसे वेद ने पुरुष कहा है, हम मापदण्ड में ला ही नहीं सकते, वह पुरुष समूचे विश्व में व्याप्त होते हुए भी उससे दस अंगुल ऊपर है[6]।

वस्तुतः बृहत्संहिता इत्यादि ग्रन्थों में जो माप दी गई हैं, वह काफी सूक्ष्म हैं। उसके अनुसार छोटे रन्ध्र से सूर्य की जो किरणें आती हैं उनका एक कण ही परमाणु है। धूल की एक कणिका, जिसे रज कहते है, आठ परमाणुओं को मिलाकर बनती हैं। आठ रजों को मिलाकर एक बालाग्र (एक केश के आगे का भाग) बनता है । आठ बलाग्रों को मिलाकर एक लीक्षा(लीख) बनती है। आठ लीक्षाओं का एक यूक बना, और आठ यूकों का एक यव (जौ का दाना) बना। आठ यवों का एक अंगुल बना[7]। शुक्रनीत्यानुसार तो एक मुट्ठी के चौथाई भाग को अंगुल कहते हैं[8]। आत्रेय

---

1. शस्त्रास्त्रैर्दैत्यहन्त्री या ह्युग्ररूपधरा सदा ।
   युद्धाभिनन्दिनी सा तु तामसी प्रतिमोच्यते ।। शुक्रनीति अध्याय 4, श्लोक 83
2. Banerjee & Hindi Iconography, page 210-211
3. Banerjee-Hindi Iconography, page -212
4. आशास्त्रेण मुखं कृत्वा यजमानो विनश्यति । आत्रेय तिलक -10
5. पल्लवानां चतुर्भागो मापलाङ्गुलिका स्मृता । आ.ति. - 4
6. स भूमिं विश्वतो वृत्वाम् अत्यतिष्टद्दशांगुलम् । ऋग्वेद -पुरुषसूक्त 10.90
7. बृहत्संहिता 57.2
8. स्वस्थमुष्टेश्चतुर्थांशो ह्यंगुलं परिकीत्तितम् -शुक्रनीति 4.4.82

ने भी हथली का चतुर्थांश एक अंगुल माना है।[1] इस लिये दोनों की माप एक हुई। प्रतिमा खड़ी या बैठी है अर्थात् उसकी पीठ या वेदी को छोड़कर उसकी समूची लम्बाई को 12 भागों में विभाजित करें, फिर 9 भागों में। ऐसे विभाजन में प्रत्येक भाग एक अंगुल के बराबर ही होता है।

आत्रेय तिलक[2] में चतुष्ताल माप के सम्बन्ध में जो माप-दण्ड दिया है, वह सिर एक अंगुल, चेहरा बारह अंगुल, गर्दन एक अंगुल, गर्दन के नीचे से कमर तक बारह अंगुल, नितम्ब अर्धांगुल, उरु एक अंगुल, जंघा नवांगुल, घुटना एक अंगुल, नवांगुल पेन्डुली, अर्धांगुल एड़ी एवं चरण एक का होना चाहिए।

बृहत्संहिता[3] में मापदण्ड का विधान कुछ भिन्न है जैसे- नाक, मस्तक, ग्रीवा, ठोढ़ी, गर्दन, कान सब चार अंगुल के हों तथा जबड़े दो अंगुल चौड़े हों। ठोढ़ी की चौड़ाई दो अंगुल हो तथा उन्होनें तो यहां तक कहा है कि प्रतिमा को ठीक से नहीं बनाने का परिणाम बहुत भयंकर हो सकता है जैसे यदि शिवलिंग अनुपात रहित लम्बा या पतला है तो जहां पर निर्माण हुआ है उस स्थान (देश) को नष्ट कर देगा, जिस शिवलिंग का अगल बगल का हिस्सा ठीक नहीं है तो वह जिस नगर में स्थित है उसके स्वामी का संहार कर देगा[4]।

महर्षि शुक्राचार्य ने शुक्रनीति में कहा है कि बालू से लेकर धातु पर्यन्त की बनी प्रतिमाओं की उत्तरोत्तर स्थिरता की अधिकता होती है, जिसमें क्रमशः बालू की प्रतिमा से चावल की, मिट्टी की, काष्ठ की, पाषाण की, धातु की उत्तरोत्तर अधिक स्थिर होती हैं[5]।

प्राचीन शास्त्र तथा प्रतिमा निर्माण कला से परिचित लोग आजकल मूर्तियाँ बनवाते हैं या बनाते हैं वे प्रायः अशुद्ध होती हैं। इसीलिए उनके पुजारी या पूजक की साधना निरर्थक होती है। मूर्ति भी निष्प्राण बनी रहती है। मूर्ति या अवतार देखने में उपर से चाहे भिन्न आकृति एवं कलेवर के प्रतीत हों परन्तु वास्तव में वे सब एक ही परम शिव या परा शक्ति जो भी कहिये के प्रतीक हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में तो बताया गया है कि भण्डासुर के साथ ललीता के युद्ध में सभी अवतार निकले हैं[6]।

शैव वैष्णव आदि साम्प्रदायिक झगड़ों में एक सम्प्रदाय वालों ने दूसरे के मन्दिर तथा

---

1. आत्रेय तिलक श्लोक, 123-126
2. आत्रेय तिलक - श्लोक 123-126
3. नसाललाटचिबुकग्रीवाश्चतुर्गुलास्तथाकर्णौ ।
   द्वे अंगुले च हनुनी चिबुकं च द्व्यङ्गुलं विततम् ।। बृ,सं.57.05
4. दृशदीर्घ देशघ्नं पाश्वविहिनं पुरस्य नाशाय। यस्य क्षतं भवेन्मस्तके विनाशाय तल्लिंगम् ।। बृ,सं.57.55
5. प्रतिमा सैकती पैष्टी लेख्या लेप्या च मृम्मयी ।।
   वार्क्षी पाषाणधातूस्था स्थिरा ज्ञेथोत्तरा । शुक्रनीति - अ. 4, श्लोक 75,76
6. करांगुलि नखोत्पन्ना नारायणदशाकृतिः -ललितसहस्रनाम् 73, सौभाग्य भास्करटीका से उद्धृत

उसके संहार पर प्रकाश डालते हुए डा. जे. एन. बेनर्जी लिखते हैं-**मध्ययुग में प्राप्त मूर्तियों की वास्तुकला से यह प्रगट है कि वे पूरी तरह से भिन्न ग्रन्थों में वर्णित परिचय आदेश के अनुकूल बनायी गयी थीं, उनसे मिलती जुलती भी हैं, पर ऐसी बहुत सी मूर्तियाँ है जो आंशिक रूप से मिलती हैं, तथा नहीं भी मिलती.....अनगिनत मूर्तियाँ जिनमें धार्मिक कला की अमूल्य कृतियाँ थी, मूर्तिध्वंसकों की बर्बरता द्वारा नष्ट हो गयीं जिनकी क्षति पूर्ति असम्भ है। इन प्राचीन कला कृतियों के संहार का दोष केवल अन्य धर्मावलम्बी तथा मूर्ति-विरोधियों के सिर मढ़ देने से काम नहीं चलेगा। प्राचीन तथा मध्यकालीन युग के ऐसे अनेक भग्नावशेष पड़े हुए हैं जिनको युगों से लोग (देवालयों में) अपने रहने के उपयोग में लाते हैं**[1]।

मूर्ति हमारे धर्म तथा शास्त्र का महत्वपूर्ण अंग है। इसका उपयोग केवल दैवी या प्राकृतिक विभूतियों को प्रतीक रूप में दर्शाना हैं जो अन्यथा अव्यक्त रह जाती है। मूर्ति शब्द का प्रयोग देवी भागवत में भी बड़े महत्व के स्थानों में हुआ है[2]।

भारतीय प्रतिमाओं के प्रतीक, हमारे यन्त्र, हमारे मन्त्र कहीं अधिक गूढ़ हैं। देश के किसी भी कोने में चले जाए, प्राचीन प्रतिमाओं का एक वैज्ञानिक निरूपण मिलेगा, उनकी निर्माण कला साधारण नहीं हैं। प्रायशः सभी कलाकार हाथ, पैर, मुंह को नाप जोड़कर बनाते हैं पर भारतीय प्रतिमाएं एक आध्यात्मिक संतुलन पर बनती थीं। उनका निर्माण साधारण व्यक्ति का काम नहीं था। अतः बिना जानकारी के मूर्ति को देखकर उसका रहस्य भी समझा नहीं जा सकता।

---

1. Development of hindu iconography - page no- 32,33
2. कृत्वा रतिकलां सर्वां मूर्ति च सुमनोहराम् - 9.9.30

यज्ञ में ज्योतिषीय तत्व : वास्तु के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. रजनी, कुसुममौर्या

वैदिक वाङ्मय में समग्र सामाजिक जीवन का केन्द्र बिन्दु यज्ञ को ही माना गया है। यह भारतीय धर्म, संस्कृति एवं परम्परा के प्राण हैं तथा वैदिक वाङ्मय का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में मानव के संपूर्ण जीवन को यज्ञमय बताते हुए इसे श्रेष्ठतम कर्म[1] व भुवन की नाभि[2] कहा गया है। एक दिन से लेकर कई वर्ष तक चलने वाले यज्ञों का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है, जिनका साङ्गोपाङ्ग क्रमिक व व्यवस्थित विवेचन कल्प के अन्तर्गत श्रौतसूत्र में हुआ हैं। ये कल्पसूत्र षड्वेदांगों में परिगणित हैं तथा वेदविहित यागादि कर्मों का प्रतिपादन करते हैं[3]। इन यज्ञों को निष्कण्टक रूप से संपादित करने व फलदायी बनाने के लिए एक अन्य वेदांग जो प्रत्यक्षतः सर्वाधिक सहायक व उपादेय है वह ज्योतिष है जिसमें उचित समय, ऋतु, पक्षादि की व्यवस्था है तथा जिस पर यज्ञानुष्ठान के अवसर पर प्राचीन समय से ही विचार किया जाता रहा है[4]।

ज्योतिष की एक अन्यतम शाखा जिसके संकेत प्राचीनतम ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं तथा जो आधुनिक समय में अत्यन्त विकसित हुई है वह वास्तु है। निवास अर्थ वाली वस् धातु से निष्पन्न यह शब्द आज एक शास्त्र विशेष का बोधक है जिस पर मनुष्य वास करता है। प्राचीन समय में यज्ञ में भी यज्ञोपयुक्त भूमि के चयन, उसके आकार-प्रकार व दिशादि का पूर्णतः पालन किया जाता था। यद्यपि इस संदर्भ में ब्राह्मणों व श्रौत सूत्रों में अधिक विस्तृत सामग्री का अभाव है तथापि कुछ संकेत व उद्धरण अवश्य मिलते हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि यागानुष्ठान में वास्तु ज्ञान की भी अपेक्षा थी। यथा-यज्ञावसर पर देवयजन, प्राचीन वंश शालादि का निर्माण।

---

1. श.ब्रा. 7/1/4
2. यजु. 23/11
3. (क) मुण्डू.उप. 1/1/4-5;
   (ख) आपस्तम्भ धर्मसूत्र 2/4/8;
   (ग) पा.शि. 41-42
4. वेदाङ्गज्यो. 3

देवयजन-

'देवा इज्यन्ते यस्मिन्नितिदेवयजनम्' अर्थात् वह स्थान जहाँ देवताओं के लिए यजन किया जाता है। इसे यज्ञ विहार, याग भूमि अथवा यज्ञशाला भी कहते हैं।

भूमिचयनः देवयजन स्थल समतल, दृढ़ और उपजाऊ भूमि पर होना चाहिए। इसके लिए विहित भूमि की मिट्टी खारी नहीं होनी चाहिए और न ही भूमि फटी हुई हो। खण्डहर में भी देवयजन बनाने का निषेध है[1]। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि जहाँ स्वेच्छा से शंका रहित होकर मृग विचरण करते हैं वह भूमि देवयजन के लिए उपयुक्त है[2]।

दिशा सम्बन्धी निर्देशः यह देवयजन दक्षिण में उठा हुआ तथा उत्तर में झुका हुआ होना चाहिए। वैकल्पिक रूप से पूर्व या उत्तर-पूर्व में ढ़ालू भी रखा जा सकता है[3] क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है, उत्तर मनुष्यों की दिशा है तथा दक्षिण पित्तरों की दिशा है अतः इस दिशा में ढ़ालू होने से यजमान शीघ्र पितरों को प्राप्त करेगा अर्थात् मरणशील होगा, किन्तु यदि इस दिशा में ऊंचा रखते हैं तो यजमान दीर्घायु होगा[4]। जहाँ बहुत से ब्राह्मण इसे बनाने की सलाह दें वहाँ भी इसका निर्माण करना चाहिए[5]।

यह स्थान पूर्व की ओर अधिक चौड़ा न हो क्योंकि यदि अधिक चौड़ा होगा तो अहितकारी शत्रुओं के अनुकूल होगा इसलिए उत्तर व दक्षिण में भी उतना ही हो। पश्चिम में अधिक चौड़ा यज्ञ स्थान अच्छा होता है क्योंकि इस से देवो को शीघ्रता से ही हवि प्राप्त हो जाती है[6]।

विशेष उद्देश्य से भूमिचयन[7]: स्व अभिष्ट की प्राप्ति के उद्देश्य से भी भूमि चयन का निर्देश श्रौतसूत्र में मिलता है। वैसे तो अग्नि या कल्याणकारी प्रदक्षिण जहाँ होती है वही स्थल देवयजन के अच्छा लिए माना जाता है किन्तु अभिचार कामना से ऊसर भूमि में इसके निर्माण का विधान है। शापित व्यक्ति के लिए यह ऐसे स्थल पर बनाया जाता है जहाँ से लोक या अन्य वस्तुएँ दिखाई न दें। ऋत्विज जिसे चाहे कि यह यजमान देव व मनुष्य से सम्बन्धित प्रकाश को प्राप्त करे तो उसके लिए अलग से देवयजन नहीं करना चाहिए।

---

1. सत्साषाढ़ श्रौतसूत्र 10/1/1011
2. मनु स्मृ. 2/23
3. सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र 10/1/1012; कात्या.श्रौतसूत्र 10/1/1011
2. मनु स्मृ. 2/23 7/1/12-13
4. श.ब्रा. 3/1/1/1
5. आपस्तम्भ श्रौतसूत्र 10/20/2
6. श.ब्रा. 3/1/1/3
7. आपस्तम्भ श्रौतसूत्र 10/20/6-11

प्राचीनवंशशाला-

यह यज्ञ शाला के एक कक्ष विशेष का नाम है जिसमें यजमान के परिवार के व्यक्ति और संबंधी बैठते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है पूर्व की ओर छत को थामने वाला। वस्तुतः बासो को पश्चिम से पूर्व में छा जाने के कारण ही इसका यह अभिधान है।

यह मण्डप पूर्व की ओर उठा हुआ तथा पश्चिम में ढाल वाला होता है[1]। इसको घेरने का प्रयोजन बताते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि दीक्षा लेते ही यजमान देवों के समीप आ जाता है व देवों में से एक हो जाता है। देव मनुष्यों में छिपे रहते हैं अतः जो घिरा रहता है वह छिपा भी रहता है इसलिए घेर लेते हैं[2]। इसकी चारों दिशाओं में द्वार व गवाक्ष (झरोखे) होतें हैं[3]। उत्तर-पूर्व दिशा में भी एक द्वार बनाने का विकल्प है[4]।

कामना-पूर्ति हेतु विहित दिशा[5] : स्वर्गकामी को पूर्व में, मनुष्य लोक कामी को पश्चिम में, देवलोक प्राप्ति की कामना से उत्तर में केवल एक द्वार बनाने का निर्देश श्रौतसूत्र में मिलता है तथा समस्त दिशाओं को प्राप्त करने की इच्छा से प्राचीन वंश मण्डप के उत्तर-पूर्व में पांचवा द्वार बनाने का विधान है।

इसके अतिरिक्त यज्ञ विहार में खर, उत्कर, चात्वाल, अग्नि शालाओं, हविर्धान मण्डप, महावेदि, शामित्र स्थान आदि के निर्माण से संबद्ध पर्याप्त निर्देश सूत्रादि में मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ व वास्तु परस्पर संबद्ध हैं तथा यागानुष्ठान के अवसर पर वास्तु ज्ञान की भी परमावश्यकता होती है।

---

1. आपस्तम्भ श्रौतसूत्र 10/5/1; मान.श्रौ. 2/1/1/7; कात्या.श्रौ.7/1/15
2. श.ब्रा. 3/1/1/8
3. मानव.श्रौ.2/1/1/10;आप.श्रौत्तसूत्र, 10/5/2-3
4. आपस्तम्भ श्रौतसूत्र 0/5/3
5. वही. 10/5/3

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016